प्रथम संस्करण १९७२



प्रकाशक
जीत मल्होत्रा
रचना प्रकाशन
५-ए, खुल्दाबाद
इलाहाबाद–१



मुद्रक
राधा मुद्रणालय
, भारती भवन,
इलाहाबाद–३

मूल्य : पचीस रुपये

निवेदन

प्रेमचन्द साहित्य से संवन्धित अनुसन्धान का कार्य आज अपना नयापन खो चुका है। और जब हमें प्रेमचन्द पर एक अच्छा सा ऐसा साहित्य प्राप्त है जिस पर हम अभिमान कर सकते हैं तब मेरे इस प्रवन्ध की क्या सार्थकता है, यह प्रश्न मेरे सामने भी खड़ा हुआ था और उचित होगा कि सबसे पहले इसी की सफाई दे दूँ।

मुझे ऐसा लगता रहा है कि एक विशेष प्रकार की मूल्य दृष्टि से प्रेमचन्द के साहित्य को समझने-समझाने का जो क्रम चल पड़ा है, उसके कारण प्रेमचन्द के प्रति पूरा न्याय नहीं हो पाया है।

किसी साहित्य को, किसी साहित्यकार के रचनात्मक स्तर को ठीक-ठीक पहचानने के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि उस परिवेश की निष्ठापूर्वक परख की जाय जिसमें रह कर सर्जनकर्त्ता ने रचना की है। रचना इसीलिए तो होती है कि उसके पार्श्व की सर्जन-स्थितियाँ और रचयिता की सर्जन क्षमताएँ एक रूप होकर एक अर्थ विशेष को उजागर करती हैं। समयुगीन इतिहास की जिन परिस्थितियों के बीच प्रेमचन्द के उपन्यासों की रचना हुई उनका ठीक-ठीक आकलन और फिर उनके आलोक में प्रेमचन्द के उपन्यासों के अध्ययन का कार्य मुझे निमंत्रक दीखा। मैंने इस प्रवन्ध में इसी से प्रेमचन्द के उपन्यासों को समझने के लिए उनके परिवेश को उसकी सम्पूर्णता में पहचानने की विनीत ईमानदार चेष्टा की है।

प्रेमचन्द के साहित्य की एक वड़ी विशेषता यह है कि वह अपने समय के आदमी के द्वारा लिखा हुआ अपने समय के आदमी का साहित्य है। समय को मैं यहाँ व्यापक, विराट अर्थ में ग्रहण कर रही हूँ। समय जिसमें देश होता है, जिसमें ऐति-हासिक अर्थ में स्वीकृत, अस्वीकृत निर्मित होती हुई, अथवा निर्मित हो चुकी संवेदनाएँ होती हैं। समय अर्थात् वह जो यह तय कर दे कि होते

हुए भी क्या कुछ का होना नहीं के बराबर है और नहीं होते हुए भी क्या कुछ का कुछ का हो जाना इतिहास की नियति है। इतिहास समय की नियति होता है और वह इस बात के लिए अभिशप्त है कि समकालीन दर्शन और जीवन शक्ति को पूरी तरह आयत्त कर ले। समय को इसी अर्थ में चुनना या चुन लेना किसी रचनाकार को समकालीन बनाता है, उसे समकालीन संवेदना के स्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रेमचन्द के साहित्य में समकालीनता अर्थात् प्रक्रियानिष्ठ इतिहास सामयिक चेतना से जुड़ा हुआ है। यदि सामन्त वर्ग मूल्य की दृष्टि से अस्वीकृत है तो प्रेमचन्द उसे उसी रूप में लेगें। यदि जिजीविषु साहित्य के लिए किसी अपने आदमी की पहल करना जरूरी है तो प्रेमचन्द पहल करेंगे। अगर मूल्यों की टकराहट में वर्गीय इकाइयाँ प्रत्येक स्तर पर टूटती रही हैं तो प्रेमचन्द उस सत्य को प्रतिपादित करेंगे। आकस्मिक नहीं है कि प्रेमचन्द के साहित्य में मूल्यों की टकराहट के साथ साथ मूल्यगत जिजीविषा भी पूरी ईमानदारी के साथ उभर आयी है। प्रेमचन्द यदि अपने समय की सचाई को वकालत की हद तक संपुष्ट नहीं करते, उसे अदालत में खड़ी कर कर देते हैं तो यह इसलिए कि यह खड़ा होना ही समकालीनता है। उनके सामने होरी हो या रमानाथ वह जिस रूप में है और जितना है उसी रूप में और उतना ही उनके लिए सर्ज्य है। प्रेमचन्द आदमियों के पूरे समाज को ओछेपन से मुक्ति दिलाने के लिए उसे भी खड़ा करेंगे जो ओछा है। वे ऐसा इसलिए नहीं करते कि ओछा आदमी उनका कांक्षित है। बल्कि इसलिए कि वह समय के इतिहास का आदमी है। अस्तु, प्रेमचन्द के साहित्य को समसामयिक जीवन के फलक पर ही सही-सही समझा-समझाया जा सकता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवन की धुरी धर्म या राजनीति, अर्थ या संस्कृति के किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है। लेकिन प्रमुखता और प्रबलता के बावजूद जीवन की स्वीकृत और अस्वीकृत सारी प्रक्रियाएं जीवन का निर्माण करती चलती हैं। आधुनिक युग की संक्रान्ति बहुत दूर तक राजनीति के द्वारा तय होती है और वह इतिहास को आकृत भी करती है। लेकिन धर्म, अर्थ और कभी कभी काम भी नियामक होते ही हैं। इसीलिए मैंने अपने विवेचन-विश्लेषण के क्रम में समय, इतिहास और आदमी के प्रायः सभी नियामकों को विस्तार में जाकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। संभव है कि ये सभी नियामक प्रेमचन्द के उपन्यासों में बहुत साफ-साफ प्रत्यक्ष न हो पाये हों। लेकिन रचने की जो क्रिया विभिन्न भीतरी स्तरों पर होती रहती है वह प्रेमचन्द के उपन्यासों के आदमी, मूल्य वा अर्थ से असम्पृक्त नहीं है।

यदि इस प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचित राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ प्रेमचन्द के साहित्य में मोटे तौर पर बिन्दु-बिन्दु विश्लेषित न

दिखायी पड़ें तो चौंकने की कोई जरूरत नहीं होनी चाहिए। नियामकों का विश्लेषण करने के बाद मैंने प्रेमचन्द के उपन्यासों को साहित्य की अर्थवत्ता के साथ ही ग्रहण किया है। दुनिया जो है या होती है वह साहित्य में रची जाती है। इसलिए साहित्य में दुनिया को ढूंढ़ने से बेहतर है कि उसे रचने की प्रक्रिया में खोजा जाय। इस खोज को अलग-अलग समझाने के बजाय मैंने समझने के क्रम में लिखा है। अस्तु, मेरे विश्लेषण की प्रक्रिया प्रबोधन की अपेक्षा आत्मबोध के आसपास दिखायी पड़ेगी। साफ-साफ कह देना चाहूँगी कि प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य का विश्लेषण करने के लिए मैंने रचना के समानान्तर रचना की है, आलोचना नहीं की है। सुनती हूँ, कहा जाता है कि सही आलोचना रचना के समानान्तर रचना से भिन्न और कुछ नहीं होती। यदि मेरा यह प्रबन्ध पाठकों को संश्लिष्ट और समझने की दिशा में भीतर की ओर जाता हुआ दीखे तो मुझे सन्तोष होगा। मेरा उद्देश्य प्रेमचन्द साहित्य को समझने की स्थिति या समझदारी की रचना करना या मोटे ढंग से उस पाठ-प्रक्रिया को स्थिर करना था जिससे प्रेमचन्द के उपन्यासों के सूक्ष्म तल तक पहुँचा जा सके। नहीं कह सकती कि अपने उद्देश्य में मुझे कितनी सफलता मिली है। किन्तु, इतना निश्चित है कि इस पूरे प्रबन्ध के रचना-व्यापार ने मुझे 'लीक छाँड़ि चलिबो भलो' की ओर अंगुलि-निर्देश किया था।

प्रबन्धक की रचना के लिए पुस्तकालयों, पंडित-निर्देशों और सहयोगियों की शुभ कामनाएँ लगातार मिलती रहीं। उन्हें गिना देना आसान है। लेकिन उनको अनगिन बनाये रखना ही मूझे अधिक उचित दीखता है।

वसंत पंचमी
१९७२ ई०

—सरोज प्रसाद

विषय-सूची

आमुख

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द का पदार्पण सर्वसम्मति से एक युगान्तरकारी घटना के रूप में स्वीकृत हो चुका है। वस्तुतः, हिन्दी के वे पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने एक आदर्श कलाकार की तरह समग्र भारतीय जीवन के यथार्थ चित्रण का बीड़ा उठाया था। यह ठीक है कि उनकी सहानुभूति कुछ अंशों में परम्परागत आदर्शवादी समाज-सम्बन्धों के प्रति थी और अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में वे कृत्रिम रूप से सामाजिक समस्याओं के आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत भी कर रहे थे, पर आगे चल कर उनके आदर्शवादी विचारक पर एक निरपेक्ष कलाकार की वस्तुनिष्ठा विजय प्राप्त करती गयी—इस तरह कि उनके गोदान के सम्बन्ध में एक मत यह भी चल पड़ा कि वहाँ कोई वाद नहीं है, यथार्थवाद भी नहीं, केवल यथार्थ है। वाद में तो सदा ही एक आरोप, एक आग्रह होता है, और आरोप तथा आग्रह हमेशा बाहर से होते हैं। गोदान में प्रेमचन्द यथार्थ जीते हैं, उसमें वह यथार्थ ही है जिसका अभिनय कर यथार्थवाद अपने को कृतकार्य मानता है।

प्रेमचन्द ने जिस समय साहित्य-रचना आरम्भ की, उस समय बीसवीं शताब्दी की अरुणिमा फूट चुकी थी, हमारा राष्ट्रीय जागरण घुटनों के बल रेंगता हुआ क्रांति की देहरी पर पहुँच चुका था, संपूर्ण वातावरण विक्षुब्ध हो उठा था, आन्दोलनों की बिजलियाँ कौंध रही थीं, और ऐसा मालूम पड़ने लगा था कि जैसे युगों की सुषुप्ति के पश्चात् हमारा राष्ट्र तन कर सन्नद्ध होने के लिए कमर कस रहा हो। इस समय राष्ट्र के सभी अवयवों में अनजाने एक कसावट लाने की कोशिश चल पड़ी थी, लगभग सभी क्षेत्रों में छोटी-बड़ी प्रतिभाओं के अगणित बबूले बवल उठे थे और राष्ट्र की प्रत्येक शिरा तन कर उभड़ गयी थी। सामाजिक-जीवन के इतिहास में एक ऐसा विरल संयोग अनायास उपस्थित हो गया था जबकि महान् प्रतिभाएँ प्रस्फुटित होकर सहज ही युग-जीवन और उभड़ते हुए युग-सत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके जीवन की वास्तविकता के मर्मस्थल तक पहुँच जाने और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए बेचैन हो उठी थीं।

हमारे यहाँ इस व्यापक राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलनों के माध्यम से हुई। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों पर खुल कर आक्रमण होने लगे। यह नयी घुमड़न पुरातनता के निर्मोक को एक क्षण के लिए भी सहन करने को तैयार नहीं थी, जहाँ यह निर्मोक जितना ही सघन था, वहाँ उतना ही तीव्र और अप्रतिहत प्रहार होता जा रहा था। अँग्रेजी राज का शोषण-दमन तो था ही, अकाल और महामारियों की आवृत्ति भी होने लगी थी। फलस्वरूप सामाजिक जीवन में कुछ ऐसे परिवर्तन भी स्पष्ट होने लग गये थे जिन्होंने मध्यकालीन सामंती जीवन-मूल्यों पर आघात किया था। यद्यपि ये लक्षण भारतेन्दु के समय से ही दृष्टिगोचर हो रहे थे, जिससे उन्होंने और उनके समकालीन लेखकों ने एक ओर तो समाज-सुधार की भावना से इन परिवर्तनों का स्वागत किया था, दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता की अनुकरण-वृत्ति को अपने नुकीले-तीखे व्यंगों का शिकार बनाया था, पर अब प्रेमचन्द तक आते-आते उनका विकराल दमघोंटू रूप प्रकट होने लग गया था। उन्होंने अनुभव किया कि उनके स्थान पर जो नये समाज-सम्बन्ध और जीवन-मूल्य पैदा होने लग गये थे, उनकी आत्मा अति-व्यावसायिकता और स्वार्थपरता के कारण उससे कम कलंकित नहीं थी। संयुक्त पारिवारिक जीवन की निःस्वार्थ एकता, निःस्पृह सत्यनिष्ठा, सहज शील और निरपेक्ष धर्म के स्थान पर एक ऐसी नयी सभ्यता, रहन-सहन का पंजा मजबूत होता जा रहा था जिसमें भ्रातृ-प्रेम, सामाजिक न्याय, पारिवारिक स्नेह और देशप्रेम आदि सब कुछ धन की ही तुला पर तुलने लगे थे और जिसमें छल, प्रपंच, असत्य, आडंबर और खुशामद ही उन्नति के साधन बन गये थे। पूरा का पूरा भारतीय जीवन इस पंजे के जबर्दस्त दबाव में पड़ कर चूर्ण-विचूर्ण होता चला जा रहा था। उधर नवविकसित औद्योगिक सभ्यता ने प्राचीन ग्रामीण जीवन की ऐकांतिक निश्चलता, पारिवारिक व्यवस्था और सामाजिक सौहार्द भावना को भी क्षत-विक्षत कर लहूलुहान बनाना शुरू कर दिया था और लगता था कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता समाप्त कर इस विकराल यांत्रिक सभ्यता में एक पुर्जा मात्र बन कर ही जिन्दा रह सकेगा।

राष्ट्रीय जीवन की इसी आंतरिक और बाह्य प्रक्रिया के विघूर्णन से प्रेमचन्द की उपन्यास-कला विकसित हुई। उनका कलाकार-सुलभ संवेदनशील हृदय चारों ओर फैली इस असमता, क्षुद्रता, छल-प्रपंच, लूट-खसोट और पाखंड-अन्याय को देख कर विक्षुब्ध हो उठा और सेवासदन से गोदान तक की अपनी कलात्मक यात्रा में उन्होंने और भले ही कुछ नहीं किया हो, पर भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन तथा आत्मा के विशृंखलित, कुंठित और गलित होने का निष्पक्ष इतिवृत्त तो अवश्य ही प्रस्तुत कर दिया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उपन्यासकार प्रेमचन्द की इसी कलात्मक यात्रा के महत्त्वपूर्ण मोड़ों, विरामस्थानों और विवरणों की जाँच-पड़ताल की गयी है।

हिन्दी में उपन्यास, अपने एक हाथ में कुतूहल और दूसरे हाथ में मनोरंजन लेकर ही आया था, और इसी प्रकार वह शिशु से किशोर हुआ था। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास चरित्र-चित्रण से हीन, मनोविकारों से रहित और व्यक्तित्व-प्रदर्शन से सर्वथा परे हैं। हिन्दी के तथाकथित शर्लक होम्स श्री गोपाल राम गहमरी के उपन्यास जहाँ एक ओर खत्री जी के उपन्यासों के कुतूहल-तत्त्व में थोड़ा परिष्कार लाते दिखायी पड़ते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने पात्रों को लखलखा के रहस्यलोक से उतार कर तर्क-सम्मत घटनाओं की यथार्थभूमि पर कुछ हद तक समुपस्थित करते हुए-से भी लगते हैं। खत्री जी के उपन्यास हमें अनिर्वचनीय रहस्यलोक का पर्यटन कराते हैं, गहमरी जी के उपन्यास हमें अप्रत्याशित मनःस्थितियों में डाल देते हैं। पर जहाँ तक अतिरंजित रोमांचकारी कथानकों के निर्माण का प्रश्न है—दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आगे चलकर किशोरी लाल गोस्वामी ने हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यास तो अवश्य तैयार किये, और प्रेमतत्त्व का समावेश कर हिन्दी उपन्यासों को यत्किंचित् अन्तर्मुखी बनाने का तो थोड़ा प्रयास अवश्य किया—फिर भी, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि द्विवेदी-युग के पूर्व हिन्दी उपन्यास मूलतः कुतूहल और मनोरंजन के दो शृङ्गों के बीच ही झूलते नजर आते थे—चाहे वह कुतूहल किसी ऐय्यार के प्रति हो या तिलिस्म या मनःप्रवृत्ति के प्रति, चाहे वह मनोरंजन किसी लखलखा के माध्यम से हो या जासूस या प्रेमी के माध्यम से।

इसी पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द का पदार्पण हुआ और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से एकदम ऊपर उठ कर अपने उपन्यासों में विशाल जनजीवन, विशेष रूप से उत्तर भारत के मध्यवर्ग और किसान का जीवन और उनकी बहुमुखी समस्याओं को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करना शुरू किया। उन्होंने पाठकों के मनोरंजन के लिए या स्त्रियों और पुरुषों की वासना तथा प्रेम की समस्यावाली कहानियों के प्रति उत्पन्न जिज्ञासा के शान्त करने के लिए अपने कथा-साहित्य की रचना नहीं की। कला के सम्बन्ध में उनकी भावना बड़ी ऊँची थी। वे अपनी कलम को उस मजदूर का फावड़ा[1] समझते थे जो मनोरंजन के लिए तो कभी भी नहीं, सदैव किसी न किसी जीवनगत उपलब्धि के उद्देश्य से ही उठा करता है। ये साहित्य-सेवा को पूरी तपस्या[2] मानते थे और उनकी धारणा थी—"साहित्यकार मानवता, दिव्यता

१. प्रेमचन्द : घर में, पृष्ठ १२१

२. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृष्ठ १०६

और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है, उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है।[1] यही कारण है कि वे साहित्य को शीरी-फरहाद की प्रेमगाथा या रामकृष्ण की यशोगाथा तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे—वे उसे जीवन की सच्ची आलोचना और काल का प्रतिबिम्ब मानते थे।[2] उनका प्राथमिक उद्देश्य उस जीवन का क्रमिक विकास प्रदर्शित करना था जिसे वे जी रहे थे।

किसी ने ठीक ही बताया है—साहित्य समाज की सर्वाधिक सशक्त और संपूर्ण अभिव्यक्ति होता है। प्रत्येक साहित्य का अपने समाज के भूत और वर्तमान से बड़ा ही गहरा सम्बन्ध होता है, और साहित्यकार इन्हीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्धों के आधार पर अपने पाठक को अपने समकालीन सत्य, अतीतकालीन संस्कार और संभवनीय भवितव्य से परिचित कराता है। इसलिए, ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि साहित्य अपने व्यापक अर्थ में समाज के मूक इतिहास का मुखर सहोदर भाई है। वह अत्यधिक संश्लिष्ट रूप में अपने समाज का पूरा इतिवृत्त सवाक् चित्रों के माध्यम से उपस्थित कर देता है। वह अपने समाज के समस्त कर्म, भाव और ज्ञान योग से युक्त युगानुरूप सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आवर्तों से संयुक्त, एक क्रमबद्ध और सुनियोजित प्रकाशन बन जाता है। वह जीवन को खंड-खंड करके नहीं देखता क्योंकि उसकी चेतना संश्लेषणात्मक होती है। इस प्रकार उसमें समाज का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो जाता है और उसके माध्यम से राजनैतिक आन्दोलन, धार्मिक ऊहापोह, दार्शनिक उड़ान, अभिव्यंजना-प्रणालियाँ—यानी, युग की समस्त शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। साहित्य यदि जीवन की आलोचना है तो जीवन हमारे सभी भावों, विचारों और व्यापारों का संगठित स्वरूप है। अतएव, साहित्य, मूलतः साहित्यकार की समसामयिक परिस्थितियों का ही प्रतिफल होता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में प्रेमचन्द के युग की राजनीतिक परिस्थितियों की शिराओं का विश्लेषण किया गया है, क्योंकि समाज के समस्त बाह्य कार्य-कलाप राजनीति में ही प्रतिपलित होते हैं। प्रेमचन्द-युग की राजनीति का बहुत ही गहरा सम्बन्ध १६ वीं शती की उस राजनीतिक जाग्रति से है जिसके निर्माण में ब्रिटिश शासन, ईसाई मिशनरी, मध्यवर्गीय चेतना और भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस का बड़ा हाथ रहा है। सन् १६०५ के रूस-जापान युद्ध और बंग-भंग आन्दोलन से राष्ट्र

१. साहित्य का उद्देश्य—प्रगतिशील लेखक संघ भाषण
२. साहित्य का उद्देश्य : प्रगतिशील लेखक संघ भाषण

में जो एक नयी चेतना सुगबुगा उठी थी उसको प्रश्रय देने के लिए किन-किन स्वदेशी-विदेशी शक्तियों द्वारा कैसे-कैसे प्रयत्न किये गये तथा उस पर पानी उड़ेल देने के लिए विदेशी सत्ता ने कौन-कौन से कार्य किये—इन बातों का लेखा-जोखा किंचित् विस्तार में प्रस्तुत किया गया है। पुनः सन् १६१४ के प्रथम महायुद्ध की कौन-कौन सी स्वदेशी परिणतियाँ हुईं, गांधी जी के असहयोग-आन्दोलन का क्या परिणाम हुआ, सत्ता का दमन-चक्र किस रूप में चला—इन सबका विस्तृत विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में प्रेमचन्द के युग के धार्मिक परिवेश को उपस्थित किया गया है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय भारतीयों की, विशेषकर हिन्दुओं की धार्मिक स्थिति का वर्णन पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत करना मैंने इसलिए आवश्यक समझा है कि धर्म एक सुचिन्तित परम्परा के रूप में ही हमारे यहाँ कार्य करता रहा है। और नव प्रभात की प्रथम रश्मि कतिपय विशिष्ट कारणों से धार्मिक विश्वासों के ही प्रांगण में छिटकी। १६ वीं शती में भारत में और विशेषकर गुजरात, बंगाल और महाराष्ट्र में जिस वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था और जिसका फल ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज और आर्य-समाज जैसे सुधार आन्दोलनों के रूप में प्रेमचंद के युग में आकर दिखायी पड़ने लगा, उसका पूर्ण विवरण दिए बिना हम प्रेमचंद के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यासों की व्याख्या करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। अस्तु, इस अध्याय में मैंने १६ वीं शती में हिन्दूधर्म की जो स्थिति थी उसका संक्षेप में विहंगा-वलोकन करने की चेष्टा की है।

शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में उन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की परस्पर उलझी हुई शिराओं को सुलझाने का मैंने उपक्रम किया है जिनके चलते प्रेमचन्द-युगीन समाज की अनेक प्रचलित प्रथाएँ टूटीं और बनीं। इन परिस्थितियों का बड़ा ही गहरा सम्बन्ध रूढ़ियों और गतानुगतिकता से रहा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और संकीर्णताओं के ऊपर यत्र-तत्र-सर्वत्र कशाघात किया गया है। इसलिए मैंने यह उचित समझा कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के इस आल-जाल की ओर इंगित किया जाये अन्यथा प्रेमचन्द के कई उपन्यासों के अस्पष्ट रह जाने का मुझे खतरा दीखा था।

पंचम अध्याय में देश की आर्थिक परिस्थितियों के ताने-बाने को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। अंग्रेजों के शासन का इतिहास भारतवर्ष के आर्थिक शोषण की दुखद कहानी है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस शोषण के सम्बन्ध में जो विद्रोह है उसने मुझे प्रेरित किया कि मैं आलोच्य काल में बरती जाने वाली सरकारी आर्थिक नीति का अध्ययन करूँ। मैंने इस अध्ययन के क्रम में यह देखा कि भारत की आर्थिक समुन्नति

के विषय में या तो ब्रिटिश सरकार निरपेक्ष थी अथवा ब्रिटिश-हितों की संरक्षा के हेतु उसके विरुद्ध आचरण करती थी। मैंने यह भी देखा कि सरकार की इस नीति का राष्ट्र के जागरित-पौरुष ने कितना विरोध किया है और अपने देश की स्वतंत्र आर्थिक-नीति के निर्धारण पर बल दिया है।

षष्ठ अध्याय में प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों के प्रतिफलन का मैंने अन्वेषण किया है। वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि और गोदान शीर्षक प्रेमचन्द के उपन्यासों में देश की राजनीति के भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत हुए हैं। मैंने इन उपन्यासों का उनकी रचना के समय-क्रम से अध्ययन किया है और यह देखा है कि आलोच्य काल के राजनीतिक जीवन का प्रायः प्रत्येक स्पन्दन प्रेमचन्द के इन उपन्यासों में विद्यमान है। यहाँ मैं यह निवेदन कर देना चाहती हूँ कि प्रेमचन्द के भिन्न-भिन्न उपन्यासों का रचना-काल मैंने वही स्वीकार किया है जिसका संकेत श्री अमृत राय ने कलम का सिपाही में किया है। वरदान का हिन्दी में प्रकाशन सन् १९२१ में हुआ है, किन्तु मैंने उसे प्रेमचन्द की सन् १९०५-१२ की रचना माना है। यह इसलिए कि जिस जलवए-ईसार की रचना सन् १९०५-१२ के मध्य हुई वही वरदान के नाम से बिना किसी परिवर्तन-परिवर्द्धन के हिन्दी में सन् १९११ में आया। प्रेमचन्द का प्रतिज्ञा नामक उपन्यास भी एक ऐसा उपन्यास है जो पहले 'हम खुमी' व 'हम सवाब' के नाम से उर्दू में प्रकाशित हो चुका था। उर्दू की इस रचना का संशोधित और परिवर्द्धित रूप प्रतिज्ञा हुआ। यदि हम खुमी व हम सवाब शीर्षक उपन्यास अपरिवर्तित स्थिति में हिन्दी में आता तो मैंने उसका विचार उसी कालावधि-क्रम में किया होता जिसमें उसकी रचना हुई। मैंने यह अनुभव किया है कि प्रेमचन्द के इन उपन्यासों का उनके रचना-काल की राजनीतिक परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में यदि अध्ययन किया जाय तो प्रेमचन्द के इन उपन्यासों के प्रति हम अधिक न्याय कर सकेंगे। इस अध्याय में मैंने इस विषय में एक विनीत प्रयास किया है।

सप्तम अध्याय में प्रेमचन्द-युग की समसामयिक धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उनके वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, कर्मभूमि और गोदान शीर्षक उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्रेमचन्द १९वीं शती की वैचारिक क्रान्ति से प्रभाव ग्रहण कर देश और समाज का नव संस्कार करना चाहते थे। प्रेमचन्द ने यह अनुभव किया था कि हमारी धर्म-संस्था का जो रूप उनके युग में प्रचलित था वह ऐसा कुछ नहीं था जो हममें प्रेरणा भर सके। दूसरी ओर धर्म शोषण-चक्र का अविभाज्य अंग बन गया था। प्रेमचन्द ने

अपने उपन्यासों में धर्म के लोक-प्रचलित रूप का विरोध कर उसके मर्म का उद्घाटन जिन उपन्यासों में किया है उनका मैंने इस अध्याय में अध्ययन किया है।

अष्टम अध्याय में सामाजिक जीवन की उन कतिपय समस्याओं का अध्ययन किया है जिन्होंने हिन्दू समाज को विकृत और फलतः दुर्बल कर रखा था। प्रेमचन्द के सामने सामाजिक जीवन की जो समस्याएँ मुँह बाये खड़ी थीं वे कुछ उनके ही जमाने में खड़ी नहीं हो गयी थीं। वे हमारे सामाजिक जीवन का अभिशाप हैं। १९वीं शती के सुधार आन्दोलन के युग से ही उनपर प्रहार किया जा रहा था। प्रेमचन्द ने उन समस्याओं में से जिन समस्याओं को प्रमुख समझा था उनकी प्रस्तुति उन्होंने अपने भिन्न-भिन्न सामाजिक उपन्यासों में की थी। मैंने उन उपन्यासों के प्रमाण पर दहेज-समस्या, विधवा-समस्या और वेश्या-समस्या के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की दृष्टि को स्पष्ट करने की चेष्टा इस अध्याय में की है। यहीं मध्यवर्ग की उन समस्याओं का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है जिनके परिप्रेक्ष्य में ही इस मध्यवर्ग का सच्चे अर्थ में अध्ययन किया जा सकता है। प्रेमचन्द के युग में नारी-समाज में जागरण की एक लहर आयी थी। उस लहर के सम्बन्ध में प्रेमचंद की निश्चित राय है। मैंने उसे भी पहचानने की चेष्टा की है।

नवम् अध्याय में प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामयिक आर्थिक परिस्थितियों की प्रस्तुति का आकलन किया गया है। वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान का अध्ययन यह बताता है कि प्रेमचंद की सजग-दृष्टि देश के आर्थिक शोषण की ओर भी थी। वे अपने देश का आर्थिक उन्नयन करना चाहते थे। लेकिन इस विषय में अनेकानेक बाधाएँ थीं। सबसे बड़ी बाधा तो यही थी कि देश गुलाम था। गुलामी की इस व्यथा का अनुभव प्रेमचंद को प्रतिक्षण होता था। उनके कतिपय उपन्यासों का इस दृष्टि से मैंने इस अध्याय के अन्तर्गत विचार किया है।

दशम् अध्याय में निष्कर्ष और समापन प्रस्तुत है।

अन्त में आकर साहित्य-सूची दे दी गयी है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारतवर्ष के इतिहास में १६ वीं शती के उस वैचारिक आन्दोलन का अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है जिसने प्राचीन भारत के आचार-विचार, उसकी धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक दृष्टि को नया आयाम दे दिया था। इस देश में मुगलों के शासन के अन्तिम दिनों में भिन्न-भिन्न देशों से आने वाले यूरोपियनों से भारत का जैसे-जैसे परिचय बढ़ता गया वैसे ही वैसे भारत को ऐसा अनुभव होता गया कि संसार प्रगति के जिस निस्सीम पथ पर बढ़ रहा है उसका उसे पता भी नहीं है। भारत के विचारक अब यह अनुभव करने लगे कि इस देश के लोगों को भी कूपमंडूकता से निकल कर ज्ञान-विज्ञान के नये क्षितिज की ओर आँख उठाकर देखना चाहिए। इस प्रेरणा ने जिस अभिनव जाग्रति-आन्दोलन को जन्म दिया उसके अत्यन्त विशिष्ट नेता राजा राममोहन राय हुए। उन्हें इस आन्दोलन का अग्रदूत कहा गया है।[1]

राजा राममोहन राय यह जानते थे कि भारत एक अत्यन्त प्राचीन देश है और संस्कृति, साहित्य, ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से उसका अतीत गौरवपूर्ण है। वह यह भी जानते थे कि भारतीय जनता अपने प्राचीन संस्कारों को सहज ही छोड़ने वाली नहीं है। अपने अतीत के प्रति उसे एक विलक्षण मोह है। दूसरी ओर राजा राममोहन राय यह भी देख रहे थे कि पश्चिम में ज्ञान का जो नया सूर्य उदित हुआ है उसके आलोक से वंचित रह कर कोई जाति जीवन-संघर्ष में टिक नहीं सकती।[2]

---

1. The greatest glory that Raja Ram Mohan Roy's name has acquired in history is his being called the 'Father of Modern Indian Renaissance.'—Raja Ram Mohan Roy And Progressive Movements In India; Jatindra Kumar Majumdar, Art Press Calcutta, Preface, Page V.
2. He realised that the new and enlightened ideas and ideals of the awakened west had the needed potency of making the life of his countrymen richer and fuller.—Ibid. P. V.

इसीलिए जागरण के अग्रदूत भारतीय नेताओं ने यह प्रयत्न किया कि भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य विज्ञान दोनों का सामंजस्य किया जाय।

पश्चिम में बहुत पहले ही वैचारिक आन्दोलन आ चुका था और उसने यूरोप में एक नया ही युग दिया, एक नई ही सभ्यता दी। पश्चिम के इस नव जागरण ने जिन नवोदित राष्ट्रों को विश्व के रंगमंच पर उपस्थित किया, उनमें सबसे अधिक महिमाशाली ब्रिटेन हुआ।[1] इस 'परम उन्नत' अंग्रेज जाति से भारतीयों का जब सम्बन्ध हुआ तब यह स्वाभाविक ही था कि इस देश के जागरूक व्यक्तियों को अपने पिछड़ेपन पर परिताप होता।[2] १६ वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में यह परिताप अत्यन्त मुखर होकर उपस्थित है।

अवध के नवाब से दीवानी का अधिकार प्राप्त करने वाली ईस्ट इण्डिया-कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों से भारत का आगे चलकर जब परिचय हुआ तब एक प्रकार की निराशा भी उसे हुई। कम्पनी के साहबों को किसी नवीन चेतना का अग्रदूत मानते उसे बना नहीं। कम्पनी का शासन भारत के कल्याण के निमित्त नहीं चलाया जा रहा था और यही कारण था कि भारत की उसके प्रति निराशा ने सशक्त विद्रोह का रूप ले लिया। सन् १८५७ में इसी विद्रोह का विस्फोट हुआ। अंग्रेज इतिहासकार इसे 'सिपाही-विद्रोह' कहते हैं। किन्तु, वस्तुतः यह था भारतीय-स्वातंत्र्य-आन्दोलन का प्रथम सिंहनाद। कम्पनी की प्रबल सामरिक शक्ति के आगे सन् १८५७ का यह आन्दोलन विफल हो गया।

सन् १८५३ में जब कम्पनी के अधिकार-पत्र की अवधि के बढ़ाने का प्रस्ताव साधारण सभा (House of Commons) में उपस्थित हुआ तब इस कम्पनी के कटु आलोचक दूरदेशी ब्राइट ने कहा था कि कम्पनी के शासन में भ्रष्टाचार है, अव्यवस्था है और उसने भारत की जनता की विपन्नता एवं दयनीयता को बहुत बढ़ा

---

1. This new awakening in the west had brought the British Nation to the fore'ront of civilization by their being imbued with a new idealism...............B. P. I. R. Introduction, Page XVII.

2. The Western mind after a long stagnation had broken off its shackles to new meanings and ideals,-in the face-of which the extant Hindu ideas and ideals appeared to be grossly mediaevalistic and retrogressive.—Ibid.

दिया है।[1] सन् १८५७ की क्रान्ति ने यह सिद्ध किया कि ब्राइट के आक्षेप में कुछ सार है। सन् १८५७ के युद्ध का सबसे बड़ा लाभ भारत को यही हुआ कि अंग्रेज जनता ने यह समझा कि कम्पनी के शासन में अनेक प्रकार की बुराइयाँ हैं और इतने बड़े देश का शासन-भार सनद पाई हुई किसी कम्पनी के जिम्मे नहीं छोड़ा जा सकता है। विद्रोह की अग्नि के शमित होने के तुरत ही बाद रानी विक्टोरिया ने सन् १८५८ में भारत का शासन-भार ग्रहण कर लेने की घोषणा की। भारतीय जनता ने, जो डलहौजी के शासन के अनाचार से परिचित थी, इस शासन-परिवर्तन को उत्सुकता के साथ देखा।

१ नवम्बर सन् १८५८ को रानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया और उसमें ब्रिटेन के शासन ने भारतीय जनता को यह आश्वासन दिया कि नई शासन-व्यवस्था उदारता और धार्मिक सहिष्णुता की नीति लेकर चलेगी। भारत की जनता के हृदय में सदा से अपने शासक के प्रति एक विलक्षण प्रकार की भक्ति रही है। रानी विक्टोरिया को, उदार शासन-व्यवस्था का आश्वासन देते देख कर भारत की जनता की वही राज-भक्ति रानी के प्रति उमड़ पड़ी और भारत में वह मातः राजराजेश्वरी के सम्बोधन से अविहित हुई। रानी के घोषणा-पत्र ने ईस्टइंडिया-कम्पनी के कुशासन का जो अन्त किया उसके कारण भी यह सर्वथा स्वाभाविक था कि भारतीय जनता में सन् १८५७ के आन्दोलन के विफल होने के बाद भी एक प्रकार का उच्छाह पैदा हो। देश में इस प्रकार एक नवीन आशा का संचार हुआ।

इतिहास का यह एक अजीब अचम्भा-सा है कि भारत की यही राजभक्त प्रजा राजद्रोही, विप्लवकारी और अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश करने वाली बन गई। भारतीय इतिहास की इस विलक्षणता का निर्देश किये बिना १९वीं और २०वीं शताब्दी की किसी भी साहित्यिक चेतना अथवा धारा को सम्यक् रूप से हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। अस्तु, हम नीचे के अंश में भारतीय इतिहास की इन मुख्य घटनाओं का स्मरण कर लेना चाहेंगे जिन्होंने इन दो शताब्दियों में भारतीय जन-मानस के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से भाग लिया है।

जे० एन० फर्कहार ने १९वीं शताब्दी में होने वाले भारतीय नवजागरण की प्रेरणा के रूप में निम्नलिखित तीन तथ्यों का नामोल्लेख किया है[2]:—

(१) ब्रिटिश सरकार

१. दी इण्डियन स्ट्रगल—सुभाषचन्द्र बोस—नेताजी पब्लिकेशन सोसायटी, पृ० २३।
२. मार्डन रिलिजियस मूवमेन्ट्स इन इण्डिया—जे० एन० फर्कहार, पृ० ५-६।

(२) ईसाई मिशनरी
(३) भारत के महान् पौरस्त्य विद्वान (जिन्हें उन्होंने ग्रेट ओरिएन्टलिस्ट कहा है)।

फर्कहार के इस मत को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु हम ऐसा अनुभव करते हैं कि भारतीय नव-जागरण की प्रेरणा, यदि एकांगी-रूप से नहीं भी, तो मुख्य रूप से, देश को उन महान् विचारकों और क्रान्ति-दूतों से प्राप्त हुई जिसकी चर्चा फर्कहार की सूची में सबसे अन्त में हुई है। यह इस-लिए कि ब्रिटिश-शासन सच्चे अर्थ में देश की भावना को संस्पर्श करने का अवसर १ नवम्बर सन् १८५८ के पहले शायद ही पा सका था। ईसाई मिशनरियों का प्रचार-कार्य भी सन् १८१३ के पहले बहुत प्रभावकारी नहीं था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासकों की ईसाई-धर्म के प्रचार के प्रति कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी। अवध के नवाब की दीवानी प्राप्त यह कम्पनी उत्तराधिकारी शासन के रूप में हिन्दू और मुसलमान धर्म संस्थाओं के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर रही थी। १८वीं शती के अन्त तक कम्पनी की सरकार ने ईसाई धर्म का प्रचार करना राजनीतिक दृष्टि से गलत समझा और ईसाई मिशनरियों को राजकीय संरक्षण नहीं दिया। सन् १८१३ में इंगलैन्ड में इस बात के लिए कम्पनी की आलोचना के परिणाम-स्वरूप सन् १८१३ का विलमफोर्स ऐक्ट बना। अस्तु, स्पष्ट है कि सन् १८१३ के पहले ईसाई मिशनरियों को भारत में खुल कर प्रचार करने की सुविधा भी नहीं थी।

जिन राजा राममोहन राय को नवयुग की चेतना का अग्रदूत कहा गया है उनका आविर्भाव-काल है—सन् १७७२-१८३३। भारत के इस नवयुग का इतिहास राजा राममोहन राय की सृष्टि है और इसी से यह सर्वथा उचित होगा कि हम उनके विषय में थोड़ा विचार कर लें।

राजा राममोहन राय के सम्बन्ध में 'सिन्ध आब्जर्वर' करांची ने लिखा कि आधुनिक युग में शिक्षा, समाज, धर्म अथवा राजनीति जिस क्षेत्र का विचार कीजिए राजा राममोहन राय उसके प्रेरणा-स्तम्भ सिद्ध होंगे और इस अर्थ में आधुनिक भारत के सभी सुधारक उनके मानस-पुत्र हैं।[1]

---

1. All modern reform movements—educational, religious and political have emanated form him and all Indian reformers of the present day are spiritually his children.—Sindha Observer–Ram Mohan Roy–Quarterly, No. dt. 27-9-1933.

राजा राममोहन राय के हृदय में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के नेताओं के प्रति बड़ी श्रद्धा-भावना थी। कहा गया है कि वे अपने जीवन के अन्तिम समय में (सन् १८३० में) जब इंगलैन्ड की यात्रा के क्रम में कैप ऑफ गुड होप पहुँचे और वहाँ उन्होंने फ्रान्स के झंडे को किसी फ्रांसीसी जहाज पर लहराते हुए देखा तो बरबस मुँह से झन्डे के प्रति जयध्वनि निकल पड़ी और वे उस फ्रांसीसी जहाज पर जाने का आग्रह करने लगे।[1] कहना नहीं होगा कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने केवल पश्चिम के जन-मानस को ही आन्दोलित नहीं किया था बल्कि उसने सुदूर पूर्व के गुलाम देशों में भी क्रान्ति की चेतना फैलाई थी। स्पेन में जब उत्तरदायी वैधानिक शासन-व्यवस्था कायम हुई तब इन्हीं राजा साहब ने उत्साहित होकर कलकत्ते के टाउन हाल में एक भारी भोज दिया था।[2] स्पष्ट है, राजा साहब के हृदय में वही अग्नि प्रज्वलित थी, जिसका परिणाम यूरोप में फ्रांसीसी क्रान्ति के रूप में देखा गया। राजा राममोहन राय सच्चे अर्थ में भारतीय होने पर भी, न तो पाश्चात्य-संस्कृति के विरोधी थे और न अँग्रेजों के शासन के।[3] लेकिन राजा साहब व्यक्तिगत-स्वातंत्र्य के प्रबल पक्षधर थे। वे ऐसा समझते थे कि संसार में यदि कहीं भी मनुष्य जाति परतंत्र है तो दूसरों की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। राजा साहब यह समझते थे कि स्वतंत्रता मानव जाति का जन्मसिद्ध अधिकार है। राजा साहब को अमेरिका की स्वाधीनता के इतिहास से भी बड़ी प्रेरणा मिली थी और वे स्वाधीन अमेरिकी जाति के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने कभी कहा था कि यदि भारत में सुधार के उनके प्रयत्न व्यर्थ जायेंगे तो वे ब्रिटिश साम्राज्य से हट कर स्वाधीन अमेरिका के किसी कोने में जा बसेंगे। इंगलैण्ड में, जब सन् १८३३ में स्वीकृत होने वाले चार्टर ऐक्ट की चर्चा चली तब राजा साहब भारत का विचार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इंगलैण्ड गये। वहाँ उन्होंने ब्रिटिश जनता के आगे भारत की मांग प्रस्तुत की। उनकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि शासन के उच्चतम पदों पर योग्यतानुसार प्रतिष्ठित होने का भारतीयों को पूर्ण अधिकार हो। भारत में वे ऊँचे पद ब्रिटेन निवासियों के लिए सुरक्षित रखे गये थे। स्वतंत्रता और समता के आकांक्षी राजा साहब को यह विषमता

1. History of the Congrerss–Part I, P. 10 (Hindi Publication).
2. British Paramountcy and Indian Renaissance—
   Part II, P. 434.
3. The Raja considered the British rule in India as a good thing. Social Background of Indian Nationlism—A. R. Desai. P. 254.

और असमानता स्वीकार नहीं होती थी। क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत स्वयं भारत में भारतीयों के अधिकार सीमित हो जाते थे। राजा साहब ने इंगलैण्ड में जो कुछ किया था उसकी प्रशस्ति गाते हुए रसिकचन्द्र मलिक ने टाउन हाल, कलकत्ता में आयोजित एक सभा में ५ अप्रैल सन् १८३४ को यह स्वीकार किया था कि सन् १८३३ का चार्टर ऐक्ट, यदि किसी अर्थ में आकर्षक हो सका था तो उसका श्रेय राजा साहब को प्राप्त है।[1]

यहाँ ध्यान देने की एक बात यह है कि राजा राममोहन राय की चेतना मध्य वर्गीय चेतना थी। उस युग के मध्य वर्ग की आशा-आकांक्षा, हर्ष-विषाद, शक्ति और सीमा के बड़े सशक्त निर्देशक राजा साहब थे। आगे चलकर यही मध्यवर्ग, भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन का उद्घोषक बन गया।

रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के प्रकाशन के बाद भारत का शासन-सूत्र प्रत्यक्ष रूप से महारानी के हाथ आ तो गया लेकिन महारानी तो सात समुद्र पार रहती थीं। इस देश में उनके प्रतिनिधि रूप में जो लोग रहते थे वे ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के पोषण के लिए नियुक्त थे और उनका उद्देश्य भारत में किसी प्रकार के कल्याण राज्य की स्थापना करना नहीं था। रानी विक्टोरिया से बड़ी आशा-आकांक्षा रखने वाली भारतीय जनता ने अत्यन्त दुःख के साथ यह अनुभव किया कि अंग्रेज-शासक विशुद्ध साम्राज्यलिप्सु हैं। जनतंत्र और प्रजा के जिन अधिकारों के लिए वे स्वयं अपने देश में संघर्ष करते रहे हैं उन्हें वे अपनी भौगोलिक-सीमा के बाहर होते ही भूल जाते हैं। इतिहास की गवाही है कि ब्रिटेन के साम्राज्यवाद और ब्रिटिश पूँजीवाद को फूलने-फलने का सबसे अधिक अवसर रानी विक्टोरिया के शासन-काल में ही प्राप्त हुआ। यह सत्य है कि भारत का सामन्तवाद सन् १८५७ के बाद विनष्ट हो गया और अगले २० वर्षों तक ब्रिटिश जाति भारत में निर्विघ्न शासन करने की स्थिति में आ गयी। भारतीय-प्रजा ब्रिटिश शासन को अपरिहार्य मानकर स्वीकार कर चुकी थी तथापि, यह भी इतना ही सत्य है कि भारत में निराशा की एक बड़ी लहर फैल रही थी। अँग्रेजी शासन जन-सामान्य के जीवन को समुन्नत बनाने में असफल सिद्ध हो ही गया था। उससे भी बड़ी बात यह थी कि भारतीय जनता को जो, थोड़ी-बहुत, राजनैतिक सुविधाएँ पहले प्राप्त थीं वे भी एक के बाद दूसरी छिनती जा रही थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आदि-संस्थापक मि० ह्यूम ने बड़ी ईमानदारी के साथ तत्कालीन दयनीय परिस्थितियों का सर आकलैन्ड कोलविन के नाम अपने पत्र में

---

1. British Paramountcy and Indian Renaissence—Part II, P. 438.

दिग्दर्शन कराया है। अँग्रेजों ने भारत में कल्याण-राज्य के वदले में पुलिस-राज्य खड़ा किया, इससे पुलिस का दवदवा स्वभावतः वढ़ा। अवाध अधिकार से अनाचार को निमंत्रण मिलता है। इसी कारण भारत की पुलिस ज्यादती करती गई और देश के सामने एक बड़ी समस्या के रूप में उपस्थित हुई। जन-तांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों का सजग प्रहरी न्याय-शासन होता है। एक तो भारतीय जनता को राजनैतिक अधिकार ही प्राप्त नहीं थे; दूसरे न्याय की व्यवस्था इतनी मँहगी थी और इतना समय लेने वाली थी कि उसका कोई वास्तविक लाभ जनता को नहीं मिल पा रहा था। इसी आलोच्य काल में भारत की जनता की प्रेस सम्बन्धी स्वाधीनता छिनी गयी। सभा करने के अधिकार से उसे वंचित किया गया और शासन ने सदा नवीन सुधारों का पूरे वल के साथ विरोध किया।[1]

पुलिस के दमन-कार्य और सरकार के प्रतिगामी कानूनों के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि सारे देश के सुधी-समाज के बीच प्रज्वलित होने लगी।[2] काँग्रेस के इतिहास के प्रमाण पर यह विदित है कि मिस्टर ह्यूम के हाथ में ऐसी रिपोर्टों की सात जिल्दें थीं जिनसे पता चलता था कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में विद्रोह का भाव फैलने लगा था। सिपाही-विद्रोह के लिए अँग्रेजों की दृष्टि में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक उत्तरदायी थे।[3] संदेह, शंका का ऐसा वातावरण वन गया था कि छोटी-छोटी घटनाएँ भी वड़ी-वड़ी सम्भावनाएँ रखने लगी थीं। सन् १८५९ में पंजाब में राजद्रोह फैलाने के अपराध में एक फकीर को फांसी की सजा दी गई थी। इस घटना की शिक्षा-सेवा के मुसलमान सदस्यों पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि उन्होंने यह सोचना आरम्भ किया कि जिस सरकार का ऐसा रुख हो उसकी सेवा में रहना निरर्थक है। इसी सिलसिले में हमारा ध्यान 'वहाबी आन्दोलन' की ओर जाता है। नेविल चेम्बरलेन ने यह शिकायत की थी कि वहाबी विदेशों में अँग्रेज सरकार के विरुद्ध कुचक्र रच रहे हैं। हम ऐसी ही एक दूसरी घटना का भी स्मरण कर सकते हैं। सन् १८७१ में जब भारी संख्या में

1. History of the Congress–Part I, Page 6 (Hindi Publication).
2. There had always been under currents of disaffection....it would have been very extraordinary had thare not—A Sketch of the History of India (From 1858 to 1918); Henry Dodwell, P. 251.
3. A large proportion of the Muslim than of the Hindus Govt. servants had elected to join the cause of Mutineers, and the former were looked on with suspicion—A Sketch of History of India, Henry Dodwell, P. St. 251–2

वहावियों पर पटना में मुकदमे चल रहे थे, उन मुकदमों का विचार करने वाले न्यायाधीश की ही हत्या कर दी गई। जानकारों ने यह भी सुझाया है कि लार्ड मेयो की हत्या में भी इन्हीं वहावियों का हाथ था।[1]

वहावियों के अतिरिक्त पूना के महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने भी तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के आगे वाधाएँ खड़ी कीं। सन् १८७६ में दक्षिण में डकैतियों का एक सिलसिला ही खड़ा हो गया। दक्षिण के इस आन्दोलन के नेता ने सरकार के विरुद्ध घोषणाएँ जारी कीं। इस आन्दोलन को अँग्रेज सरकार छः सप्ताह तक न दवा सकी थी। लार्ड मेयो के शासन-काल में मुसलमानों को अपने पक्ष में ले आने का प्रयास सरकार ने किया। उर्दू, फारसी और अरवी की शिक्षा को विशेष सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ और मुसलमान छात्रों को राज्य की ओर से वृत्तियाँ भी मिलीं। लेकिन इन वातों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह लार्ड मेयो की वहावियों के हाथों हत्या से स्पष्ट ही है।

हेनरी डाडवेल ने यह स्वीकार किया है कि इन आन्दोलनों का उद्देश्य पश्चिमियों को भारत से निकालना था।[2] महाराष्ट्र में जो आन्दोलन हुआ उससे अँग्रेज शासक कितना डर गये थे—उसका पता वार्तले फ्रेरे के कैनिंग के नाम इस पत्र से चलता है, जिसमें उसने लिखा था कि जव अँग्रेज यूरोप में किसी युद्ध में लगे होंगे अथवा अमेरिका में लड़ रहे होंगे उसी समय भारत में विन्ध्य पर्वत और तौचुन्द्र के वीच विद्रोह की आग कहीं भड़क उठेगी।[3]

स्पष्ट है कि सन् १८५७ के विद्रोह के वाद भारत में श्मशान की भी शान्ति नहीं आ गई थी।

जैसे-जैसे अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार वढ़ता जा रहा था वैसे ही वैसे देश में जागरण फैलता जा रहा था। भारत के वंगाल, वम्वई, मद्रास और महाराष्ट्र जैसे वड़े-वड़े प्रान्तों में इस वात की भी आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था कि भारतीयों का अपना संगठन हो। 'नेशनल कांफ्रेन्स' और 'राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना

1. Lord Mayo's murder in 1873 was believed by many to be unconnected with the Wahabi agitation–A.S. H. India; P. 253.
2. These and one or two other efforts were all of much the same kind–essentially of the old India to expel the western intruders.–A Sketch of the History of India; P. 254.

३. वही, पृ० २५३-४

के बहुत पहले इन प्रान्तों में संगठन कार्य करने के लिए संस्थाएँ बन चुकी थीं। ऐसी संस्थाओं में कुछ का उल्लेख कांग्रेस का इतिहास में हुआ है।[1] बंगाल के 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन', 'बम्बई एसोसियेशन' और महाराष्ट्र में पूना की 'सार्वजनिक सभा' तथा इन संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्ताओं का यथा डा० राजेन्द्र लाल मित्र, राम गोपाल घोष, सर्वमंगल दास नाथू भाई, श्री नौरोजी फरून्द जी, दादा भाई नौरोजी, जगन्नाथ शंकर, शेठ एम० वीर राघवाचार्य, एन सुब्बाराव जी, सुब्रह्मण्य अइयर का पुण्य स्मरण करके राष्ट्रीय आन्दोलन के पीछे उनकी प्रेरणा को अंगीकार किया ही जाता है। इन संस्थाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बंगाल का इण्डियन एसोसियेशन हुआ. जिसकी स्थापना सन् १८७६ में हुई और उसके प्रेरणा-स्तम्भ हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी। हिन्दू कालेज में पढ़ने वाले लोगों ने अराष्ट्रीयता का जो प्रचार करना आरम्भ किया था, उसका इस संस्था ने बड़ा ही सशक्त विरोध किया और उग्र भारतीय राष्ट्रीयता का प्रचार किया।

इस समय के भारतीय नेताओं के आगे सबसे बड़ा प्रश्न राज सेवाओं में भारतीयों के प्रविष्ट होने के अधिकार-विषयक था। सन् १८७९ में जब इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा की उम्र घटा कर १६ वर्ष की कर देने के लिए पार्लियामेंन्ट में प्रस्ताव आया तब उसके विरुद्ध भारतीय जनता का लोकमत जागरित करने के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बंबई और मद्रास प्रान्तों में अलख जगाया।

भारत के इस नवोदित राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने में बहुत दूर तक समाचार-पत्रों ने हाथ बँटाया। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने कांग्रेस का इतिहास में लिखा है कि सन् १८५७ में भारत में करीब ४७५ अखबार छपते थे जिनमें अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं के थे।[2] समाचार-पत्रों का, जनमत तैयार करने और जागरण फैलाने में जो योगदान हो सकता है उसे सहज ही समझा जा सकता है। लेकिन भारत परतंत्र था और अंग्रेजों को यह मालूम था कि परतंत्र देश में समाचार-पत्रों पर नियंत्रण रखना कितना आवश्यक है। मुनरो ने एक साम्राज्यवादी की दृष्टि से इस विषय में यह कहा था कि स्वाधीन बन्धनमुक्त पत्रकारिता और विदेशियों का शासन ये दो विरोधी बातें हैं। यह इसलिए कि स्वतंत्र पत्रकारिता का धर्म होता है विदेशी शासन से देश को मुक्त कराना।[3]

---

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ८।

२. कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ८।

3. Quoted in—A sketch of History of India—Henry Dodwell, P. 255.

हेनरी डाडवेल ने अपनी पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक और बात बताई। उसने कहा है कि भारत और ग्रेट-ब्रिटेन की प्रकृति में एक बड़ा अन्तर है। ग्रेट-ब्रिटेन एक ऐसा देश है जिसमें आन्दोलन करके सरकार को शान्तिमय ढंग से बदला जा सकता है। ऐसे देश में समाचार-पत्रों को स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। किन्तु जिस देश में विदेशी शासन हो उस देश में सरकार को बदलने के लिए क्रान्ति की अपेक्षा होती है। और समाचार-पत्रों को स्वतंत्रता देने का अर्थ होता है उन्हें क्रान्ति का मंत्र फूंकने का अधिकार देना।[1] ग्रेट-ब्रिटेन की प्रतिगामी चेतना ने इसीलिए भारत में समाचार-पत्रों के ऊपर नियंत्रण रखने की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि जब ग्रेटब्रिटेन में अनुदार दल का शासन हुआ तब सन् १८७८ में भारत को वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट का तोहफा मिला। इस ऐक्ट के अनुसार जिलाधीशों को यह अधिकार दिया गया कि वे चाहें तो आपत्तिजनक और उत्तेजक समाचार न छापने के लिए समाचारों को प्रतिश्रु कर सकते थे। जिलाधीशों को यह अधिकार भी दिया गया कि वे समाचार-पत्र में छपने वाली सामग्री को, छपने से पहले देखने के लिए मँगा लें। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि प्रेस ऐक्ट की सारी पाबन्दी देशी भाषा में छपने वाले समाचार-पत्रों के विषय में ही थी। ऐसा लगता है कि अंग्रेज यह अनुभव कर रहे थे कि भारतीय जनता भयानक निराशा की स्थिति में पड़कर कुछ कर गुजरना चाहती है।[2] अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों से अभी तक अंग्रेज शासकों को शायद कोई खतरा नहीं दीख रहा था। इस नये प्रेस ऐक्ट का उद्देश्य देशी समाचार-पत्रों को आतंकित करना था। यह इसलिए कहा जा सकता है कि इस नियम के अन्तर्गत बंगाल के 'सोमप्रकाश' नामक एक ही पत्र पर पाबंदी लगाई गई थी। फिर भी, प्रश्न एक अथवा अनेक समाचार-पत्र का नहीं था। मुख्य बात यह थी कि भारतीय जनता ने यह अनुभव किया कि इस गुलाम देश को कम्पनी की सरकार के जमाने से जो थोड़े-बहुत अधिकार मिले हुए थे उनपर भी अब कुठाराघात हो रहा था। देशी समाचार-पत्रों ने प्रेस-ऐक्ट के विरोध में अग्रलेख लिख कर यह सुझाया कि उक्त ऐक्ट के स्वीकार करने की वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं थी।[3]

---

1. A Sketch of the History of India—Henry Dodwell, P. 255.
2. History of Congress—Part I, P. 6.
3. If the Vernacular Press is seditiones, there is already a law to repress sedition, there are courts of law. Let complaints be lodged against them in the regularly constituted courts of the land and let thair mouths be gagged there—Quoted in The British Paramountcy and Indian Renaissance—Vol. X, P. 250.

सन् १८८० में इंगलैन्ड में ग्लैडस्टन के उदारदल को शासनारूढ़ होने का अवसर मिला। इस नयी सरकार के प्रतिनिधि होकर लार्ड रिपन (सन् १८८०-१८८४) भारत आये। सन् १८८२ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर दिया गया। सन् १८८३ में एक और भी छोटा सा काम इस नई सरकार ने किया। उन दिनों किसी यूरोपियन अभियुक्त का मुकदमा गैर-यूरोपियन न्यायकर्ता के इजलास में विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। पहले न्याय की ऊँची कुर्सियों पर गैर-यूरोपियन बैठते ही नहीं थे। धीरे-धीरे ये ऊँचे पद भारतीयों को भी सुलभ हुए और तब यूरोपियन नागरिकों ने भारतीय न्यायाधिकारियों के सामने उपस्थित होने से इन्कार करना शुरु किया। बाद में ऐसी व्यवस्था की गई जिससे गैर-यूरोपियनों के सामने यूरोपियनों का अभिमान बना रहे। सन् १८८३ के इलबर्ट बिल के अन्तर्गत भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अभियुक्तों के मुकदमों की जाँच का अधिकार मिला। इस बिल के विरुद्ध यूरोपियन समाज में बड़ा हंगामा मचा। कहा जाता है लार्ड रिपन के विरुद्ध गोरों ने षड्यंत्र किये और उन्हें भारत से निकाल देने की योजना भी बनाई। रिपन गोरों के बीच जितने बदनाम हुए उतने ही वे भारतीय लोकसमाज में लोकप्रिय हुए।

इस घटना से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष अंग्रेजों की उसी शासन-व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार था जिसके पीछे उदारता हो और जो भारतीयों को गोरों के साथ समकक्षता तथा समानता देने के लिए तत्पर हो। अब देश में निरंकुश शासन का चलाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो रहा था।

सन् १८७७ में बड़ी शान-शौकत के साथ दिल्ली में दरबार हुआ, जिसमें देश के बड़े-बड़े महाराजे और गण्यमान लोग सम्मिलित हुए। वहाँ श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे लोगों के मस्तिष्क में भारतीयों का एक संगठन खड़ा करने का विचार आया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्वयं यह बात बतायी है।[1] लेकिन 'नेशनल कान्फ्रेन्स' नामक जिस संस्था का जन्म इस क्रम में हुआ उसकी स्थापना सन् १८८३ के पहले नहीं हो सकी।[2]

---

1. The idea of a National Conference is as old as the year 1877. It originated on the occasion of the Delhi assemblege when the princess and the rulers of the land met for the purpose of the great show............—History of the Indian Association—J. C. Bagal. P. 80.

2 Ibid.

अगले दो वर्ष बाद, सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। अंग्रेजों के विरुद्ध देश में वातावरण तैयार हो गया था। विरोध का यह वातावरण किसी समय एक विस्फोट के रूप में आ सकता था, ऐसी आशंका होने लगी थी। भारत की सार्वजनिक सेवा के अवकाश प्राप्त अधिकारी मिस्टर ह्यूम को इस खतरे का अनुमान पुलिस की गुप्त-रिपोर्टों के प्रमाण पर हो गया था।[१] मिस्टर ह्यूम तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन से साक्षात् के लिए शिमला गये और ऐसा कहा जाता है कि दोनों ने मिलकर एक गुप्त योजना बनायी जिसके परिणामस्वरूप सन् १८८५ में भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस का जन्म हुआ। इस संस्था का उद्देश्य ब्रिटिश-हितों का संरक्षण और ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन का नियंत्रण करना था।[२] श्री रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'इन्डिया टुडे' में यहाँ तक कहा है कि देश में ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी कि एक सशक्त संगठन का बनाना अपरिहार्य हो गया था। ब्रिटिश सरकार की पैनी आँखों ने आने वाले खतरे को देख लिया और उसने काँग्रेस की स्थापना करा कर आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।[३] माइकेल एडवर्ड्स ने भी अपनी पुस्तक 'दि लास्ट इयर्स आफ ब्रिटिश इन्डिया' में इस सत्य को स्वीकार किया है।[४] कांग्रेस की स्थापना के लक्ष्य के सम्बन्ध में स्वयं मि० ह्यूम का निम्नलिखित कथन तो ऐतिहासिक कथन बन गया है :—A safety valve for the escape of great and growing forces generated by our own action, was urgently needed and no more efficacious safety valve than our Congress movement could possibily be devised.[५]

इस प्रकार, कांग्रेस एक ऐसी संस्था के रूप में खड़ी हुई जिसे एक ओर भारतीय राजनीतिक जीवन के आलोड़न-विलोड़न को अभिव्यक्ति देनी थी और ब्रिटिश

---

1. Social Background of Indian Nationalism–A. R. Desai, P. 281 and The evidence convinced me.......that there is imminent danger of a terrible outbreak.—A. W. Hume—Father of the Indian National Congress, P. 80-83.
2. India-Today—R. Palme Dutt., P. 256.
3. Ibid. P. 259.
4. The Viceroy of the time Lord Dufferin, thought the Congress an excellent means of tapping public openion. P. 8.
5. A. W. Hume : Father of the Indian National Congress, P. 27.

हितों का संरक्षण करना था। कांग्रेस ने जिस चेतना को मुखरित किया वह मध्यवर्गीय चेतना थी। अस्तु, इस कांग्रेस को हम भारत की जनवाणी के रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। लेकिन आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि ऐसी संस्था से भी अंग्रेजों को भय लगा।[1]

कांग्रेस वर्ष में एक बार जुट कर कुछ प्रस्ताव पास करती; जिनमें से कुछ में शासन की सराहना होती और कुछ ऐसे भी होते जिनको प्रस्ताव न कह कर अर्जी कहना चाहिए। कुल तीन वर्षों में स्थिति ऐसी हो गई कि मिस्टर ह्यूम को सफाई देने की नौबत आ गई। ३० अप्रैल सन् १८८८ को इलाहाबाद में आयोजित एक सभा में उन्होंने अपने पक्ष के औचित्य का प्रतिपादन किया। उनका यह भाषण बाद में "A speech on the Indian National Congress, Its Origin, Aims and Objects" शीर्षक से प्रकाशित भी हुआ। इस भाषण के प्रकाशन से आग में घी पड़ गया और नौकरशाही ने मि० ह्यूम को इस देश से हटा देने का प्रस्ताव तक किया। लंदन के एक प्रमुख पत्र 'दि टाइम्स' ने ब्रिटिश जनता की प्रतिक्रिया बताते हुए कहा था कि राजनीतिक सुधारों के लिए कांग्रेस की मांग को स्वीकार करने का अर्थ है भारतवर्ष को स्वराज्य दे देना और देश का शासन उनके हाथ में देना जो शासन करने के योग्य नहीं हैं।

यह समाचार-पत्र इस बात को कतई मानने को तैयार नहीं था कि भारतीय अपना शासन भार ग्रहण करने के योग्य हैं। उसने व्यंग्य करते हुए कहा था कि यदि भारतवासी अपने देश का शासन कर सकने की स्थिति में होते तो वहाँ हम अंग्रेजों के बने रहने की आखिर जरूरत ही क्या थी। इस पत्र ने कांग्रेस को समग्र भारतवर्ष की प्रतिनिधि संस्था मानने से भी इन्कार किया। उसका कहना था कि सम्पूर्ण मुसलमान जाति कांग्रेस से अलग है और यह एक बड़ी बात है।[2] इस समाचार-पत्र ने बहुत खुल कर कहा कि भारतवर्ष शक्ति के बल पर जीता गया है और शक्ति के बल

---

1. Inspite of moderation and loyalty of the Coagress the English public opinion looked upon the emergence of the Congress as a potential danger to the British power in India. —The British Paramountcy and Indian Renaissence; Part II, P. 535.
2. That the entire Mahomedan population of India has steadily refused to have anything to do with them is a sufficiently ominous fact.—The B. P. and I. R.; Part II, P. 552.

पर उसपर शासन किया जायेगा।[1] इस पत्र ने तो भारत के पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय बाबुओं को खुलकर सुना दिया कि अंग्रेज यदि इस देश से कभी प्रत्यावर्तन करेंगे भी तो वे देश को उन बाबुओं के हाथ में नहीं सौंप जायेंगे जिनकी जीभ बड़ी तेज है और जिनकी कलम लिखने के लिए सदा तैयार रहती है, बल्कि वे अपना उत्तराधिकारी उसे बनायेंगे जिसके पास तलवार की तेजी होगी और जो सामरिक दृष्टि से समर्थ सिद्ध होगा।[2]

'दि टाइम्स' के इस लेख से यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेजों ने इस देश के हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक-पृथक रखने में ही अपना भला देखा।

कांग्रेस के सम्बन्ध में शासन की यह परिवर्तित विचारधारा इलाहाबाद में आयोजित चौथी कांग्रेस के अवसर पर प्रकाश में आयी। सरकार के असहयोग के कारण कांग्रेस को अपने अधिवेशन के लिए स्थान प्राप्त करने में कठिनाई हुई और तब बिहार के दरभंगा के महाराजा ने कांग्रेस अधिवेशन के लिए (Lowther Castle) लोथर कैसल नामक एक मकान खरीदा और उसमें कांग्रेस का अधिवेशन हुआ।

लेकिन अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष का जो बीज वपन कर दिया था उसे तो अंकुरित होना ही था और अगले ही वर्ष, सन् १८८९ में कांग्रेस अधिवेशन में जब प्रातिनिधिक सरकार की योजना बनी तो एक मुसलमान प्रतिनिधि ने यह मांग की कि इम्पीरियल और प्रादेशिक कौंसिलों में बराबर की संख्या में हिन्दू और मुस्लिम सदस्य होने चाहिए। यह सत्य है कि इस प्रस्ताव का स्वयं अधिकांश मुसलमान प्रतिनिधियों ने विरोध किया तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि भारत की अखण्डता के विषय में अन्यथा सोचने-विचारने की परम्परा भी चल पड़ी। कांग्रेस की महत्ता की अवमानना का क्रम जो लार्ड डफरिन के उस कथन के साथ आरम्भ हुआ जिसमें उसने कांग्रेस को एक माइक्रोस्कोपिक माइनारिटी (नगण्य अल्पमत) कहा था, शासन की परिवर्तित विचारधारा के कारण और आगे बढ़ा।

भारतीय नेता, अब यह समझ गये कि अंग्रेज भारत में फूट डाल कर शासन करना चाहते थे। उनकी इस नीति की कड़ी भर्त्सना सन् १८९० की कलकत्ता काँग्रेस के स्वागताध्यक्ष श्री मनमोहन घोष ने की। उन्होंने यहाँ तक कहा कि यह नीति अंग्रेज जाति को शोभती नहीं। सरकार भारतीय प्रतिक्रिया से विचलित हो गयी और उसने काँग्रेस अधिवेशन में सरकारी नौकरों को दर्शक के रूप में सम्मिलित होने की स्वीकृति

1. It was by force that India was won and it is by force that India must be governed.—Ibid.
2. Ibid.

दे दी। यह इसलिये कि सरकारी अफसरों के सामने सरकार की आलोचना भरी पड़ती।

भारत में कांग्रेस जो कुछ राष्ट्रीय जाग्रति के लिए कर रही थी उसके प्रति आयरलैण्ड की स्वशासन की मांग करने वाली जनता की सहानुभूति थी। दादाभाई नौरोजी ने यह बताया था कि आयरलैण्ड के आन्दोलनकारियों ने उनसे यह कहा कि भारत वापस जाने पर वे अपने देशवासियों को यह बता दें कि आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता के सैनिक भारतीयों के साथ हैं।[1] धीरे-धीरे भारत के शासकों और अंग्रेज जाति ने यह अनुभव कर लिया कि भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन में कांग्रेस एक बड़ी शक्ति है। सन् १९०४ की कांग्रेस ने तो एक पग और आगे बढ़ कर यह मांग की कि ब्रिटेन के हाउस ऑफ कॉमन्स में भारत को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। लन्दन की इण्डिया कौन्सिल और भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यकारिणी समितियों में भारतीयों को नियुक्त करना चाहिए।

ऊपर के विवरण से यह विदित है कि भारत में राजनीतिक सुधारों के लिए, मौलिक अधिकारों के लिए और सम्मान्य जीवन के लिए जागरण फैल चुका था। किन्तु, सन् १८८५ में इंगलैण्ड में ग्लैडस्टन के मन्त्रिमंडल के पदत्याग के बाद अनुदार दल का शासन हो गया था और सन् १९०५ तक, थोड़े समय को छोड़कर यही अनुदार शासन सत्तारूढ़ रहा। यह युग ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के फूलने-फलने का युग था। भारत के राजनीतिक जीवन को इस शासन से स्वभावतः निराशा हुई। भारत में अनुदार दल की अनुदारता अपने प्रकर्ष पर उस समय पहुँची जिस समय लार्ड कर्जन इस देश के सर्वोच्च शासक के पद पर प्रतिष्ठित था।

लार्ड कर्जन का शासन-काल सन् १८९८ से १९०५ तक रहा। दुर्भाग्यवश यह समय भारत के लिए बड़े संकट का समय सिद्ध हुआ। प्रजा प्लेग-जैसी महामारी से तबाह हुई और अकाल ने किसानों की आर्थिक स्थिति को अत्यन्त संकटपूर्ण बना दिया। इसी समय भारत को अफगानिस्तान और तिब्बत के युद्ध में फँसना पड़ा। दुर्भिक्ष, महामारी, और आर्थिक मन्दी से पिसी जाने वाली जनता पर अँग्रेजों के युद्ध का व्यय-भार एक करारी चोट के रूप में पड़ा।

भारतीयों के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन का मनोभाव बड़ा ही अनुदार था। भारतीयों के चरित्र को वह असत्यपूर्ण मानता था।[2] लार्ड कर्जन ने राजभक्त भारतीय प्रजा के मानस को झकझोर दिया। शासन भार ग्रहण करने के अगले ही वर्ष

---

१. दि बी० पी० आई० आर०, पार्ट २, पृ० ५४८।

२. कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ६४।

उसने 'कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट' लागू किया जिसके अन्तर्गत उसने कारपोरेशन के अधिकारों अर्थात स्वशासन के अधिकारों को सीमित कर दिया। वह इस बात का अनुभव नहीं कर सका कि भारत की जनता जाग रही थी और वह स्वशासन का अधिकार खोजती थी। स्वायत्त शासन के नाम पर जो थोड़ा सा अधिकार उसे मिला था उसका छिन जाना कलकत्ता के नागरिकों और भारत के जनसमुदाय को वड़ा अखरा। लार्ड कर्जन ने विश्व-विद्यालयों की स्वतन्त्रता को भी सरकारी नियंत्रण में लेने का प्रयास कर बाधित किया। देश में शिक्षा की माँग अधिकाधिक बढ़ रही थी। किन्तु लार्ड कर्जन की अदूरदर्शिता ने शिक्षा को महंगा बना दिया। सन् १९०४ में 'इण्डियन यूनिवर्सीटिज ऐक्ट' पास करने के अतिरिक्त उसने 'ओफिशियल सिक्रेट ऐक्ट' भी पास किया। इन नियमों से स्पष्ट है कि कर्जन भारतीयों की आशा-आकांक्षा को या तो समझ नहीं पा रहा था अथवा वह साम्राज्य विस्तार की लिप्सा की पूर्ति करने में दत्त-चित्त हो गया था।

लार्ड कर्जन भारत में सबसे अधिक बदनाम अपनी उस बंग-विभाजन योजना के कारण हुआ जिसे उसने सन् १९०३ में प्रकाशित किया। वह बंगाल को टुकड़े-टुकड़े करके उस राष्ट्रीय जाग्रति को दबा देना चाहता था जिसका आभास सुचतुर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को हो गया था। बंगालियों ने यह अनुभव किया कि लार्ड कर्जन बंग भाषा-भाषी जन-समुदाय को तितर-बितर करके उनके जातीय अभिमान पर आघात करना चाहता था।[1]

बंग-विभाजन के पीछे अंग्रेजों की एक जबर्दस्त कूट-नीति काम कर रही थी। पूर्वी बंगाल में मुसलमान बहुमत में थे और राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए भी थे। अंग्रेजों ने सोचा कि बंगाल से उस भाग को यदि अलग कर लिया जाय तो एक ऐसा प्रान्त बन जायेगा जो अंग्रेजों के प्रति अधिक वफादार होगा। कर्जन की इस योजना को पाकिस्तान की पूर्व पीठिका कहना चाहिए।

आगे चलकर सन् १९०५ में कर्जन की योजना ने क्रियात्मक रूप धारण किया और बंगाल में प्रचण्ड विद्रोह भड़क उठा।[2]

---

1. Viewed in true perspective, the partition of Bengal set the ball rolling and ultimately emashed the imperial fabric which the British had reared whit so much care in India. The most strong objection was that it struck at the sense of unity of the Bengalee peace—The spirit of India Nationalism, C. B. Pal, P. 60.
2. History of Freedom Movement in India, P. 3.

महात्मा गाँधी ने हिन्द स्वराज्य में लिखते हुए यह कहा था कि बंग-विभाजन से ही ब्रिटिश साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना आरम्भ[1] हुआ। बंगाल कौंसिल में बंग-विभाजन के विरुद्ध भाषण करते हुए श्री भूपेन्द्र नाथ वसु ने कहा था कि अंग्रेजों से परिणाम में हमें घृणा ही मिली और अब से हमें विघटन की उन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना है जो हमारे आगे खड़ी हो गयी है।[2].

बंगाल में होने वाले इस आन्दोलन के जैसा आन्दोलन पहले भारत में कभी हुआ नहीं था। जगह-जगह सार्वजनिक सभाएँ होतीं और हजारों लोग उनमें सम्मिलित होते। बंगाल का यह संघर्ष किसी विशेष निहित स्वार्थ का संघर्ष नहीं था, बल्कि समग्र जनता का अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध आन्दोलन था। मुसलमानों ने भी इस आन्दोलन का पूर्ण समर्थन किया।

लार्ड कर्जन ने आन्दोलन की रीढ़ तोड़ देने के विचार से ढाका की यात्रा की और वहाँ के तत्कालीन नवाब सलिमुल्ला के साथ सौदा किया। नवाब को रुपयों की आवश्यकता थी। कर्जन ने बहुत कम सूद पर उसे अपेक्षित राशि उधार दे दी। उसने नवाब को यह भी सुझाया कि नये प्रान्त की राजधानी होने का गौरव उसके नगर ढाका को प्राप्त होगा और फलस्वरूप नवाब का भी मानवर्द्धन होगा।[3] श्री जवाहरलाल नेहरू ने कर्जन की इस नीति का भंडाफोड़ करते हुए लिखा है—"इसी समय एक नया मोहरा सामने आया। यह था मुसलमानों को अल्पसंख्यक मान कर इनके साथ अलग और खास वर्ताव की राजनीतिक मांग।"[4] यही वह कारण है कि बंगाल के विभाजन का यह स्थानीय आन्दोलन, स्थानीय न रह कर सार्वदेशिक हो गया।

पंजाब में लाला लाजपत राय और सरदार अजित सिंह इस नये जागरण के नेता हुए। महाराष्ट्र में तिलक ने भी आन्दोलन छेड़ा किन्तु बंगाल का आन्दोलन सबसे अधिक उग्र सिद्ध हुआ। बंगाल के नेताओं में मुख्य थे कृष्णकुमार मित्र, पुलिन बिहारी दास, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, अश्विनी कुमार दत्त, मनोरंजन गुहा, सुबोध चन्द्र मल्लिक, शचीन्द्र प्रसाद वसु, सतीशचन्द्र चटर्जी और भूपेशचन्द्र नाग। ये नेता बंगाल से निर्वासित भी किये गये थे। बंगाल में बंग-विभाजन के विरुद्ध होने वाली सार्वजनिक

---

1. Hind Swarajya (1946), P. 15.
2. History of Freedom Movement in India—R. C. Majumdar, P. 9.
३. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट—आर० सी० मजुमदार, पृ० ११-१२।
४. विश्व-इतहास की झलक, पृ० ८७२।

सभाओं में यह निश्चय किया गया कि विदेशी माल का सर्वथा बहिष्कार किया जाय। वागेरहाट (खुलना जिला) की १६ जुलाई सन् १६०५ की बैठक में जनता ने यह निश्चय किया था कि छः महीने तक मातम मनाया जाय और किसी प्रकार का सार्वजनिक उत्सव न किया जाय। 'अमृत बाजार पत्रिका' में १७ जुलाई सन् १६०५ को लाल मोहन घोष ने एक अपील प्रकाशित करा कर मैनचेस्टर के बने विलायती कपड़ों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव किया। २१ जुलाई १६०५ को दिनाजपुर के महाराज की अध्यक्षता में होने वाली एक सार्वजनिक सभा ने यह निश्चय किया कि भारतीयों को आनरेरी मैजिस्ट्रेट के पद से हट जाना चाहिए और उसी तरह जिला बोर्ड, नगरपालिका और पंचायतों भी सदस्यता भी छोड़ देनी चाहिए। ७ अगस्त सन् १६०५ को प्रायः ५,००० विद्यार्थियों का एक अत्यन्त नियन्त्रित जुलूस निकला जो कालेज स्क्वायर से दो-दो की कतार में टाउन हाल तक ऐसे गया कि किसी मृतक संस्कार में जा रहा हो। हड़ताल का यह आयोजन इतना सफल रहा कि नगर में एक बोतल लेमनेड का मिलना भी असम्भव हो गया। वारिसाल की एक सार्वजनिक सभा में लार्ड कर्जन का पुतला जलाया गया और उसके श्राद्ध का स्वांग भी किया गया।

पुलिस रिपोर्टों से यह विदित है कि बंग आन्दोलन 'वन्दे मातरम्' का आन्दोलन हो गया। जमींदारों ने अपने कारिन्दों के द्वारा आन्दोलन को बढ़ावा दिया। लेकिन हमें इस आन्दोलन को सन् १८५७ के विद्रोह जैसा सामन्तों का विद्रोह नहीं समझना चाहिए। यह आन्दोलन सच्चे अर्थ में जन-आन्दोलन था। इसका प्रमाण एक यह भी है कि मैमन सिंह के चमारों ने विलायती जूतों की मरम्मत करने से भी इन्कार किया था। वारिसाल के उड़िया रसोईदारों और घर का काम-काज करने वाले नौकरों ने उन मालिकों के यहाँ काम करने से इन्कार किया जिनके घर विदेशी माल का व्यवहार होता था। कालीघाट के धोबियों ने अपनी सभा में प्रस्ताव करके विदेशी कपड़ों का धोना बन्द कर दिया। पौरोहित्य कर्म करने वाले ब्राह्मणों ने उन विवाह यज्ञों में सम्मिलित होना अस्वीकार किया जिनमें किसी भी रूप में विदेशी कपड़ों का व्यवहार होता था। परीक्षा-भवन से परीक्षार्थी इसलिए बाहर निकल आये कि उनको लिखने के लिये जो उत्तरपुस्तिका मिली थी वह विदेशी कागज से बनी थी। इस विषय में सबसे रोमांचक इतिहास तो छः वर्षीया उस बालिका का है जिसने रुग्णावस्था में विदेशी दवा खाने से इन्कार किया था।[1]

इस आन्दोलन ने भारत की कल्पना माँ के रूप में करना सिखाया। सन् १६०५ में २८ सितम्बर को महालया के दिन कालीघाट की जो भव्य पूजा हुई थी वह इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रभक्ति को एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में

१. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट; आर० सी० मजुमदार, पृ० १६।

ग्रहण किया गया था।[1] जनता में आन्दोलन का प्रचार, प्रसार करने के उद्देश्य से कीर्तन मंडलियाँ खड़ी हुईं।

इस आन्दोलन ने कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी अभिभूत किया और उन्होंने बंगाल की जनता से अपील की कि वह राखी तृतीया का व्रत रखे और उस दिन इस बात का निश्चय कर ले कि भाई-भाई को एक ही जगह रहना है। भारत की जनता एक है और उसे टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता। उस वर्ष राखी बन्धन का एक नया गीत भी चल पड़ा था—

'भाई भाई एक ठाई
भेद नाई—भेद नाई'

१६ अक्टूबर सन् १९०५ को बंगाल की जनता ने समवेत होकर स्नान किया और खाली पाँव काली मन्दिर में जाकर यह प्रतिज्ञा की कि वह अपना राष्ट्र-धर्म निबाहेगी। एकता के लिए राखी का पवित्र बन्धन एक दूसरे से लोगों ने स्वीकार किया।

बंग विभाजन के विरुद्ध सन् १९०५ में जो विद्रोह हुआ उसने देश को बहिष्कार नीति की भेंट दी और संगठन की आवश्यकता का अनुभव कराया। आगे चल कर असहयोग आन्दोलन के जमाने में जो कुछ हुआ उसका पूर्वभास इसी आन्दोलन में प्रकट हुआ।

अंग्रेजों ने अपनी सारी शक्ति लगाकर आन्दोलन को कुचलने का प्रयास किया। दमन के लिए गोरखा पलटन तक की सहायता ली गई। सच्ची बात तो यह है कि सन् १९०५ में बंगाल ने यह दिखा दिया कि ब्रिटिश शासन भारत में हथियार के ही बल पर टिका हुआ है। जो अँग्रेजों का समर्थन कर रहे थे, उनको भी कर्जन के इस कृत्य से बड़ा कष्ट हुआ। ओ डोनेल के प्रमाण पर हम यह भी कह सकते हैं कि बंगाल में राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित अँग्रेज अधिकारियों ने भी इस सारे काण्ड की निन्दा की। उनकी समझ में बंग विभाजन का प्रस्ताव अदूरदर्शिता-पूर्ण तो था ही, अनावश्यक और हानिकर भी था।[2] कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी

1. A new spirit was menifested all over the country it was marked by a high degree of patriotic fervour and religious devotion to mother land symbolized by Bande-Matoram. —H. F. M. India, P. 18.

2. Practically the whole Civil Service of Bengal was hostile to the scheme, and condemned it as the most unsuitable for the province injurious to Brtish Administration and financially wasteful...—quoted in History of Freedom Movement; R. C. Majumdar, P. 10.

बंग विभाजन की योजना को एक प्रतिक्रियावादी और अविवेकपूर्ण दुष्ट योजना कहा था।[1]

बंग विभाजन के विरुद्ध जो संघर्ष बङ्गाल में हुआ उसके कुछ अत्यन्त प्रेरक परिणाम हुए। अंग्रेजों ने भारतवर्ष में शासन करने के लिए ऐसे सहायकों की अपेक्षा का अनुभव किया था जो न केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे हों बल्कि अंग्रेजों के प्रति पूर्ण भक्त भी हों। फलतः कम्पनी के जमाने से ही जो शिक्षा-नीति इस देश में चलती रही उसका उद्देश्य ज्ञान का प्रसार न होकर गुलामी की भावना को बद्धमूल करना था। किन्तु अंग्रेजों को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि बंगाल के स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने वाले शिक्षार्थियों ने ही आन्दोलन को सबसे अधिक बल दिया। विद्यार्थी ही उन दूकानों पर धरना देते जहाँ विदेशी माल की बिक्री होती थी। वे ही सभाओं का संगठन करते थे, भारी जुलूस निकालते थे और राष्ट्रीयता का संदेश घर-घर पहुँचाते थे।

अस्तु, अब सरकार ने विद्यार्थियों के विरुद्ध दमन कार्य आरम्भ किया। उनका स्कूलों, कालेजों से निष्कासन किया गया। १६ अक्टूबर सन् १९०५ को बङ्गाल में जो राखी तृतीया का व्रत लिया गया। उसमें भी विद्यार्थियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया। नेताओं के निर्णयानुसार उस दिन वे नंगे पाँव शिक्षालयों में गये और उस अपराध के लिए अधिकारियों ने उन पर जुर्माना किया। अभिभावकों ने जुर्माने की रकम भरना अस्वीकार किया। इधर अधिकारी भी डटे रहे।[2] इसी सिलसिले में इस बात का अनुभव किया गया कि शिक्षा व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन की अपेक्षा है जो शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त बनाये। यहीं से राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन आरम्भ होता है। लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों पर सरकारी अंकुश कड़ा कर दिया था। इसकी भी प्रतिक्रिया इस राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के रूप में हुई।

बङ्ग आन्दोलन ने देश के जाग्रत पौरुष को प्रत्यक्ष किया। लार्ड कर्जन ने काग्रेस की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था कि वह तो सोडा वाटर का गैस है। उन्होंने यह भी कहा था कि कांग्रेस प्रस्ताव पास करने के बदले कुछ करके दिखाये तो अधिक उत्तम हो। बङ्ग आन्दोलन ने उन्हें दिखा दिया कि भारत की राष्ट्रीयता कुछ कर सकती है। विदेशी माल का बहिष्कार करके भारत ने ब्रिटिश जनता को यह सुझा दिया कि भारत भी प्रतिक्रियात्मक विद्रोह कर सकता है। बहिष्कार आन्दोलन के नेताओं ने बहिष्कार को तब तक चलाना चाहा था जब तक बङ्गाल विभक्त था। लेकिन इस सीमित उद्देश्य को लेकर चलने वाले इस आन्दोलन में भी अनेक सम्भाव-

1. Ibid.
2. Spirit of Indian Nationalism—B. C. Pal, P. 73.

नाएँ थीं। एक ओर तो इसने विदेशी माल का व्यापार करने वाले व्यावसायिकों को घाटे में रखा तो दूसरी ओर देशी उद्योग-धंधों को इससे अनायास प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। करघा उद्योग और देशी सूती मिलों को एक नई ही जिन्दगी मिल गई। राष्ट्रीयता की आवाज कुछ इस तरह से गूंजने लगी कि सारा देश यह सोचने लगा कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भारत को अपने ही साधनों के बल पर करनी चाहिए। नीचे की तालिका से स्थिति का स्पष्टीकरण बड़े मजे में हो जाता है :—

वर्ष	मिलों की संख्या	लूम संख्या	मजदूर संख्या	पूंजी (पौंड में)
१८८२-८३	६२	१५०००	५३६००	४४५७००
१९०७	२२७	६७७००	२२५४००	१३११६००००

बहिष्कार आन्दोलन ने जिस स्वदेशी आन्दोलन का जन्म दिया उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन गरीबों से था जो करघों पर कपड़े तैयार करते थे अथवा मिलों में मजदूरी करते थे। परिणामतः यह आन्दोलन गरीब जनता का हित साधक हो गया। अँग्रेज इस आन्दोलन से बहुत घबड़ाये। इस घबराहट में ही उन्होंने धमकी देना आरम्भ किया।[1]

स्वदेशी आन्दोलन से गरीबों को तो लाभ हुआ ही, भारत के पूंजीपतियों को भी इसने बड़ा लाभ पहुँचाया। सच तो यह है कि ऐसा आन्दोलन पूंजी-पतियों के विशेष लाभ का होता भी है। कांग्रेस संस्था पर पूंजीपतियों का दबदबा धीरे-धीरे बढ़ता गया और कांग्रेस संगठन के भीतर इस निहित स्वार्थ का पलड़ा भारी पड़ा।

जिस समय भारत में यह जागरण फैला हुआ था उसी समय जापान की रूस पर विजय हुई। एशिया के एक राष्ट्र ने यूरोप के एक राष्ट्र पर जो विजय पाई उससे भारत के स्वाभिमान का भी उत्साह वर्द्धन हुआ और उसे यह अनुभव हुआ कि पश्चिम के राष्ट्र अपराजेय नहीं हैं। उसी समय रूस में पहली क्रान्ति हुई जिसमें जार के विरुद्ध राजनैतिक हड़तालें हुई। जार ने अपने विरुद्ध होने वाले उस आन्दोलन को दबा देने के लिए वैधानिक परिषद देने का अपनी प्रजा से वादा किया। उसके उस वादे से वहाँ के नरम पंथियों को संतोष हुआ और जार के विरुद्ध होने वाली क्रान्ति क्षीण हो गयी।

इस इतिहास की आवृत्ति भारत में भी आगे चल कर हुई। कांग्रेस का नरम दल शासन सुधार पर जोर देने लगा। सन् १९०६ की कांग्रेस में कांग्रेस का

1. Meanwhile it might be pointed out to the boycotters that there is a limit to British Patience.—Quoted in the Spirit of Indian Nationalism—B. C. Pal, P. 70.

लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य स्थिर हुआ। उक्त कांग्रेस ने निम्नलिखित तीन तात्कालिक माँगें पेश कीं—

(क) इंडियन-सिविल-सर्विस की परीक्षा इंगलैन्ड और भारत दोनों में साथ-साथ हो।

(ख) भारत में भी वायसराय और बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों की कार्य-कारिणी परिषदों में भारतीयों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

(ग) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभायें अधिकाधिक प्रतिनिधि संस्थायें हों और उनको देश की अर्थ और शासन नीति का नियमन करने का भी अधिकार हो। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के अधिकार भी बढ़ाये जायें।

कांग्रेस ने इस अधिवेशन में वहिष्कार-आन्दोलन, स्वदेशी-आन्दोलन, कुटीर-उद्योग-आन्दोलन और राष्ट्रीय-शिक्षा-आन्दोलन का समर्थन भी किया। कांग्रेस के अगले कार्यक्रम की अब ये चार दिशाएँ हुईं—स्वराज्य, वहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा।[1]

अगले वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं के बीच फूट पड़ गई और कांग्रेस 'नरम' और 'गरम' नामक दो दलों में विभक्त हो गई। इन दलों के नेता क्रमशः गोखले और तिलक हुए। वस्तुतः इन दोनों वर्गों का आपसी संघर्ष कलकत्ता कांग्रेस के समय से ही चल रहा था। दादाभाई नौरोजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण कांग्रेस की एकता किसी प्रकार बनी हुई थी। लेकिन सूरत कांग्रेस की अध्यक्षता के प्रश्न पर कांग्रेस के इन दोनों दलों का मतभेद खुल कर सामने आया।

पिछले वर्ष कांग्रेस ने जो चार सूत्रीय कार्य-क्रम स्थिर किया था उसे कार्यान्वित करना नरम पंथियों की शक्ति के बाहर था। इधर उग्र विचार के लोग सूरत कांग्रेस में भी पूर्व निश्चित कार्य-क्रम का अनुमोदन कर राष्ट्र को ब्रिटिश-साम्राज्य के विरोध में सक्रिय ढंग से उतारना चाहते थे। इस वर्ग ने अनुभव किया कि भीख माँगने से आजादी नहीं मिलती। नरम पंथियों ने राष्ट्रीयता के जिस पारे को बहुत नीचा कर दिया था तिलक के उग्रदल ने उसे ऊँचा उठाने की चेष्टा की। कांग्रेस जनों का यह आपसी मतभेद, दुर्भाग्यवश अत्यन्त निम्न स्तर पर चला गया। तिलक को कांग्रेस में भाषण देने की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई और एक प्रतिनिधि ने मंच की ओर जूता फेंका जो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को छूता हुआ फिरोजशाह मेहता को लगा। इसके बाद तो

---

1. Swaraj, Boycott, Swadeshi and National Education became now the four cardinal points of the Congress Programme. —India Today—R. P. Dutt, P. 273.

डंडे भी चले। अन्ततः कांग्रेस-संस्था के ऊपर नरम दल वालों का दावा रहा। उन्होंने ऐसे नियम बनाये कि नये विचार के लोगों के लिये कांग्रेस में घुसना ही असम्भव हो गया। किन्तु, तिलक यहीं भारतीय राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में अवतीर्ण हुए। सरकार इनसे डरने लगी और उसी डर की हालत में उसने दमन-चक्र चलाया। हिन्दी केसरी में प्रकाशित होने वाले एक लेख के कारण तिलक को सन् १६०८ में छः वर्षों की कैद की सजा हुई और वे जेल में डाल दिये गये।[1] कांग्रेस के इन दोनों दलों के मतभेद का मुख्य कारण यह था कि दोनों इस बात पर सहमत नहीं हो रहे थे कि कांग्रेस का लक्ष्य क्या हो और फिर उस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन क्या हो। सन् १६०५ की कांग्रेस में कांग्रेस का लक्ष्य, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति स्थिर हुआ था। सन् १६०६ की कांग्रेस के मध्य दादाभाई नौरोजी ने स्वराज्य की बात उठाई। स्वराज्य से उनका मतलब शासन की उस व्यवस्था से था जो स्वयं यूनाइटेड किंगडम में प्रचलित थी। आगे चलकर इसी स्वराज्य के मन्तव्य के प्रश्न पर नरम और गरम दलों का भयंकर मतभेद हुआ। जहाँ नरम दल औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट था वहाँ गरम दल पूर्ण स्वराज्य की माँग कर रहा था।

गरम दल के नेताओं में तिलक के अलावे अरविन्द का भी नाम लिया जाता है। अरविन्द यह जानते थे कि एक जाति अपने हितों का त्याग दूसरी जाति के हितों के लिए करदे यह मनुष्य के स्वभाव में नहीं है। इसी से इन नये नेताओं ने कांग्रेस की पुरानी परम्परा के अनुसार सरकार के पास अर्जी भेजने के धंधे को पागलपन और बेवकूफी कहा।[2] देश में सामाजिक सुधार, औद्योगिक विकास, नैतिक उत्थान और शिक्षा सुधार के प्रति जो तत्परता थी अरविन्द को उससे भी बहुत संतोष नहीं था। उन्होंने बड़े प्रभावशाली ढंग से यह कहा था कि राजनीतिक मुक्ति के बिना ये सारे उद्योग सारहीन तथा व्यर्थ हैं।[3] सन् १६०७ में ६ से २३ अप्रैल तक अरविन्द ने 'वन्दे-

१. कांग्रेस का इतिहास–भाग १, पृ० ८४।

2. History of Freedom Movement-R. C. Majumdar-P. 176.

3. Political freedom is the life breath of a Nation; to attempt social reform, educatioal reform, industrial expansion, the moral improvement of the race without aiming first and foremost at political freedom is the very height of ignorance and futility—History of Freedom Movement—R. C. Majumdar, P. 176.

मातरम्' नामक अपने दैनिक पत्र में सविनय अवज्ञा की चर्चा उठा कर उसका विश्लेषण किया ।[1]

इस सविनय अवज्ञा की दो दिशाएँ स्थिर हुईं । पहली का उद्देश्य संगठन द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करना और उसके शासन का चलना असम्भव कर देना था और दूसरी का ब्रिटिश व्यवस्था के साथ असहयोग करके उसे घाटे में डालना एवं परिणामत: देश को ब्रिटिश पूंजीवाद के शोषण से बचाना था ।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने कचहरियों का बहिष्कार, सरकारी नियंत्रण में पड़ी हुई शिक्षण संस्थाओं से असहयोग और उस पुलिस से असहयोग करना जिसके द्वारा सरकार दमन चक्र परिचालित करती थी, निश्चित किया । इस आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य करबन्दी आन्दोलन को बढ़ावा देना था । सन् १६०६ की २१ जुलाई को 'कर्मयोगी' नामक पत्र में अरविन्द ने इस आन्दोलन का रूप और भी अधिक स्पष्ट किया और कहा कि जैसे १८ वीं सदी के अमेरिकन आन्दोलन का नारा था—प्रतिनिधि नहीं तो कर नहीं, वैसे ही हमारा नारा होना चाहिए 'शासन-तंत्र के ऊपर हमारा नियंत्रण नहीं है, तो हम सहयोग नहीं करेंगे ।'[2]

कहना नहीं होगा कि आगे चल कर गांधी जी ने देश में जो आन्दोलन चलाया

---

1 The essential difference between passive or difensive and active or aggressive resistance is this, that while the method of the aggressive resister is to do something by which he can bring about positive harm to the Government, the method of the passive resister is to abstain from doing something by which he would be helping the Government.—History of Freedom Movement—R. C. Majumdar, P. 176-77.

2. The essence of this policy is the refusal of co-operation so long as we are not admitted to a substantial share and an effective control in legislation, finance and administration. Just as 'No representation No taxation' was the watch word of American constitutional agitation in the 18th century, so 'No control No co-operation' should be the watch word of our lawful agitation for constitution we have none in the twentieth.—H. F. M. P. 178-79.

था उसका रूपाकार उनके राजनैतिक रंगमंच पर अवतीर्ण होने के पहले ही स्थिर हो गया था।

अंग्रेज सरकार एक ओर कांग्रेस के उग्र पंथियों के विरुद्ध दमन कार्य करती थी और दूसरी ओर नरम पंथी राजनीतिज्ञों को बढ़ावा देती थी। कांग्रेस की ओर से होने वाली सभाओं को भंग करने की चेष्टा सरकार की ओर से की जाती और जन-साधारण को यह सुझाया जाता था कि कांग्रेस का उग्र दल देश में भयंकर विप्लव लाना चाहता है। शासन-सुधार का काम शान्तिपूर्ण ढंग से हो सकता है। इसलिए, जनता के लिए यही उचित होगा कि वह संयत नरम पंथियों के साथ सहयोग करे और देश को आगे बढ़ा कर ले जाये।[1]

सन् १६०६ में बंगाल को पौरुषहीन कर देने के उद्देश्य से एक सरकारी आदेश जारी कर बंगाल के नौजवानो को शारीरिक-शिक्षण-संस्थाओं पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। लेकिन सब करने पर भी सरकार आन्दोलन को रोक न सकी। उसके आतंक की प्रतिक्रिया में आतंकवाद का जन्म हुआ।

काँग्रेस का प्रगतिशील उग्र दल अंग्रेज सरकार के साथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में असहयोग करके उसके कानून को सविनय अवज्ञा करके अंग्रेजों की शक्ति को क्षीण करना चाहता था। किन्तु नये विचार के लोगों में कुछ ऐसे भी लोग हुए जिन्होंने यह अनुभव किया कि सविनय अवज्ञा पर्याप्त नहीं है। उन्होंने ब्रिटिश शक्ति को शक्ति के बल पर नष्ट करने का निश्चय किया।[2] चूंकि ऐसी संस्था की स्थापना सार्वजनिक और प्रकट रूप में नहीं की जा सकती थी, आतंकवादियों ने गुप्त संस्थाएँ बनाईं। इस वर्ग के आन्दोलनकारियों को अंग्रेजों ने विप्लवकारी (अनारकिस्ट) और टेररिस्ट कहा है। किन्तु ये शब्द बहुत मौजू नहीं हैं। ये लोग देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैलाने का व्रत लेकर नहीं आये थे। इनका उद्देश्य था भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फौलादी पंजे से मुक्त करना और देश में स्वराज्य अर्थात् जनता के शासन की स्थापना करना। श्री आर० सी० मजुमदार ने इसी कारण इनके आन्दोलन को मिलिटेन्ट नेशनलिज्म कहा है।

---

1. India Today—R. P. Dutt, P. 273.
2. The real genesis of these secret societies is to be traced back to the growth of new nationalism and is marely a further development of the same spirit in an extreme form. Same in methods of operation it is hard to distinguish the terrorists from the true Nationalists of the new school.—H. F. Movement—B. C. Majumdar, P. 160-61.

१९वीं शती के उत्तरार्द्ध से ही इस तरह की संस्थाओं की स्थापना होने लगी थी। किन्तु तब वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं और बहुत कारगर नहीं हुई थीं। वंग-विभाजन ने इस आन्दोलन को गति दी। 'युगान्तर' नामक पत्र ने भी इस आन्दोलन को प्रगतिशील बनाया। इस आन्दोलन की दिशाएँ निम्नलिखित थी[1] :—

१—अस्त्र-शस्त्र का संग्रह

२—सरकारी अधिकारियों और उनके जासूसों की हत्या।

३—राजनैतिक डकैती।

इस आन्दोलन ने राजनैतिक स्वातंत्र्य की उपलब्धि के लिए सशस्त्र विद्रोह किया और लक्ष्य सिद्धि के साधन-स्वरूप हिंसा को अंगीकार किया। दल के जो सदस्य मुखबिर हो जाते थे उनपर खास नजर रखी जाती थी और उनकी हत्या कर दी जाती थी। अलीपुर षड्यन्त्र केस के मुखबिर गुसाई की हत्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।[2] इस आन्दोलन के नेताओं में अरविन्द घोष और वारीन्द्र घोष के नाम लिये गये। सन् १९०८ में अरविन्द पर एक मुकदमा भी चलाया गया था किन्तु विश्वसनीय साक्षी के अभाव में सरकार वह मुकदमा हार गई। ३० अप्रैल सन् १९०८ को मुजफ्फरपुर (बिहार) में खुदीराम बोस ने स्थानीय जिला जज किंग्सफोर्ड के धोखे में श्रीमती और कुमारी कैनेडी पर बम फेंका जिसके कारण उनकी मृत्यु हो गई। खुदीराम बोस के सहयोगी प्रफुल्ल नामक व्यक्ति ने जब यह देखा कि वह गिरफ्तार कर लिया जायेगा तो उसने आत्महत्या कर ली। खुदीराम पर मुकदमा चला और उसे फाँसी की सजा हुई। इस फाँसी की खबर पाकर शोक मनाया गया।[3] ऐसा लगता है कि इस घटना ने सारे देश को झकझोर दिया। तभी तो खुदीराम बोस की तस्वीरें सारे देश में बँटी थीं। सरकार इस विप्लव से घबड़ा उठी। उसने भूपेन्द्र नाथ दत्त को, जिन्होंने अपने 'युगान्तर' नामक पत्र के द्वारा हिंसा का खुल कर समर्थन किया था, जेल की लम्बी सजा दी। लेकिन दण्ड का भय जनता के हृदय से भागता जा रहा था। सन् १९०८ को महाराष्ट्र में तिलक को गिरफ्तार किया गया। आन्ध्र के नेता सर्वोत्तम राव को भी नौ महीने के लिए कैद में डाल दिया गया। अंग्रेजों का क्रोध कुछ इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ

---

1. The most important activities were the collection of arms, murder of obnoxious officials and political dacoities.—H. of Freedom Movement—R. C. Majumdar, P. 286.
2. Social Background of India Nationalism—A. R. Desai, P. 301-2.
3. H. F. M—R. C. Majumdar, P. 173.

था कि जब सर्वोत्तम राव ने अपनी सजा के विरुद्ध अपील की तो उसकी नौ महीने की सजा को बढ़ा कर हाईकोर्ट ने ३ साल की सजा कर दी।[1]

सन् १९०८ में सरकार ने दो महत्वपूर्ण कानून पास किये—

(१) सभाबन्दी कानून

(२) प्रेस ऐक्ट।

इन कानूनों का भारत की जनता ने बड़ा विरोध किया। केन्द्रीय धारा सभा में सभाबन्दी कानून के बिल पर भाषण करते हुए श्री गोखले ने सरकार को सावधान किया था कि देश के युवक हाथ से निकले जा रहे हैं और यदि उन्हें वश में न रखा जा सका तो हमें दोष मत देना।[2]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि देश का यह वर्ग हिंसात्मक ढंग से संघर्ष करने के लिए खड़ा हो गया था। देश के बाहर भी ऐसी संस्थाएँ बनीं और उन्होंने भी भारतीय आतंकवाद को पर्याप्त बल पहुँचाया। इस क्रम में रासबिहारी घोष, लाला हरदयाल, अमीरचन्द आदि के नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हिन्दू महासभा के प्राण वीर सावरकर भी एक ऐसे ही अनोखे शूरमा सिद्ध हुए थे।

पंजाब में आर्यसमाज ने भी आतंकवाद को बल पहुँचाया। पंजाबी क्रान्तिकारियों में ऐसे बहुतेरे लोग थे जो आर्यसमाज से सम्बद्ध थे। बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, और पंजाब आतंक के खास अच्छे और मजबूत गढ़ सिद्ध हुए।

भारत में कांग्रेस के उग्र दल और आतंकवादियों के किये जो कुछ हो रहा था उसे देख कर अंग्रेज हतप्रभ रह गये। बंगाल में बंग विभाजन के विरुद्ध जब आन्दोलन छिड़ा था तब आन्दोलनकारियों ने माँ काली से आशीष लिया था। बंगाल में खुले ढंग से यह भी कहा गया था कि राष्ट्रभक्ति प्रत्येक भारतीय का पवित्र कर्तव्य है। आगे चल कर अरविन्द ने राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन को प्रभु-प्रेरित आन्दोलन बताया। अपने एक भाषण में बम्बई में उन्होंने कहा था कि स्वतंत्रता के लिए प्रत्येक देश को बलिदान देना होता है। परमात्मा ने भारतीयों से बलिदान माँगा है और हमें प्रभु की उस इच्छा को पूरा करना है। अरविन्द ने तो यहाँ तक कहा कि अश्विनी कुमार दत्त और तिलक आन्दोलन के असली नेता नहीं हैं, असली नेता तो स्वयं परमात्मा हैं,

---

१. कांग्रेस का इतिहास, खण्ड-१, पृ० ९९।

२. वही।

जिन्होंने अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए इन नेताओं को नियोजित किया है।[1] अरविन्द ने इस बात की भी परवाह नहीं की कि भारत की मुक्ति के लिए उद्योग करने वालों की शक्ति सीमित है और उनके साधन स्वल्प हैं और जिससे मुकाबला है वह ब्रिटेन एक अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य खड़ा कर चुका है। उन्होंने अपनी पत्नी के नाम अपने एक पत्र में लिखा था—यदि कोई राक्षस मेरी माँ की छाती पर चढ़ कर उसका रक्त पीना चाहता हो तो क्या उस समय मैं यह विचारने बैठूंगा कि मुझमें उस राक्षस से लड़ने की शक्ति है या नहीं ? इस समय मेरा एक ही कर्तव्य होगा कि मैं अपनी माँ की रक्षा में आ जाऊँ। इसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा कि भारतीयों को एकमात्र चिन्ता इस बात की होनी चाहिए कि उन्हें अपनी मातृभूमि की रक्षा करनी है। एक क्षण के लिए भी उन्हें संघर्ष के परिणाम के सम्बन्ध में विचारना नहीं है।[2]

एक सामान्य अंग्रेज की यह सब देखकर जो प्रतिक्रिया हो सकती थी उसे बड़े अच्छे ढंग से हेनरी डाडवेल ने अपनी पुस्तक 'ए स्केच ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

Kali, the wife of Siva is identical with Bhawani, tha patron Goddess of Sivaji and the deity who guided and protected the Thags in their murderous enterprises. She was now envoked by the politicians as the patron of the boycott. Hecatombs of goats were sacrificed in the Temple at Calcutta. Not for a century had her court run with such streams of blood; and at the same time ast he public leaders of the movement invoked her aid, groups of boys still at school, and youths still at college bound

---

1. Repression is nothing but the hammer of God........ without suffering there can be no growth...... They do not know that great as he is, Ashwani Kumar Dutt is not the leader of this movement, that Tilak is not the leader......God is the Leader .....It is because God has chosen to manifest Himself and has entered into the hearts of His people that we are rising again as a nation......It will move forward irresistively until Gods will in it is fulfilled.
   —H. Freedom of Movement—R. C. Majumdar, P 187.
2. Ibid.

themselves before her emage in to confederacies of murder, vowing to offer her blood, not of goats but of every European in Bengal. The English Government was to be over thrown by terrorism.[1]

अंग्रेजों को यह समझ में नहीं आ रहा था कि राजनैतिक अधिकारों और शासन-विषयक सुधारों की माँग इस ढंग से क्यों की जा रही थी। वास्तव में अंग्रेज जाति के लिए यह अनुभव बिल्कुल नया था। उनके अपने देश में जिस आसानी से बिना रक्तपात किये शासन-क्रम बदला करता है वही उनका देखा हुआ था। उसके बाहर देखने का उनका अभ्यास नहीं था। एक पराधीन राष्ट्र को अपनी मुक्ति के लिए क्या कुछ करना पड़ता है, यह डाडवेल जैसे व्यक्तियों को विदित नहीं था। शायद इसी से उन्होंने आक्रोश के साथ अपना यह फतवा दिया है—It was one thing to encourage enlightened leaders who desired to take their place in the administration of the Empire, it was quote another to encourage men who would use any power they could obtain to promote the over throw of British rule in India.[2]

कहना नहीं होगा कि ये विचार उस साम्राज्यवादी ब्रिटेन के थे जो भारत को अपने पंजे से मुक्त करने को तैयार नहीं था। लेकिन लार्ड कर्जन के शासन-काल के अन्तिम दिनों से भारत में जो असंतोष और विद्रोह भाव फैल रहा था उसकी वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे।

इस युग में जो ब्रिटिश नीति चलाई जा रही थी उसकी पोल खोलते हुए श्री आर० सी० मजुमदार ने बताया है कि—एक ओर तो सरकार दमन कर रही थी और दूसरी ओर नरम पंथियों को अपना समर्थन देकर उनको प्रभावकारी बना रही थी ताकि देश में विद्रोह न फैले। इनके अलावे देश की भिन्न जाति, धर्म और स्वार्थ से जनता के बीच पारस्परिक द्वेष, घृणा और अलगाव पैदा कर फूट डाल कर राज्य करना चाहती थी।[3]

---

1. A Sketch of the History of India—Henery Dodwell, P. 272-73
2. Ibid., P. 273.
3. The two principles of Repression can reforms and Rally, the moderates because henseforth the watchword of the British politicians. To there too may be added the old policy of Devide and Rule, which now meant in practice creating a split between the the Hindus and Mohemmadans by all possible means, and showing special favours to the latter.

देश के अगले इतिहास की सचमुच यही दिशा है ही। सन् १९०५ में कर्जन के उत्तराधिकारी के रूप में लार्ड मिंटो की नियुक्ति हुई। एक वर्ष के बाद ही इंगलैण्ड में अनुदार शासन का तख्ता पलट गया और लिबरल दल शासनारूढ़ हुआ। लार्ड मिन्टो को शासन का व्यापक अनुभव था। भारत आने के बाद सन् १९०६ में ही उसने यह अनुभव किया कि शासन-सुधार के नाम पर कुछ न कुछ करना ही होगा। इङ्गलैण्ड का लिबरल शासन दुनियाँ को यह दिखाना चाहता था कि वह भारत के प्रति भी उदार है, लेकिन सच्चाई यह थी कि वह भी भारत को कुछ देना नहीं चाहता था।[1] इसी भाव-स्थिति में 'मोर्ले-मिन्टो शासन सुधार' की योजना तैयार हुई। स्वयं लार्ड मोर्ले ने अपने शासन-काल में किये जाने वाले सुधार का पर्दाफाश यह कह कर किया—यदि यह कहा जाता हो कि ये शासन सुधार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दुस्तान को प्रातिनिधिक व्यवस्था की ओर ले जाते हैं तो कम से कम मैं तो इनसे कोई वास्ता नहीं रखूंगा।[2]

मोर्ले-मिन्टो सुधार-योजना के अन्तर्गत भारत के प्रशासन में निम्नलिखित परिवर्तन हुए—

(क) वायसराय की कार्य-कारिणी समिति में एक भारतीय की सदस्य रूप में नियुक्ति—यह नियुक्ति सर्वप्रथम बंगाल के श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा को प्राप्त हुई।

(ख) प्रान्तीय कार्य-कारिणी समितियों में भारतीय सदस्यों की नियुक्ति—जिन प्रांतों में गवर्नरों की कार्य-कारिणी समिति नहीं हो उनमें वैसी समिति का गठन।

(ग) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या वृद्धि—इन सभाओं में

---

1. These views which to Minto were merely a matter of common sense fell in aptly with Morley's peculiar situation—that of a Liberal disirous of puttiug Libeial principles into practice without incurring the obvious consequence of releasing India from the tutelage of London. So we find a Libcral statesman intimately concerned in schemes intended to invest with political influence a class more predisposed to Conservatism than any other in the world.—A. S. of the H. of India—H. Dodwell, P. 281.

2. History of Congress—Part I, P. 23.

मनोनीत तथा निर्वाचित दो प्रकार के सदस्य होते थे। इस सुधार के अनुसार दोनों प्रकार के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। मोर्ले-मिन्टो सुधार की ये तीन दिशाएँ थीं :—

(१) भारत में एक ऐसा मंच तैयार करना जिसके माध्यम से भारतीयों के राजनीतिक विचारों का अनुमान किया जा सके।

(२) विद्यमान धारा-सभाओं को अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक और प्रभावकारी बनाना।

(३) भारतीयों की शासन की कार्य-कारिणी समितियों में नियुक्ति।

कांग्रेस के नरम पंथियों को इन सुधारों से संतोष हुआ और अंग्रेजों की नीयत के प्रति उनकी आस्था और भी दृढ़ हुई।[1] लेकिन कांग्रेस के उग्र पंथियों को इस सुधार योजना से तनिक भी संतोष नहीं हुआ। एक बात यह जरूर हुई कि यह समझ लिया गया कि उनके बहिष्कार आन्दोलन की आंशिक सफलता का परिणाम मोर्ले-मिन्टो सुधार है। इससे संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। एक दूसरी बड़ी बात यह हुई कि भारत की आजादी का प्रश्न संसार के सामने खड़ा हो गया।[2]

अंग्रेज इस देश की अखंडता के द्रोही थे। इससे इस योजना में उन्होंने एक खतरनाक बात रखी जिनके फलस्वरूप धारा-सभाओं का चुनाव हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र के आधार पर हुआ। मुसलमानों को अनुचित रूप से बहुत अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों की उम्मीदवारी की पृथक्-पृथक् योग्यताएँ भी रखी गईं। इस प्रकार मुसलमानों को एक विशेष प्रकार का पक्षपातपूर्ण संरक्षण दिया गया, जिसकी न तो माँग थी और न अपेक्षा ही।

इन सबका उद्देश्य था कि मुसलमान हिन्दुओं से अलग जा पड़ें और उनके मुकाबले अंग्रेजों को अपना अधिक हितू समझें और कालान्तर में उन पर निर्भर हो जायँ। इससे अंग्रेजों को बन्दर बाट करने का मौका भी मिलता। २६ दिसम्बर सन् १६०७ को अंग्रेजों के इशारे पर ही मुस्लिम लीग नामक संस्था का जन्म हुआ जिसका पहला अधिवेशन करांची में हुआ। मुस्लिम लीग का जन्म किन भावनाओं को लेकर हुआ, यह इस बात से ही प्रकट है कि मुस्लिम लीग का अधिवेशन करांची में करने का कारण

---

1. Every heart is beating in unison with reverence and devotion to the British throne over-flowing with revived confidnce in and gratituded towards British statemenship.—India today —R. P. Dutt, P. 274.
2. India Today—R. P. Dutt, P. 274,

यह बताया गया था कि वहीं मुहम्मद बिन कासिम पहली बार इस्लाम की मशाल लेकर आया था। लीग के प्रथम सभापति ने जो बढ़-चढ़ कर भाषण दिया था उसका एक महत्वपूर्ण अंश नीचे अंकित है :—

"If a handful of men under a boy could teach Kalima to the territory of Sindh and Promilgate the law of the true Shariat of God and His Rasul, can seven crores of Musalman not make their social and political life pleasent."[1]

इसी संस्था ने देश में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनवाये। देश के नेताओं ने यह सोचा कि मुसलमानों को राजी-खुशी करके पृथक् निर्वाचन पद्धति का अन्त करना चाहिए। और यहीं से मुसलमानों की इस संस्था मुस्लिम लीग की खुशामद शुरू हो गई। हिन्दू नेताओं और राष्ट्रीय कांग्रेस ने जिस अनुपात में मुसलमानों की चिरौरी की, उसी अनुपात में उनकी माँगें भी बढ़ती गयीं।[2] और उन्हें तब तक संतोष नहीं हुआ जब तक उन्होंने देश का अंगभंग ही नहीं करा लिया।

अंग्रेजों की राजनीति की सफलता इस बात में अवश्य देखी जा सकती है कि इस मुस्लिम लीग को खड़ा कर उन्होंने कांग्रेस के सारे देश की प्रतिनिधि संस्था होने के दावे के आगे प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया। देश की राजनीति के अगले इतिहास ने कांग्रेस को दो राष्ट्रों की इस कल्पना का उग्र विरोध करते हुए देखा है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के संघर्ष का आज भी यही मौलिक आधार है।

जार्ज-पंचम के राज्याभिषेक के अवसर पर बंगाल विभाजन को रद कर दिया गया। इसका परिणाम हुआ कि बंगालियों की राष्ट्रीयता का पारा बहुत नीचे आ गया और जैसा कि पं० जवाहर लाल जी ने कहा, उनका जोश ठंडा पड़ गया।[3] जिन मुसलमानों को बड़े-बड़े प्रलोभन देकर बंगाल विभाजन के आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा किया था उनके बीच गहरी हताशा फैली और अंग्रेजों की नीयत के प्रति उनकी आस्था डगमगा गई। इस तरह लॉर्ड कर्जन की अदूरदर्शिता के कारण बंगाल का जो विभाजन

---

1. Muslim League—P. 71-72.

2. The oft-repeated public declaration of the Hindu Leaders that no political progress was possible in India without an understanding between the Hindus and Muslims had an inevitable tendency to raise the Muslim demands higher and higher. H. F. M.—R. C. Majumdar, P. 331.

3. World History, P. 332,

हुआ, उसने पहले तो बंगाल की राष्ट्रीयता को गहरी चोट दी और बाद में बंग विभाजन के रद होने पर मुसलमानों को अन्यथा सोचने के लिए भी विवश किया। इस ओट में नियति का यह एक खेल ही चल रहा था।

जुलाई सन् १९१४ में जर्मनों के साथ अंग्रेजों का युद्ध छिड़ा। इस युद्ध को इतिहास ने प्रथम महासमर का नाम दिया है। कैसर की सेना का दबाव कुछ ऐसा भारी पड़ा कि लगा कि महासमर में अंग्रेजों की करारी हार होगी। ब्रिटेन ने भारत में जो शासन-व्यवस्था चला रखी थी वह बहुत दूर तक भारत में ही केन्द्रित थी। ब्रिटिश साम्राज्य का भारत अंग तो था किन्तु भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार ये दो पर्यायवाची शब्द नहीं थे। अंग्रेजों के शासन की यह विलक्षणता ही थी। युद्ध में जब ब्रिटेन भयंकर खतरे में फँसा तब हिन्दुस्तान से लार्ड हार्डिंग ने भारतीय सेना को लड़ने के लिए फ्लान्डर्स-रणक्षेत्र में पहुँचा दिया। इस सेना ने मित्र-राष्ट्रों को एक बड़े संकट से उबार लिया। युद्ध छिड़ने पर कांग्रेस ने भी अपने प्रस्तावों के द्वारा सरकार को सहयोग का आश्वासन दिया। सन् १९१४ से लेकर सन् १९१८ तक प्रति-वर्ष कांग्रेस का यह प्रस्ताव वार्षिक अधिवेशन में दुहराया जाता था। युद्ध की समाप्ति के बाद कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में सम्राट को बधाई का संदेश भी भेजा गया और उसी में उनको राजभक्ति का भी आश्वासन दिया गया। इन वर्षों में कांग्रेस अधिवेशनों में सरकारी अधिकारी भी सम्मिलित होते थे और कांग्रेस को सरकार की विशेष कृपा भी प्राप्त हुई। उन दिनों के कांग्रेसी नेता लाला लाजपत राय, मिस्टर जिन्ना और श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा ने भारत मन्त्री को एक पत्र लिख कर यह बताया था कि भारत के देशी-नरेश और भारतीय जनता प्राणपण से सरकार की सहायता के लिए कटिबद्ध है।[1] स्वयं गांधी जी ने सरकार की बड़ी सहायता की थी। इस प्रकार अंग्रेजों ने, भारत के उपरले वर्ग से युद्ध-प्रयत्न में सहायता और सहयोग पाने में सफलता पाई। लेकिन देश की आजादी का प्रश्न आँखों से ओझल तब भी नहीं हुआ था। फ्लान्डर्स के रणक्षेत्र में भारतीय जवानों ने जो वीरता दिखलाई थी उसका स्मरण कराते हुए कांग्रेस ने माँग की कि आपत्ति के समय हिन्दुस्तान के लोगों ने जिस उत्कृष्ट राजभक्ति का परिचय दिया है उसे ब्रिटिश सरकार और अधिक स्थिर

---

1. The princes and the people of India will readily and willingly cooperate to the best of their ability and afford oportunities of securing that end by placing the resources of their country at His Majesty's disposal for a speady victory for the Empire.—India Today, R. P. Dutt, P. 275.

और गम्भीर बनाये। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर सम्राट की भारतीय तथा अन्य प्रजा के बीच जो आपत्तिजनक भेदभाव है जिसके कारण भारतीयों को हीनता का कष्टप्रद अनुभव होता रहता है, शासन उसे दूर करे। और २५ अगस्त सन् १६११ को भारत में जिस प्रादेशिक स्वतंत्रता को लागू करने का वादा किया था उसे अविलम्ब पूरा किया जाये।

लेकिन जिस समग्र भारतीय जनता के नाम पर कांग्रेस स्वतन्त्रता की माँग करती थी उसकी आशा-आकांक्षा कांग्रेस के प्रस्तावों में भरसक प्रकट नहीं हो पायी। भारतीय जनता युद्ध के सम्बन्ध में उतना भी उत्साहित नहीं थी जितना उत्साहित कांग्रेस के नेता थे।[1] साधारण अनुभव तो यही था कि ब्रिटेन की इस परेशानी में ही कहीं भारत की मुक्ति का संकेत भी छिपा हुआ है। सन् १६१४ में छः वर्षों की जेल की सजा काट कर तिलक बाहर आ चुके थे। उनकी ही प्रेरणा से देश अंग्रेजों की स्थिति का लाभ उठाना चाहता था। प्रभावशाली नेताओं में केवल गांधी जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो ब्रिटेन की मुसीबत का लाभ उठाना पसन्द नहीं करते थे और बिना किसी शर्त के ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्नों के साथ सहयोग कर रहे थे।

जर्मनी की कैसर शाही के विरुद्ध युद्ध-रत मित्र राष्ट्रों ने उद्देश्य की घोषणा करते हुए यह दावा किया था कि वे संसार में स्वतंत्रता और स्व-शासन के अधिकार को अक्षुण्ण रखने के लिए लड़ाई लड़ रहे थे।[2] भारत युद्ध के इस प्रकट उद्देश्य की सच्चाई की परख करना चाहता था। राजनीतिक क्षेत्रों में यह विश्वास किया जाने लगा कि उपर्युक्त ब्रिटिश जनता भारत के साथ न्याय करेगी और इस देश को भी स्वराज्य की प्राप्ति होगी, अन्यथा मित्र राष्ट्र के सारे दावे झूठे सिद्ध होंगे। लेकिन

1. A modern Historian would undoutedly endors their view that there was no real and genuine war-enthusiasm or even loyalty among the people of India. Indeed there can be hardly any doubt that the pieces platitudes uttered by Indian leaders indicating the support of, and sympathy with the British during the First World War, did not represent the feelings of India.—H F. M.—R. C. Majumdar, P. 350.

2. We fight for the liberty, the self Government and the undictated development of all peoples. No people must be forced under sovereignty under which it does not wish to live.
—Declaration of American President–Wudro Wilson.

इस मानी में साम्राज्यवाद का इतिहास सचमुच बहुत ही विचित्र होता है। जिन आदर्शों की दुहाई देकर मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी से युद्ध किया वे सारे के सारे उनकी भौगोलिक सीमा के भीतर ही बरते जाने के लिए थे। जनतंत्र के उच्चादर्शों का भारत जैसे गुलाम देश केवल सपना ही देख सकते थे।

कांग्रेस के नेता ईमानदारी के साथ अंग्रेजों का साथ दे रहे थे और सोचते थे कि अंग्रेज भी उतने ही ईमानदार होंगे। इसलिए उन्होंने भारत में स्वशासन की स्थापना के बाधक कारणों के प्रतिबंध को दूर करने का निश्चय किया।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने देखा कि कांग्रेस दो भागों में बँटी हुई है। नरम दल के नेता श्री गोखले का १९ फरवरी सन् १९१५ को देहान्त हो गया। इस दल के दूसरे नेता दीनशा वाचा जराजीर्ण हो गये थे। ऐसे समय दोनों दलों को मिलाने का एक मौका निकल सकता था। किन्तु दुर्भाग्यवश यह मेल न हो सका।

नेताओं ने ऐसा अनुभव किया कि देश की राजनीतिक प्रगति के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता की अपेक्षा है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि कांग्रेस मुस्लिम लीग और मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए कुछ भी करने को तैयार थी लेकिन उसके हाथ कुछ नहीं लग रहा था। सितम्बर सन् १९१६ में केन्द्रीय धारा-सभा के १९ गैर सरकारी सदस्यों ने शासन-सुधार के लिए एक ऐसी योजना स्थिर की जो देश के हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को स्वीकृत होती।

अंग्रेजों ने अपने जानते हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इतनी बड़ी खाई कर दी थी, जिसका पाटना सहज नहीं था। लेकिन एक ऐसी घटना हो गई जिसने जादू का काम किया। ब्रिटेन ने मिस्र को हथिया कर भारत के मुसलमानों की भावना पर बड़ी जबर्दस्त ठेस पहुँचायी। मोरक्को के सम्बन्ध में फ्रांस के साथ ब्रिटेन के समझौते और पर्शिया के सम्बन्ध में रूस के साथ उसकी सन्धि ने यह बता दिया कि अंग्रेज मुसलमानों के सच्चे हितचिंतक नहीं हैं। सन् १९११ में इटली ने जब त्रिपोली पर आक्रमण किया तब अंग्रेजों ने इटली का पक्ष लिया था। यह घटना भारत के मुसलमानों की अंग्रेजों के प्रति भक्ति के सामने प्रश्नसूचक चिह्न होकर आई।

देश के नेताओं ने मुसलमानों की इस परिवर्तित मनःस्थिति का देश के हित में लाभ उठाने का विचार किया। केन्द्रीय धारा-सभा के १९ सदस्यों ने जो खरीता उपस्थित किया था उसमें मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र स्थिर करने का प्रस्ताव किया गया था। सन् १९०९ से ही कांग्रेस इस प्रकार की माँग का विरोध कर रही थी। किन्तु; देश की एकता का ख्याल करके कांग्रेस ने १९ सदस्यों के खरीते को प्रायः स्वीकार कर लिया। कांग्रेस के इस निर्णय के औचित्य में शंका करते हुए

श्री आर० सी० मजुमदार ने कहा है कि उक्त निर्णय कांग्रेस के लिए एक प्रकार की राजनीतिक हार ही था।[1] उस समय लोगों को इस बात का जरा भी एहसास नहीं हुआ कि पृथक् निर्वाचन की माँग को स्वीकार करने का सीधा मतलब 'दो राष्ट्रों' के उस सिद्धान्त को स्वीकार करना था जिसके कारण कुल ३० वर्षों में ही देश का विभाजन हुआ। साधारण जन-समाज में हिन्दू-मुस्लिम समझौते से आनन्द का एक ज्वार उमड़ पड़ा। ब्रिटिश सरकार भौंचक रह गई। उसके हाथ से एक बड़ी बात निकल गई थी।

हमने ऊपर दिखाया है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट का काँग्रेस के दोनों वर्गों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न विफल हो चुका था। तिलक हाथ पर हाथ धरे बैठने को तैयार नहीं थे। उन्हें अंग्रेजों की नेकनीयती में वह आस्था नहीं थी जो गांधी जी को थी। तिलक एक विशेष लक्ष्य और एक विशिष्ट कौमी नारे के साथ युद्धघोष करने के पक्ष में थे। लोकमान्य को जोसेफ बेप्टिस्टा के रूप में एक योग्य सहयोगी मिले, होमरूल के रूप में एक नारा मिला और आन्दोलन का लक्ष्य स्वराज्य भी दीख गया। लोकमान्य ने जैसी संस्था खड़ी की थी वैसी ही संस्था श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भी १ सितम्बर सन् १६१६ को खड़ी की। ये दोनों संस्थाएँ स्वतंत्र होकर भी परस्पर पूर्ण सहयोग करती रहीं। बम्बई और मध्य-प्रदेश में तिलक ने अपना काम आरम्भ किया और शेष भारत में स्वराज्य का नारा बुलन्द करने का उत्तरदायित्व श्रीमती एनी बेसेन्ट ने लिया। सरकार पूर्ववत् तिलक के विरुद्ध थी। 'हिन्द केसरी' नामक उनके पत्र से सरकार ने २००० रु० की जमानत तलब की और उसे २४ अगस्त को जब्त करके उससे फिर १०००० रु० की जमानत माँगी गई। तिलक पर आपत्तिजनक भाषण करने के लिए मुकदमा भी चलाया गया। यह मुकदमा बम्बई-हाईकोर्ट तक गया जहाँ तिलक के पक्ष में फैसला हुआ। इससे देश में तिलक की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

श्रीमती बेसेन्ट ने यह दावा किया कि होमरूल माँग इसलिए उचित है कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीनता का जन्म सिद्ध अधिकार है। उनके अनुसार होमरूल की आवश्यकता इसलिए भी है कि भारत के साधनों का उपयोग उसके हितों में न करके ब्रिटिश साम्राज्य के हित के लिए किया जा रहा था। ब्रिटेन की साम्राज्यवादी लिप्सा के कारण भारतीय हितों को बड़ी हानि हो रही थी। यद्यपि उपकृत ब्रिटिश जनता के हृदय में रह-रह कर यह बात आती थी कि भारत को उसकी सेवा का पुरस्कार

---

१. एच० एफ० एम०—आर०सी०मजुमदार, पृ० २५३।

मिलना ही चाहिए[1] तथापि भारतीय अधिकारियों को उदारता और न्याय की ऐसी कोई प्रेरणा नहीं हो रही थी ।

ब्रिटिश अधिकारियों की एतत् विषयक भावना का पता वंगाल के गवर्नर लार्ड रानाल्डशे के उस कथन से चला जिसमें उन्होंने वताया कि भारत में शासन सुधार के लिए होने वाले आन्दोलनों से जर्मनों को वढ़ावा मिलता है। यदि ये आन्दोलन वन्द हो जायँ तो शत्रुओं को मालूम हो जाये कि सारा ब्रिटिश साम्राज्य उनसे जूझने के लिए एक-जुट हो गया है। ऐसे लोगों ने यह भी कहा कि युद्ध के समय शासन सुधार की बात नहीं की जा सकती। इतिहास का एक वड़ा आश्चर्य यह है कि इसी महायुद्ध काल में आयरलैण्ड का होमरूल बिल ब्रिटिश पार्लमेन्ट के समक्ष उपस्थित हुआ था और उस समय किसी ने यह नहीं कहा था कि आयरलैण्ड की आजादी के लिए उस समय उपयुक्त अवसर नहीं था।[2] भारत के राष्ट्रवाद ने इस सम्वन्ध में वड़े जोरदार ढंग से इस वात पर आपत्ति की और कहा कि जव दुनिया के राष्ट्र अपनी आजादी के लिए महायुद्ध में जूझ रहे हों उस समय भारत को अपनी आजादी की माँग उपस्थित करने से रोकना एक प्रकार का पाखण्ड है ।

इसी समय भारत की माँग को खटाई में डालने के उद्देश्य से कुछ चतुर लोगों ने, जिन्हें राउन्डटेवुल ग्रुप कहा गया है, एक चालाक चाल चली। इस वर्ग के लियोनेल कर्टिल और विलियम ड्यूक ने भारत में प्रान्तीय स्तर पर उत्तरदायी शासन की वात उठाई। इन लोगों ने वातें तो उत्तरदायी शासन की लेकिन ध्यान में यह भी रखा था कि भारतीयों को कोई भी प्रभावकारी शक्ति प्राप्त न हो।[3] आगे चल कर प्रान्तीय क्षेत्र में जिस द्वैध शासन का सूत्रपात हुआ उसका वीज रूप यही योजना है। ड्यूक ने ही मई सन् १६१६ में द्वैध शासन का यह खरीता तैयार कर लिया था। कर्टिल ने अक्टूवर सन् १६१६ में इस प्रस्ताव को थोड़ा वहुत संशोधित किया और अप्रैल सन् १६१७ में वह प्रकाशित भी हुआ ।

वात यह थी कि भारत में जाग्रति की जो लहर आई थी वह अंग्रेजी शिक्षा, जन-

---

१. एच० एफ० एम०—५०० ।

2. H. F. M.—501.

3. They adopted the devices of holding out before the Indians the alluring ideal and dazzling prospect of Responsibls Govt. but taking good care not to place any real and effective power in tneir hands—H. F. M., P. 502.

तंत्र विषयक ब्रिटिश आदर्श और रूस पर जापान की विजय से प्रेरित थी। लार्ड मिन्टो को बातचीत के क्रम में श्रीमती बेसेन्ट ने यह तथ्य बहुत स्पष्ट ढंग से समझा भी दिया था। इस जाग्रति के थोड़े और कारण थे जिनकी ओर श्रीमती बेसेन्ट ने अपने कांग्रेस अध्यक्षपदीय भाषण में इशारा किया था। वे समझती थीं कि आधुनिक विज्ञान के विकास ने बौद्धिक गुलामी के आल-जाल को तोड़ दिया है। इन्साइक्लोपीडिया की रचना ने ज्ञान का एक विस्तीर्ण सागर, मनुष्य के सामने, लहरा दिया। रूसी और टामस पैनी की रचनाओं ने मनुष्य जाति को एक नई ही चेतना दी थी। जापान में होने वाला परिवर्तन और रूस के मुकाबले उसके पराक्रम का प्रदर्शन, चीन में मन्चूवंश का पराभव और चीनी गणराज्य की स्थापना ये कुछ ऐसे ही महत्वपूर्ण प्रेरक तथ्य हैं जिनसे स्वतंत्रताकांक्षी भारतीय लोकमानस अप्रभावित नहीं रह सका। ब्रिटेन ने अपनी साम्राज्यलिप्सा में जागरण की इस बाढ़ के आगे बाँध बाँधना चाहा। उसने एशिया के उत्थान में बाधा और अपने ही समान दूसरे साम्राज्य-लिप्सु रूस के साथ साँठ-गाँठ करके अपना प्रभाव-क्षेत्र स्थिर कर लिया। इधर रूस में स्थिति-परिवर्तन हुआ और जारशाही का अन्त हो गया। रूस की क्रान्ति ने स्थिति को ऐसा मोड़ दिया जिसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता।[1] भारत ने उत्साह के साथ देखा कि बात की बात में रूस की जारशाही समाप्त हो गई और चीनी राजाओं के स्वेच्छाचार का भी अन्त हो गया। उसके सामने ही वह छोटा-सा देश जापान भी था जिसने रूस की विशाल शक्ति के साथ संघर्ष किया, विजय पाई और एशिया के राष्ट्रों को यह बताया कि यूरोप की बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी युद्ध-क्षेत्र में पराजित किया जा सकता है। यदि भारत ने इन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ब्रिटिश-सिंह की परवाह न करके स्वराज्य की माँग प्रस्तुत की तो वह स्वाभाविक ही था।

साम्राज्यवादी ब्रिटेन को उच्च आदर्शों की दुहाई देते देख कर श्रीमती बेसेन्ट को लगा था कि वह भारत में फूटा ढोल पीट रहा है। अपने समस्त आदर्शों के विषय में मापदण्ड के दो आधार—एक स्वदेश के लिए और दूसरा उपनिवेशों के लिए—ग्रहण कर वह पाखण्ड कर रहा है।[2]

---

1. Congress Presidential Addresses—P. 310-11.

2. Britain for the British was right and natural, for the Indians was wrong even seditious. British support for British trade was patriotic and proper in Britain. swadeshi goods for Indian showed a petty and anti-Imperial spirit in India, Ibid. P. 316.

इसी जमाने में भारतीय उद्योगपतियों के बीच जागरण फैला। युद्ध-काल में इस वर्ग को अंग्रेज शासकों के हाथों बहुत दूर तक भुगतना पड़ा था। अंग्रेज शासकों की सहानुभूति-शून्य मनोवृत्ति ने उनकी जड़ पर ही कुठाराघात किया और इसने अपने हितों की रक्षा के लिए राजनीति के मंच पर उतरना आवश्यक समझा।[1]

इन भारतीय उद्योगपतियों ने अनुभव किया कि युद्धोपरान्त होने वाले व्यावसायिक संघर्ष में जिन्दा रहने के लिए यह अत्यावश्यक है कि देश में स्वशासन हो जो विदेशी हितों के मुकाबले स्वदेशी हितों का संरक्षण कर सके। अंग्रेजों ने ब्रिटिश बैंकों के प्रति जो पक्षपातपूर्ण नीति अख्तियार की उसका प्रभाव भारतीय उद्योग-धन्धे पर पड़ रहा था। इससे भी देशी उद्योगपतियों ने यह चाहा कि देश की स्वतन्त्र आर्थिक नीति होनी चाहिए। लेकिन स्वतन्त्र आर्थिक नीति का निर्धारण बिना स्वराज्य के सम्भव नहीं था।

भारत में मेजिनी के विचार बड़ी तेजी के साथ फैल रहे थे। मेजिनी ने कहा था—परमेश्वर ने प्रत्येक जाति के जिम्मे एक कर्त्तव्य रख छोड़ा है जिसे टाला भी नहीं जा सकता।—किन्तु. एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपनी प्रतिभा का, अपने व्यक्तित्व का विकास गुलाम रह कर नहीं कर सकता। भारत वीर-प्रसू रहा है। उसकी सन्तान भेड़-बकरी नहीं है—यह भाव भी धीरे-धीरे फैलता जा रहा था। मेजिनी की ही तरह श्रीमती बेसेन्ट ने कहा कि प्रत्येक राष्ट्र को परमात्मा ने एक न एक उत्तरदायित्व दे रखा है। उसकी व्यवस्था के अनुसार पर्शिया को पवित्रता, मिस्र को विज्ञान, ग्रीस को सौन्दर्य और रोम को विधि (लॉ) का प्रसार करना है। उसी परमात्मा ने भारत की सृष्टि धर्म का प्रसार करने के उद्देश्य से की है। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए भारत का बन्धन मुक्त होना आवश्यक है। इधर अंग्रेजों ने भारत की राष्ट्रीयता को कुचल दिया है। उसके पौरुष, उसकी जीवनी शक्ति और उसकी सारी अच्छाइयों को योजनाबद्ध ढंग से विनष्ट कर दिया है ताकि सदा के लिए यह देश उनका गुलाम बना रहे। श्रीमती बेसेन्ट ने भारत को सिखाया कि संसार में जब किसी राष्ट्र की आत्मा का इस तरह हनन होता है तो उस देश के साथ-साथ साथ संसार दुख भोगता है और प्रभु की इच्छा अपूर्त रह जाती है। विदेशी शासन ने भारतीय राष्ट्र का विकास अवरुद्ध कर दिया था और वह क्रमशः बौना होता जा रहा था। अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों से भी भारत की राष्ट्रीयता नष्ट हो रही थी। भारत ने स्वशासन की माँग करके यह दिखा दिया कि भारत की आत्मा सतत् जीवन्त है और उसे अंग्रेजों का अत्याचार मुमूर्षु नहीं बना सकता।

अमेरिकन प्रेसिडेन्ट विल्सन ने भारत की स्वाधीनता की माँग के औचित्य का

1. Congress Presidential Addresses–P. 319.

समर्थन किया। स्वयं अंग्रेजों की नौकरशाही के व्यूह के बीच से सर एस० सुब्रह्मण्य ऐयर निकल कर बाहर आये और उन्होंने होमरूल आन्दोलन का समर्थन किया। सरकार ने जब इसका बुरा माना तब उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि लौटा दी।[1] उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन के पास एक पत्र भी भेजा जिसकी अमेरिका में बड़ी प्रशंसा हुई। स्पष्ट है, स्वतन्त्र अमेरिकी राष्ट्र भारत की आशा-आकांक्षा का अनुभव कर रहा था।

होमरूल आन्दोलन की सफलता के कुछ कारण गिनाये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) होमरूल आन्दोलन के नेताओं ने भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था और होमरूल आन्दोलन की शाखाएँ प्रान्तों में उसी आधार पर खड़ी की गईं। भारत में प्रान्तों का गठन शासकीय आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हुआ था। वंग आन्दोलन ने यह सुझा दिया था कि प्रान्तों के गठन का वह आधार लोकप्रिय तो नहीं ही है, राष्ट्र की भिन्न-भिन्न इकाइयों के विकास की दृष्टि से भी अवैज्ञानिक है।

(ख) श्रीमती एनी बेसेन्ट की प्रेरणा से भारत की महिलाओं की बहुत बड़ी संख्या राष्ट्र-यज्ञ में अपना योगदान देने आई। उनका आना आन्दोलन के प्रसार के लिए बड़ा ही हितकर हुआ।

(ग) होमरूल आन्दोलन का धर्म के साथ सम्बन्ध जुटने से यह लाभ हुआ कि साधु-संन्यासियों के माध्यम से इस आन्दोलन का संदेश गाँव-गाँव में फैल गया।[2]

उपरिलिखित राउन्डटेबुल ग्रुप के भारत शासन सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव की घोषणा इरविन मान्टेगू, भारतमन्त्री, द्वारा २० अगस्त सन् १९१७ को हुई। इस घोषणा में यह कहा गया कि बादशाह सलामत श्री सरकार की यह नीति है कि भारत में क्रमशः ऐसे शासन-सुधार किये जायें कि ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत क्रमशः पूर्ण-सत्ता-प्राप्त देश बन सके।

भारत आकर भारत मन्त्री ने देश के भिन्न-भिन्न राजनीतिक नेताओं से भी बातचीत की और २२ अप्रैल सन् १९१८ को उस 'गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया ऐक्ट' सन् १९१९ की घोषणा कर दी गई जो सन् १९२१ से लागू होने को थी। शासन-सुधार सम्बन्धी यह योजना भारतीयों को वास्तविक अधिकार के नाम पर कुछ भी नहीं देती थी और जैसा कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा, यदि यह एक हाथ से कुछ देती भी थी तो दूसरे हाथ से उसे वापस ले लेती थी। प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल गठित तो हुए किन्तु सचाई यह है कि अधिकार के नाम पर मंत्रियों को अंग्रेजों ने रांगे की दुअन्नी

१. कांग्रेस का इतिहास—पार्ट १, पृ० १११।
२. एच० एफ० एम०—आर० सी० मजुमदार, पृ० ३६६।

दी थी। जो अन्धेरा हो तो उसे भुना कर दो-चार दाने चना के खरीदे जा सकते थे और जो दिन का प्रकाश हो तो भुनाने की कोशिश करने पर दो-चार तमाचे लगने का भी खतरा था। अंग्रेजों की नीयत कुछ देने-लेने की तो थी नहीं, उन्हें एक तमाशा खड़ा करना था। लेकिन अंग्रेजों की इस चाल ने होमरूल आन्दोलन को ठंडा कर दिया और देश में एक प्रकार की जड़ता-सी आ गई। इधर मान्टेगू ने नरम दल के नेताओं भूपेन्द्र नाथ वसु और श्री सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा से परामर्श करके उनको राजनीतिक मंच पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया।

इस प्रकार 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' नामक संस्था का जन्म मान्टेगू की प्रेरणा से हुआ। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कलकत्ता में एक बड़ी सभा बुला कर प्रस्तावित सुधार योजना का समर्थन किया। कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन २९ अगस्त सन् १९१८ को बम्बई में बुलाया गया और हसन इमाम की अध्यक्षता में चार दिनों तक विचार-विमर्श करने के बाद एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जिसमें इस बात का दावा किया गया कि भारत स्वशासन के सर्वथा योग्य है। उसी प्रस्ताव में यह भी माँग की गई कि प्रान्तीय क्षेत्र में, जैसे सत्ता के हस्तान्तरित करने का निश्चय किया गया है, वैसे ही केन्द्र में भी होना चाहिए और वायसराय का स्थान शासन-यंत्र में ठीक वही होना चाहिए जो किसी उत्तरदायी शासन-तंत्र में सर्वोच्च शासक का होता है। कांग्रेस के इस प्रस्तव ने सरकार से अनुरोध किया कि वह इस मूल बात को मान ले कि भारत को स्वराज्य प्राप्ति का अधिकार है और उसे स्वभाग्य निर्णय का भी पूर्ण अधिकार है। कांग्रेस तथा दूसरे स्वतंत्रताकांक्षी प्रगतिशील नेताओं को यह स्वीकार ही नहीं हो पा रहा था कि एक विदेशी संसद को भारत के भाग्य का निर्णय करने का अधिकार हो सकता है और वे यह भी मानने का तैयार नहीं थे कि अंग्रेजों की जरा सी भी नीयत भारत को स्वराज्य देने की है।[1] इस सुधार योजना का पर्दाफाश ब्रिटिश पार्लमेन्ट में ही उस समय हुआ जब लार्ड सिडेनहम ने प्रस्तावित कानून का विरोध किया। उसके विरोध का उत्तर देते हुए सरकार की ओर से कर्जन ने जो कुछ कहा था वह इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के भ्रम के लिए अवसर नहीं देता।[2]

1. India : A Restatement–R. Coupland, Quoted in The India Nation Movement and live—Nimai Sadhan Bose. P. 53.
2. The nobel Viscount might have heen intitled to take the objection he did if there had been in the Pronouncement any definite drawing up of a programme any sketch of what exactly was to be done. It was nothing of the sort. It was a broad general declaration of a general principle and the lines upon which in the opinion both of the Govt. at home and of the Govt. of India our administratin on of that countny ought proceed in future.—Quoted in H. F. M., P. 504.

एक ओर तो शासन-सुधार की बात की जा रही थी, भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार शासनाधिकार सौंपने की चर्चा की जा रही थी और दूसरी ओर लार्ड चेम्सफोर्ड का दमन चक्र भी चल रहा था। महायुद्ध के समाप्त होने पर 'डिफेन्स आफ इण्डिया ऐक्ट' का लाभ उठाया नहीं जा सकता था और सरकार को दमन के लिए कानूनी अधिकार चाहिए था, जिसके बल पर भारत की विद्रोही आत्मा को दबाया जा सके। आतंकवादियों का बहाना लेकर सरकार ने मिस्टर जस्टिस रॉलट की अध्यक्षता में एक समिति बनाई और उसे कहा कि १५ अप्रैल १९१८ तक अर्थात् अपने गठन के कुल चार महीनों के भीतर वह अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दे और बताये कि सरकार को अपनी मजबूती के लिए क्या कुछ करना चाहिए।

रॉलट की सिफारिश पर सन् १९१९ के फरवरी महीने में 'रॉलट ऐक्ट' पास हुआ। इस देश ने युद्धोपरान्त कहाँ तो अंग्रेजों से अपनी राजभक्ति का पुरस्कार पाने की आशा बाँधी थी और कहाँ उसे मिला यह काला कानून। इस कानून के अन्तर्गत पुलिस को अबाध अधिकार दिये गये। अब पुलिस किसी को नाराज होने पर हिरासत में ले सकती थी, बिना मुकदमा चलाये उसे जेल में रख सकती थी, सम्राट के प्रति विद्रोह फैलाने वाली किसी भी प्रकाशनीय सामग्री को प्रकाशित होने से रोक सकती थी और आपत्तिजनक सामग्री के प्रसार पर पाबन्दी लगा सकती थी। सरकारी झूठे राजनीतिक मुकदमों में मनमाने फैसले प्राप्त करने के लिए पुलिस जिन मुखबिरों को खड़ा करती थी उनको आवश्यक कानूनी संरक्षण देने का भी पुलिस को यथेष्ट अधिकार प्राप्त हुआ।

गांधी जी अब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच पर बहुत सक्रिय नहीं थे। उन्होंने इस बीच चम्पारण के निलहे कोठीवाल अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन किया था और चम्पारण की दलित, शोषित जनता का पक्ष लेकर उन्होंने गोरों के अनाचार का पर्दाफाश किया था। मान्टेगू-चेम्सफोर्ड ऐक्ट के प्रश्न पर भी गांधी जी प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुए थे वरन् उन्होंने काँग्रेस को छोड़ दिया था। लेकिन अब उन्होंने एक गम्भीर घोषणा की कि रॉलट कमीशन की सिफारिशों को यदि अमली जामा पहनाया जायेगा तो वे सत्याग्रह युद्ध छेड़ देंगे।[1] गाधी जी ने देश में घूम-घूम कर रॉलट ऐक्ट का विरोध करने की प्रेरणा जगाई। गांधी जी का महत्व क्या हो गया था यह सन् १९१९ की सरकारी रिपोर्ट से ही विदित है जिसमें यह कहा गया कि उन्हें लोग जिस आदर-भाव से देखते थे उसके लिए 'पूजा' शब्द का प्रयोग अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता।

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पार्ट १, पृ० १२६।

गाँधी जी ने भौतिक बल का विरोध आत्मबल से करने का सुझाव दिया। गांधी जी सविनय अवज्ञा रूप में सत्याग्रह करके सरकार को रॉलट ऐक्ट को मन्सूख करने के लिए विवश करना चाहते थे। १८ मार्च सन् १६१६ को उन्होंने अपने इस नये आन्दोलन की रूप-रेखा भी स्थिर की। श्रीमती एनी वेसेन्ट यह समझती थीं कि गाँधी जी भारत के बाहर दक्षिण अफ्रिका में रहते थे और इसलिए वे भारतीय जनता की नब्ज पहचानने में भूल भी कर सकते थे। असल में श्रीमती बेसेन्ट को इस बात का डर था कि बड़े पैमाने पर किसी आन्दोलन के चलाने से सरकार दमन के लिए बाध्य होगी और तब असामाजिक तत्वों के उभड़ने का खतरा रहेगा। एक बार जो कहीं ऐसी कुछ गड़बड़ हुई तो सरकार को अपने दमन कार्य के लिए औचित्य मिल जायेगा। लेकिन गांधी जी अपनी आत्मा की इस पुकार की अनसुनी न कर सके और उपवास के साथ उन्होंने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन छेड़ दिया। पहले यह आन्दोलन ३० मार्च को होने वाला था जिसकी तिथि बाद में बदल कर ६ अप्रैल कर दी गई थी। उचित समय पर तिथि परिवर्तन की यह सूचना सर्वत्र पहुँच नहीं पायी। इससे दिल्ली में ३० मार्च को ही स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में एक भारी जुलूस निकला। इस जुलूस के साथ एक बड़ी बात देखी गई। जुलूस को रोकने के लिए गोरों की फौज बढ़ी और उसने गोली मारने की धमकी दी। गोरों को उम्मीद थी कि जुलूस तितर-बितर हो जायेगा लेकिन गोरों को स्वामी जी का उत्तर मिला 'लो, मारो गोली'। इस उत्तर से गोरे सिपाही भौंचक रह गये।[1]

इस समय एक और बड़ी बात यह देखी गई कि इस आन्दोलन में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित हुए। दोनों का यह मेल उत्साहवर्द्धक था। अब हमें यह देखना चाहिए कि यह असम्भव व्यापार कैसे सम्भव हुआ और कैसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने समान रूप से विदेशी शासन में कठिनाइयों का अनुभव किया। इस प्रकार सन् १६१६ के अप्रैल महीने से भारत की राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। यह इतिहास एक ओर यदि सर पर कफन बाँध कर चलने वाले आजादी के दीवानों का है तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता, समानता और जनतन्त्र के नाम की दुहाई देने वाले अंग्रेज शासकों के निर्बाध अनाचार, अत्याचार और दमन का है।

अप्रैल सन् १६१६ में पंजाब में कुछ दुखद घटनाएँ घटित हुईं। पंजाब देश का वह क्षेत्र है जहाँ से ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा में अपनी बलि चढ़ाने वाले फौज के सिपाही मिलते थे। पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रसार अंग्रेज सैनिक हितों के प्रत्यक्ष विरोध में पड़ता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि जहाँ तक उनके लिए

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पार्ट १, पृ० १३१।

शक्य होता वे पंजाब को आन्दोलन के प्रभाव से बचाते। सन् १९१९ में काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होने वाला था। पंजाब का तत्कालीन निरंकुश शासक माईकेल ओ डायर ने पंजाब के दो बड़े कांग्रेसी नेताओं—डॉ० किचलू तथा डॉ० सत्यपाल को २० अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध जब जनता ने आन्दोलन किया तो उस पर गोली चलायी गई। उत्तेजित भीड़ ने नेशनल बैङ्क के भवन में आग लगा दी। उसके यूरोपियन मैनेजर की हत्या कर दी और सरकारी गोदाम को लूट लिया।[1] स्थिति ऐसी बिगड़ गई कि पंजाब में सैनिक शासन हो गया। १३ अप्रैल सन् १९१९ को जलियानवाला बाग की सभा के समय अंग्रेजों ने भीषण हत्याकाण्ड किया। स्वयं सरकारी बयान से विदित है कि ओ' डायर की गोलियों से ४०० व्यक्ति शहीद हुए और करीब २००० घायल। हताहत लोगों की डाक्टरी सहायता को क्या बात, पीने के लिए पानी भी नहीं दिया गया। डायर ने जाँच कमीशन के समक्ष वक्तव्य देते हुए बड़े अभिमान के साथ कहा था कि उसने कुल १६०० राउन्ड ही गोलियाँ इसलिए चलाईं कि उसके कारतूस समाप्त हो गये थे।[2] डायर ने पंजाब में जो नादिरशाही चलाई थी उसके आगे चंगेज खाँ भी मात हो गया। उन दिनों पंजाब में होने वाले दमन के सिलसिले में कर्नल जानसन, कर्नल ओब्रायन, मिस्टर बासवर्थ स्मिथ आदि के नाम बड़े ही कुख्यात नाम हैं।[3] मिस्टर बासवर्थ ने तो आगे चल कर नौकरशाही का आतंक फैलाने के लिए एक और भी विचित्र काम किया। उसने पंजाब में प्रायश्चितगृह बनाने का निश्चय किया जहाँ इकट्ठा होकर भारतीय इस बात के लिए खेद-प्रकाश करते कि उन्होंने अंग्रेजों के धर्मराज्य के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ कर भयानक अपराध किया था।[4] गनीमत हुई कि इस धन्धे में लगने वाले खर्च की व्यर्थता का अनुभव अधिकारियों को हो गया और बासवर्थ की यह परिकल्पना साकार नहीं हो सकी। जलियानवाला काण्ड ने सारे देश को झकझोर दिया। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि गांधी जी अब यह समझ गये। कि अंग्रेज़ सरकार के साथ किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं है और उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग करना पाप है।[5] इस घटना के परिणाम के सम्बन्ध में माइ-केल एडवार्ड्स ने एक बड़ी बात कही है कि—जेनरल ओ, डायर की बन्दूक के धमाके

---

१. कांग्रेस का इतिहास–पार्ट १, पृ० १३१-३२
२. वही " पृ० १३३
३. वही " "
४. वही " "
५. दि लास्ट इयर्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया—माइकेल एडवार्ड्स, पृ०

ने ही ब्रिटिश शासन के अन्त का उद्घोष किया ।[1]

१४ अप्रैल सन् १६१६ को लार्ड चेम्सफोर्ड ने घोषणा की कि पंजाब के आन्दोलन को दबाने में सरकार अपनी सारी शक्ति लगा देगी। अफगान युद्ध की समस्या अंग्रेजों के सामने थी और उसने पंजाब के प्रश्न को और अधिक उलझा दिया था। पंजाब में जो दमन हो रहा था उसकी अमानुषिकता ने शंकर नायर को वायसराय की कार्यकारिणी समिति से इस्तीफा देने और जाँच कमीशन के गठन के लिए आन्दोलन करने की प्रेरणा दी। सितम्बर १६१६ में 'हन्टर कमीशन' की नियुक्ति तदर्थ हुई भी। लेकिन १८ सितम्बर को सरकार की ओर से इन्डेम्निटी बिल केन्द्रीय धारा सभा में उपस्थित किया गया जिसका सीधा अर्थ फौजी कानून था।[2] श्रीमती एनी बेसेन्ट पंजाब के आन्दोलन की रूपरेखा से असंतुष्ट थीं। उन्होंने रॉलट ऐक्ट के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन को भी अनुचित कहा था।[3] अपने इन विचारों के कारण श्रीमती बेसेन्ट को लोकप्रियता की हानि भुगतनी पड़ी। सच्ची बात यह है कि वह जनतन्त्र के जिस रूप से परिचित थीं उसमें हिंसा के लिए, उत्तेजना के लिए गुञ्जाइश नहीं होती। लेकिन गाँधी जी की प्रति क्रिया भिन्न थी। सन् १६२२ के मार्च महीने में मिस्टर ब्रूमफिल्ड नामक अंग्रेज जज के सामने वक्तव्य देते हुए उन्होंने बताया था कि सरकार से सहयोग करने की अपनी नीति को छोड़कर असहयोग पर वे निम्नलिखित तीन कारणों से उतरने के लिए विवश हुए थे—

(क) रॉलट ऐक्ट—जिसने भारतीय जनता की सारी स्वाधीनता का अपहरण किया।

(ख) पंजाब का हत्याकांड—जिसके सामने नादिरशाह और चंगेज खाँ के अत्याचार भी मात हो गये।

और (ग) ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के आश्वासन का खोखलापन।[4]

यह सत्य है कि पंजाब में जो हत्याकाण्ड हुआ उसने गाँधी जी को भी मर्माहत किया, लेकिन उन्हें यह भी लगा कि देश में जिस प्रकार का सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन वह चलाना चाहते थे, पंजाब का आन्दोलन उससे बिलकुल भिन्न दिशा की ओर चला गया था। आन्दोलन के इस हिंसात्मक पहलू को गाँधी जी स्वीकार नहीं कर पाते थे। अस्तु, उन्होंने बड़े साहस के साथ यह कहा कि आन्दोलन छेड़ कर उन्होंने बड़ी

---

१. वही, पृ० ४५
२. कांग्रेस का इतिहास, पार्ट १, पृ० १३६
३. वही, पृ० १४०
4. Indian Struggle—S. Chandra Bose, P. 57-58

भूल की।[1] और इसके एक सप्ताह के भीतर ही उन्होंने आन्दोलन बन्द भी कर दिया। बहुत से लोगों को बड़ी निराशा हुई। सन् १६२० के जुलाई महीने में कांग्रेस महासमिति की एक बैठक कलकत्ता में हुई जिसमें कांग्रेस का अगला अधिवेशन अमृतसर में ही करने का निश्चय किया गया। तदनुसार उस वर्ष के अन्त में अमृतसर में कांग्रेस का महाधिवेशन हुआ। इसमें कांग्रेस ने अपने इस दावे का पुनर्घोष किया कि भारत पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सर्वथा योग्य है। सन् १६१६ के शासन सुधार नियम को पूर्णतः असन्तोषजनक और अपर्याप्त ठहराते हुए स्वभाग्य निर्णय का अधिकार माँगा। साथ ही गांधी जी के आग्रह पर मान्टेगू को उनकी मेहनत के लिए धन्यवाद दिया गया और यह भी निश्चय हुआ कि शासन सुधार के रचनात्मक काम में भारतीयों को सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए। इसी कांग्रेस के अवसर पर देशबन्धु चितरंजन दास का प्रभाव भी प्रकट हुआ। देशबन्धु का उदय एक नयी संभावना ले आया। कांग्रेस में दो विचारधाराएँ चल रही हैं—यह भी स्पष्ट हुआ। एक ओर यदि गांधी जी अँग्रेज सरकार के साथ सहयोग करने की मनःस्थिति लेकर उपस्थित थे, तो चितरंजन दास असहयोगी बन कर खड़े थे।

जनता के बीच जागरण फैल रहा था और भारत की आत्मा मुक्त होने के लिए छटपटा रही थी। इसी बीच सन् १६२० में आर्थिक संकट की स्थिति से देश को गुजरना पड़ा। सन् १६२० के आरम्भ में करीब २०० हड़तालें हुईं जिनमें ५०००० से अधिक मजदूरों ने भाग लिया।[2] कांग्रेस शान्तिमय ढंग से ही आजादी की लड़ाई लड़ना चाहती थी। किन्तु, परिस्थितियां जिस तेजी के साथ परिवर्तित हो रही थीं कि कल क्या होगा, नहीं कहा जा सकता था। सन् १६२० की विशेष कांग्रेस के अध्यक्ष लाला लाजपत राय ने बड़े अच्छे ढंग से स्थिति का निरूपण करते हुए कहा था कि भारत की परम्परा और उसकी प्रवृत्ति क्रान्ति के अनुकूल नहीं है। लेकिन फिर भी अपनी स्वाभाविक मन्थर गति को छोड़ कर हम जब चल पड़ते हैं तब हम प्रतिरोधिनी शक्तियों के प्रति बेपरवाह भी हो जाते हैं। और फिर कोई भी संस्था अपने जीवन-काल में क्रान्ति से बच भी तो नहीं सकती।[3]

---

1. He had committed a blunder of Himalayan Dimensions which had enabled ill-despozed persons, not true passive to resisters atall to perpetrate disorders—India Today, P. 279.
2. India Today — P. 280.
3. Presidential Address to the Calcutta special session of the National Congress in September, 1920.

अब कांग्रेस का उद्देश्य भी बदल गया। पहले कांग्रेस ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन प्राप्ति को लक्ष्य बना कर चली थी, किन्तु अब उसका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो गया।

देश में गाँधी जी जिस तरह का आन्दोलन चलाना चाहते थे उसकी सफलता उनकी समझ से बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर थी कि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में खड़ी रहे। इसी समय देश में एक नई स्थिति पैदा हुई।

अंग्रेजों ने अपने जानते मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक् रखने का पूरा प्रबन्ध कर रखा था। उनकी भेद-नीति ही उनको इस देश में टिकाये रख सकती थी—इस बात को वे खूब अच्छी तरह जानते थे। इसी से उन्होंने बङ्ग-विभाजन के समय मुसलमानों के बीच घुस-पैठ कर बङ्ग-आन्दोलन को कमजोर करने की चेष्टा की थी। समय-प्रवाह में मुसलमानों के बीच भी जागरण का संदेश फैला। मुसलमानों के बीच से सर सैयद महमद नामक व्यक्ति निकल कर आये जो सरकारी नौकरशाही की छोटी कुर्सी से ऊपर उठ कर गवर्नर-जनरल की धारा सभा के सदस्य के पद पर पहुँचे थे। मुसलिम जनता अंग्रेजों को बहुत आदर-मान की दृष्टि से देखती भी नहीं थी। उसके हृदय के कोने में कहीं यह बात बैठी हुई थी कि अंग्रेजों के ही कारण हिन्दुस्तान में मुसलमानी शासन का अन्त हो गया था। अंग्रेजों ने फारसी को राज-काज की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया और बदले में उन्होंने अंग्रेजी चलाई। इन दो कारणों से सामान्य मुस्लिम जनता प्रायः अंग्रेज-विरोधी थी। लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछड़े होने के कारण मुसलमान अपने इस आक्रोश को न तो वाणी दे पाते थे और न किसी तरह का सक्रिय प्रदर्शन ही कर पाते थे। सर सैयद अहमद ने यह सोचा कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का जो प्रसार मुसलमानों के बीच नहीं हो रहा है उसके कारण नई दुनिया में मुसलमानों के लिए कोई जगह नहीं रह जायेगी। अस्तु, उन्होंने अलीगढ़ में सन् १८७७ में एंग्लो-ओरियन्टल कालेज की स्थापना की जो कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के रूप में खड़ा हुआ। सर सैयद और उनके अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने भारत में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त की बुनियाद खड़ी की। उन्हें ऐसा लगता था कि भारत में संवैधानिक शासन जब भी लागू होगा मुसलमानों के अल्पमत में होने के कारण, शासन-तन्त्र पर हिन्दुओं का प्रभुत्व रहेगा। यह आशंका सर सैयद को 'युनाइटेड पैट्रिओटिक एसोसियेशन' नामक संस्था गठित करने की प्रेरणा दे गई और उक्त संस्था का जन्म उन्होंने सन् १८८८ में दिया भी। इसके दो वर्ष पहले उन्होंने 'एनुअल मुस्लिम एडुकेशनल कांफ्रेन्स' भी कराया। इन संस्थाओं के गठन और इनके द्वारा प्रतिपादित होने वाले सिद्धान्तों को अलीगढ़-आन्दोलन के नाम से पुकारा गया है। अलीगढ़ आन्दोलन ने कांग्रेस के इस दावे को भी खण्डित

करने का प्रयास किया कि वह सारे राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था है। इस प्रकार देश के सामने एक नयी परिस्थिति आयी।

जब मोर्ले-मिन्टो रिफार्म की चर्चा चली तब आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल इस बात के लिए प्रयासी हुआ कि स्वायत्त-शासन संस्थाओं से लेकर प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन तथा धारा-सभाओं में मुसलमानों को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इस शिष्टमण्डल ने सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के लिए संरक्षण की भी मांग की। अलीगढ़ की शिक्षा ने जिस विष-बीज का वपन किया था उसे पल्लवित होना ही था। किन्तु, सन् १९१६ में लखनऊ पैक्ट के बाद इस स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ।

इधर गाधी जी एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह मुसलमानों के बीच होने वाली इस जाग्रति का लाभ उठाना चाहते थे।

प्रथम महायुद्ध के क्रम में अंग्रेजों ने मुसलमानों की भावनाओं को काफी चोट पहुँचायी थी। महायुद्ध के समय ब्रिटिश प्रधान मंत्री के आश्वासन पर भारतीय मुसलमान सैनिक अंग्रेजों की ओर से उनके शत्रु तुर्की के मुसलमानों से लड़ने गये थे। किन्तु, युद्धोपरान्त जब सन्धि हुई तो प्रधान मंत्री का आश्वासन झूठा सिद्ध हुआ।[1] पहले तो उन्होंने कहा था कि तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस के प्रसिद्ध और समृद्ध द्वीपों से वंचित करने के लिए वे लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं, लेकिन बाद में उन्होंने तुर्की को इन दोनों स्थानों से वंचित कर दिया। इतना ही नहीं, जजीर तुल अरब मेसोपेटामिया, अरबिस्तान, सीरिया, फिलिस्तान और अन्य धार्मिक स्थानों को भी तुर्की के अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया।[2] थ्रेस यूनान को दे दिया गया और तुर्की साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने आपस में बाँट लिया। सबसे बड़ी दुःखद और आपत्तिजनक बात यह हुई कि मित्र राष्ट्रों ने तुर्की के शासन के लिए एक उच्च-आयोग नियुक्त किया जिसके कारण तुर्की के सुलतान का राजनयिक पद बहुत कुछ सीमित हो गया। मुसलमानों को अपने खलीफा की इस दुर्गति तथा अपने पवित्र धार्मिक स्थानों पर गैरमुसलमानों के अधिकार से बड़ा ही क्रोध हुआ।

भारतवर्ष में अखिल भारतीय खिलाफत कमिटी नामक संस्था मौलाना शौकत अली के नेतृत्व में गठित हुई।[3] इस संस्था का उद्देश्य इस्लाम के धर्म-नेता तुर्की के खलीफा को उनके राजनयिक अधिकारों पर पुनः प्रतिष्ठित करना था।[4] यह आन्दोलन

---

१. कांग्रेस का इतिहास, पार्ट १, पृ० १४९
२. वही
३. वही
४. दि इण्डियन स्ट्रगल—एस० चन्द्र बोस, पृ० ७३।

इसकी भी मांग कर रहा था कि मुसलमानों के पवित्र धर्मस्थानों पर खलीफा का ही शासन हो। खिलाफत आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए गांधी जी का आवाहन किया गया। १६ जनवरी सन् १६२० को मुसलमानों का एक शिष्ट-मण्डल डॉ० अन्सारी की अध्यक्षता में वायसराय से मिला और उनके उत्तर से निराश होकर वापस लौटा। एक दूसरा शिष्ट-मण्डल इसी वर्ष मार्च महीने में मुहम्मद अली के नेतृत्व में इंगलैन्ड जाकर भारत मंत्री से मिला। किन्तु ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने दो टूक उत्तर देकर उस शिष्ट-मण्डल को गहरी हताशा की स्थिति में डाल दिया।[1] ब्रिटिश प्रधान मंत्री का उत्तर पाने के दो दिनों के बाद अर्थात् १६ मार्च को सारे भारतवर्ष में राष्ट्रीय शोक दिवस मनाया गया। कांग्रेस ने इस आन्दोलन का पूर्ण समर्थन किया था। १ अगस्त सन् १६२० को जिस दिन लोकमान्य तिलक का देहावसान हुआ खिलाफत आन्दोलन सक्रिय हुआ। इस खिलाफत आन्दोलन ने मुसलमानों को कांग्रेस के निकट ला दिया और इस प्रकार गांधी जी ने अपने असहयोग आन्दोलन के प्रति मुसलमानों की भी सहानुभूति और सक्रिय सहायता प्राप्त करने में सफलता पायी।

अब हम यह देखें कि गांधी जी के सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन की दिशाएँ क्या थीं और वह आन्दोलन कितना सफल हुआ।

कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन का जो कार्य-क्रम स्थिर किया था, वह त्रिसूत्रीय था, उसके अन्तर्गत धारा-सभाओं, सरकारी अदालतों और सरकारी शिक्षण संस्थाओं का वहिष्कार करना था। आन्दोलन के इस प्रथम अध्याय की पूर्ति के वाद करवन्दी का आन्दोलन खड़ा कर ऐसा कुछ करना था कि सरकार पंगु हो जाय।[2]

सत्याग्रह के इस कार्य-क्रम के स्वीकार होने के वाद सारे देश में जागरण फैल गया। वकालतखानों से बड़े-बड़े वकील वकालत का पेशा छोड़ कर इस राष्ट्र-यज्ञ में सम्मिलित हुए।[3] समाज का यह अत्यन्त धनी-मानी वर्ग स्वेच्छया त्याग और कष्ट-सहन के मार्ग पर चल पड़ा। ऐसे व्यक्तियों में पं० मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, सी० राजगोपालाचारी, विट्ठल भाई पटेल, सरदार वल्लभ भाई पटेल, श्रीनिवास आयंगर, राजेन्द्र प्रसाद, व्रजकिशोर प्रसाद प्रभृति लोग उल्लेख्य हैं। एक भारतीय नौजवान नौकरी की जिस सवसे ऊँची कुर्सी की कल्पना कर सकता था उस इंडियन सिविल सर्विस को छोड़कर सुभाष चन्द्र वोस असहयोगी हुए। हकीम अजमल खां, मौलाना शौकत अली, मौलाना मुहम्मद अली, अवुल कलाम आजाद, लाला लाजपत

१. कांग्रेस का इतिहास, पृ० १५०

२. वही, १५६

3. The Indian National Movement—Nimai Sadhan Bose, P.68-9

राय, डॉ० खान साहब, बादशाह खान, जवाहर लाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से गांधी जी के इस असहयोग आन्दोलन में भाग लेने पहुँचे।

इस आन्दोलन का प्रसार-प्रचार उन विद्यार्थियों के माध्यम से हुआ जिन्होंने राष्ट्र-सेवा का व्रत लेकर शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया था। विद्यार्थी असहयोग आन्दोलन के स्वयं-सेवक बने। ये उन दूकानों पर धरना देते जहाँ विदेशी माल का क्रय-विक्रय होता, ये ही गाँव-गाँव में घूम कर कांग्रेस का संगठन करते, उसका संदेश पहुँचाते और चन्दा इकट्ठा करते। आवश्यकता होने पर जुलूस निकालते, प्रदर्शन करते और कचहरियों में खड़े होकर मुकदमा लड़ने वालों से कचहरी से वापस जाने का आग्रह करते, मुकदमों के निपटारे के लिए पंचायत समितियाँ गठित करते और घूम-घूम कर खद्दर के कपड़े बेचते।[1]

बड़े-बड़े नेताओं ने स्वायत्त-संस्थाओं के नामजद सदस्य के रूप में कार्य करने से इन्कार किया, सरकारी उत्सवों का बहिष्कार किया, अपने बच्चों को सरकारी अथवा सरकार-सम्पोषित शिक्षण संस्थाओं से हटा लिया।[2]

बंग आन्दोलन के साथ-साथ जो स्वदेशी आन्दोलन चला था उसको भी इस असहयोग आन्दोलन के समय गति मिली। यद्यपि इस समय स्वदेशी-आन्दोलन का अर्थ कुटीर आन्दोलन ही प्रायः समझा गया। विलायती और मिलों में बने कपड़ों को त्याग कर कांग्रेस के सदस्यों ने खादी पहनना आरम्भ किया, इसका प्रभाव मुसलमानों के बीच विशेषतः उन मुसलमानों के बीच जो गरीब थे और बुनने का व्यवसाय करते थे बहुत अच्छा पड़ा। कांग्रेस ने इस प्रकार उन गरीब मुसलमान श्रमजीवियों को आजीविका भी दी। गांधी जी की भावना में खादी का केवल आर्थिक पहलू नहीं था। वे खादी को उससे बहुत ऊँचे धरा-तल पर ले गये थे। वे स्वयं चर्खा कातते और काँग्रेस जनों के लिए खाली वक्त में चर्खा कातना एक नियमित अनुशासन कार्य हो गया था। खादी के कपड़े उन दिनों बड़े खुरदरे होते थे। लेकिन उनको पहनने वाले कांग्रेस के मोतीलाल और जवाहरलाल जैसे राजसी ठाठ में रहने वाले लोग थे, औरों की क्या चर्चा ? इस प्रकार खादी त्याग-मय जीवन का प्रतीक बन गयी थी।

कांग्रेस के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए सत्याग्रही उन दूकानों पर भी धरना देते जहाँ शराब बिकती थी। गांधी जी ने यह अनुभव किया कि इस बुरी लत ने देश को बहुत कमजोर कर दिया है।

---

1. The Indian Struggle—S. Chandra Bose P. 77-78.
2. The Indian National Movement—Nimai Sadhan Bose. P. 68.

जब कोई राष्ट्र अपनी आजादी के लिए संघर्ष करता है तब इस बात की बड़ी अपेक्षा होती है कि क्षुद्र सीमाएँ टूट जायँ, ऐक्य का अनुभव हो। भारतीय हिन्दुओं के समाज में ऊँच-नीच, अवर्ण-सवर्ण का एक घृणित प्रसंग चिर काल से चला आ रहा था जिसकी ओर धार्मिक और सामाजिक-क्षेत्र में सुधार का प्रयास करने वाले नेताओं का ध्यान आप से आप जाता था। गांधी जी ने अछूतों के उद्धार का बीड़ा भी उठाया।[1] इसी तरह उन्होंने नारी समाज को पर्दे से बाहर निकालने का भी स्तुत्य प्रयास किया।

सरकारी शिक्षण-संस्थाओं का बहिष्कार एक नकारात्मक कार्य सिद्ध हो रहा था। यह सही है कि जब राष्ट्र के आगे उसकी आजादी का सवाल होता है अथवा राष्ट्र जीवन-मरण के संघर्ष में रत रहता है उस समय शिक्षा की बात पीछे पड़ जाती है। लेकिन शिक्षा सर्वथा उपेक्षणीय भी तो नहीं है। इसलिए गांधी जी के रचनात्मक कार्य-क्रम के अन्तर्गत राष्ट्रीय शिक्षा का सिलसिला चला और राष्ट्रीय-विद्यापीठ स्थान-स्थान पर स्थापित हुए। ऐसी शिक्षण संस्थाओं में उल्लेख्य हैं—काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ पटना, तिलक राष्ट्रीय महाविद्यालय पंजाब, आदि।[2]

असहयोग आन्दोलन में पूरा समय देने वाले कार्यकर्त्ताओं के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर आश्रम खड़े किये गये। उन आश्रमों में कार्य-कर्त्ताओं का प्रशिक्षण होता था और वहीं स्थानीय कांग्रेस का कार्यालय होता था। इन आश्रमों के द्वारा खादी प्रचार का कार्य भी किया जाता था। इन आश्रमों की रूप-रेखा प्राचीन भारतीय ऋषियों के आश्रमों जैसी होती थी।[3] ऐसे आश्रमों में साबरमती आश्रम, सदाकत आश्रम आदि उल्लेख्य हैं। आश्रमों की यह परम्परा भूदान आन्दोलन के साथ-साथ आज भी चल रही है।

पढ़े-लिखे समाज पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा और कई व्यक्तियों ने ऊँची सरकारी उपाधियों का परित्याग किया और सरकारी नौकरियाँ छोड़ीं।

१९२१ में असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ कुछ ऐसी घटनाएँ भी हुई जिनका इतिहास में अपना विशेष महत्व है। ऐसी घटनाओं में एक है—आसाम-बङ्गाल रेलवे के मजदूरों की हड़ताल जिसके फलस्वरूप यातायात ठप्प पड़ गया था।[4] यह हड़ताल बंगाल प्रादेशिक कांग्रेस कमिटी और उसके नेता यतीन्द्र मोहन सेनगुप्ता की प्रेरणा से की गयी थी। इस हड़ताल ने दिखाया कि ऐसे कार्यक्रम में कितनी सम्भावनाएँ थीं। दूसरी

---

१. इण्डियन स्ट्रगल—एस० चन्द्र बोस, पृ० ७६।

2. Indian Struggle—S. Chandra Bose, P. 78.

3. Ibid — P. 79.

4. Ibid — P. 89.

महत्वपूर्ण घटना मिदनापुर जिले में हुई। श्री बी० एन० ससमल, एडवोकेट इसके नेता थे। उन्हीं दिनों सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह के सुझाव पर देहातों में युनियन-बोर्ड गठित करने के उद्देश्य से एक कानून बनने जा रहा था। ससमल जी ने देहातों में स्वायत्त-शासन की फैलने वाली इस शृङ्खला का विरोध इसलिए किया कि गरीब जनता पर यूनियन टैक्स के रूप में कर का एक नया बोझ पड़ने वाला था। सरकारी नियन्त्रण में रहने वाली इस संस्था से न तो जनता को कोई वास्तविक अधिकार मिल रहा था और न उसकी भलाई की सम्भावना थी। इससे आगे बढ़ कर मिदनापुर जिले में करबन्दी आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ और सरकार ने कुर्की-जब्ती का दमन चक्र चलाया। अगले वर्ष यूनियन बोर्ड विषयक कानून मन्सूख हो गया।[1] इस आन्दोलन ने यह दिखा दिया कि संगठित होकर यदि जनता खड़ी हो जाये तो राजकरों का बोझ हल्का हो सकता है। स्मरण रहे कि अंग्रेजों से इस देश को शुरू से यह शिकायत रही है कि भारत की जनता पर राजकरों का भारी बोझ पड़ा हुआ था।

इन दोनों घटनाओं से देश का आत्मविश्वास बढ़ा।

तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने आरम्भ में गांधी जी को उपेक्षणीय समझा था। लार्ड रिडिंग ने भी कुछ वैसा ही समझ कर तो गाँधी जी को कह दिया था कि अपना अहिंसक आन्दोलन वे जब तक चाहे चलाते रहें, सरकार उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी।[2] हाँ, सरकार की ओर से एक ही शर्त रखी गयी थी कि आन्दोलन हिंसा पर न उतरे। पीछे चल कर सरकार को ऐसा दीखा कि असहयोग आन्दोलन कारगर भी हो सकता है और उसमें यह शक्ति है कि शासन को कठिन परि-स्थिति में डाल दे तो उसने उसे दबाने का बहाना ढूँढ़ना शुरू किया। सरकार ने मुहम्मद अली पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने सार्वजनिक रूप से हिंसा का प्रचार किया है। गांधी जी के बीच में पड़ने से उस समय तो मौलाना के विरुद्ध सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया लेकिन सितम्बर महीने में खिलाफत कांफ्रेंस के सिलसिले में मौलाना और अन्य दूसरे मुसलिम नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। बहाना यह लिया गया कि उक्त कांफ्रेंस ने एक प्रस्ताव पास कर मुसलमानों को अंग्रेजों की सैनिक और असैनिक सेवाओं का बहिष्कार करने को कहा था। गांधी जी ने सरकार की इस चुनौती को स्वीकार किया और देश के कोने-कोने में खिलाफत कान्फ्रेंस के उक्त प्रस्ताव का समर्थन किया गया। फलस्वरूप आन्दोलन फिर से चल पड़ा। सन् १९२१ के दिसम्बर महीने तक करीब २००० कांग्रेस कार्य-कर्ता सरकारी जेलों में पहुँच गये।

सत्याग्रहियों की संख्या इतनी बढ़ी कि जेलखाने में उनको रखने के लिए जगह

---

१. दि इण्डियन स्ट्रगल— एस०सी० बोस, पृ० ८५।
२ वही „ पृ० ८६।

नहीं रह गयी। कहीं-कहीं तो कैम्प जेल भी खुले। गाँधीजी के इस आन्दोलन ने जेल के भय के भूत को भगा दिया। कार्य-कर्ताओं में बहुत सारे लोग उच्चमध्य वर्ग और उच्च वर्ग के थे जिन्हें जीवन-यापन की कठिनाइयों का कभी अनुभव नहीं हुआ था। ऐसे लोग जेलखाने में जिस प्रकार रहे उसका स्मरण कर यही कहा जा सकता है कि उन्होंने देश-माँ के लिए सच मुच कठोर-तप किया।

इस बीच २१ दिसम्बर को मालवीय जी के नेतृत्व में एक शिष्ट-मण्डल वायसराय से मिलने गया और उससे राजबंदियों को रिहा कर देने को कहा। सरकार तदर्थ तैयार भी हो गयी और उसने यह भी स्वीकार किया कि अगले वर्ष मार्च महीने में गोलमेज-परिषद बुलायी जाये और शासन-सुधार की योजना भी बनायी जाय। लेकिन सरकार किसी भी कीमत पर पिकेटिंग का अधिकार देने को तैयार नहीं थी। फलस्वरूप समझौता नहीं हो सका। अहमदाबाद कांग्रेस ने गांधी जी को सत्याग्रह का महानिर्देशक बना दिया। देश बड़ी उत्सुकता के साथ गांधी जी की ओर देख रहा था।

१ फरवरी सन् १६२२ को गांधी जी ने लार्ड रिडिंग को पत्र लिख कर यह बताया कि यदि सरकार अपनी नीति परिवर्तिन नहीं करती तो वे गुजरात के बारदौली सबडिविजन में करबन्दी आन्दोलन खड़ा करेंगे। सत्याग्रह आन्दोलन शत्रु को सकते में लाकर अप्रत्याशित रूप से वार करने की नीति का विरोधी था। इससे गांधी जी ने सरकार को बहुत पहले ही आगाह कर दिया।[1] गांधी जी की इस समर-घोषणा से देश में एक प्रकार की उत्तेजना फैल गयी और गाँधी जी का आदेश मिलने के पहले ही गुन्तूर में करबन्दी आन्दोलन खड़ा हो गया। उसके बाद ४ फरवरी को उत्तर-प्रदेश के चौरा-चौरी नामक स्थान में उत्तेजित जनसमूह ने हिंसात्मक कार्रवाई भी की। गांधी जी ने इन घटनाओं से दुखी होकर आन्दोलन स्थगित कर दिया।[2]

सन् १६२२ के मार्च महीने में एक और घटना हुई, जिसका असर भारत के राजनीतिज्ञों पर पड़ा। उसी समय भारत मन्त्री मान्टेगू ने मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दिया। भारत का वह वर्ग, जो संवैधानिक सुधारों में विश्वास रखता था और अंग्रेजों की शासन-सुधार-योजनाओं का सदा सर्वदा स्वागत करता था—इस घटना से भौंचक रह गया। अब इसे अपने विश्वास के लिए कोई आधार नहीं मिल रहा था। इसी निराशा के क्षण में अप्रैल सन् १६२२ में सर तेज बहादुर सप्रू ने वायसराय की कार्य-

---

१. कांग्रेस का इतिहास, पार्ट १, पृ० १६० ।

१. कांग्रेस का इतिहास, पार्ट १, पृ० १६३ ।

कारिणी समिति की सदस्यता छोड़ी। मई, सन् १९२३ में श्रीचिन्तामणि उत्तर-प्रदेश के शिक्षा मन्त्री के पद से हट गये।[1]

कंजरवेटिव पार्टी के ब्रिटिश चुनाव में सत्तारूढ़ होने के बाद अंग्रेजों से किसी प्रकार की उम्मीद नहीं रह गयी थी। कांग्रेस का आन्दोलन भी प्रायः समाप्त हो गया था। गांधी जी गिरफ्तार कर लिये गये थे और उन्हें ६ साल कैद की सजा दे दी गयी थी।[2] इस बीच तुर्की में स्थिति-परिवर्तन हुआ। कमाल पाशा के नेतृत्व में धर्म-निरपेक्ष जनतंत्र के रूप में एक नये ही तुर्की देश का जन्म हुआ। कमाल पाशा के सत्तारूढ़ होने के बाद खिलाफत आन्दोलन भहरा कर गिर पड़ा और उसकी चोट कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन पर भी पड़ी।[3]

किन्तु, असहयोग आन्दोलन की इस विफलता में भी शक्ति का वह पुञ्ज छिपा दीखा जिसके सहारे देश की किस्मत बदला करती है। यह आन्दोलन, ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जबर्दस्त मोर्चा था। इस आन्दोलन ने दुनिया को यह दिखा दिया कि भारत में भेंड़-बकरे नहीं बसते। इसी अर्थ में हम इस आन्दोलन को क्रान्तिकारी आन्दोलन कहना चाहेंगे। कांग्रेस अब वैसी नहीं रह गयी थी जैसी रिपन को दीखी थी और जिसकी वे बड़ी आसानी से उपेक्षा कर सकते थे।

सत्याग्रह आन्दोलन के सूत्रधार गांधी जी के जेल में रहते समय चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे नेताओं के मन में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम का एक दूसरा मोर्चा खड़ा करने का विचार आया। उन्होंने कौंसिल-प्रवेश कर शासन-कार्य में गतिरोध उत्पन्न करने का निश्चय किया। गया-कांग्रेस के आगे अब दो रास्ते थे। एक गाँधी जी का बताया हुआ असहयोग का मार्ग था, दूसरा कौंसिलों के भीतर जाकर संघर्ष करने का। तदनुसार कांग्रेस दो भागों में विभक्त हो गयी। यहीं से 'स्वराज्य पार्टी' का इतिहास आरम्भ होता है। सन् १९१९ के संविधान के द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में जो द्वैध शासन चल रहा था वह मद्रास को छोड़ कर, सर्वत्र गतिहीन और जड़ बना हुआ था। मद्रास में 'जस्टिस पार्टी' ने कौंसिल का चुनाव जीता था, देश में भिन्न-भिन्न प्रान्तीय धारा सभाओं का नये संविधान के अन्तर्गत चुनाव कार्य सम्पन्न हो चुका था और इसलिए स्वराज पार्टी का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाया।[4]

'स्वराज्य पार्टी' अड़ंगा लगाने की जिस नीति में विश्वास करती थी उसका

---

१. वही
२. वही पृ० १९८।
३. इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट—एन० एस० बोस, पृ० ७०।
४. इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट—एन० एस० बोस, पृ०७२।

काट वायसराय का विशेषाधिकार था। और इसलिए अड़ंगा की नीति बहुत कारगर नहीं हो पाती थी। इस पार्टी ने स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के चुनाव में भी भाग लिया, जहाँ इसके सदस्य बहुमत में आये, जैसे कलकत्ता कारपोरेशन में वहाँ के नागरिकों को स्व-शासन का थोड़ा बहुत अनुभव हुआ। हम यह भी कह सकते हैं कि नागरिक जीवन पर से अंग्रेज अमलदारी का आतंक भी किसी दूरी तक हटा। जनता की सेवा करने का यत्किंचित अवसर प्राप्त हुआ। स्वराज्य पार्टी को गया-कांग्रेस में कांग्रेस के एक विशेष दल के रूप में स्थान मिला था। गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन की विफलता और स्वयं उनके जेल में रहने के कारण इस स्वराज्य दल को प्रभावशाली होने का भी अवसर मिला। स्वराज्य पार्टी ने सहयोग के छद्म-बन्धुत्व के बहाने गतिरोध पैदा करने की जो नीति अपनायी उसका समर्थन देश ने किया। एक समय तो ऐसा भी आया जब काँग्रेस का अपरिवर्तनवादी वर्ग चरखा-करघा तक ही सीमित रहा और परिवर्तनवादी वर्ग ही पौरुष की जाग्रति की हुंकार बन कर खड़ा हुआ। लेकिन अन्ततः स्वराज्य पार्टी का कौंसिलों का अनुभव बड़ा ही कटु रहा और यह अनुभव भी हुआ कि इस नीति से सरकारी काम-काज में कोई रुकावट आ नहीं पाती और देश की शक्ति भी व्यर्थ जा रही है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि जिस समय राजनीतिक जीवन में यह जड़ता की स्थिति आयी उसी समय देश में दो अन्य संस्थाएँ खड़ी हुईं। एक, हिन्दू महासभा गठित हुई और दूसरी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी।[1] हिन्दू महासभा, हिन्दू हितों के संरक्षण के उद्देश्य से स्थापित की गयी और इस अर्थ में वह अलीगढ़ आन्दोलन का एक तरह से जवाब थी। कम्युनिस्ट पार्टी रूसी क्रान्ति के प्रसार की सूचना है।

सन् १६२१ से लेकर सन् १६२२ के बीच देश में कुछ ऐसे आन्दोलन भी हुए जिनका राजनैतिक महत्त्व तो विशेष नहीं है किन्तु उस युग के जन-मानस को समझने में उनसे सहायता मिलती है। वैसे आन्दोलनों में एक है अकाली आन्दोलन। यह आन्दोलन सिख सम्प्रदाय तक ही सीमित रहा। इसका उद्देश्य गुरुद्वारों और सिख धार्मिक संस्थाओं के प्रबन्ध में सुधार करना था। सिखों के बीच मठाधीशों का विलासमय जीवन एक समस्या बन कर खड़ा था। अकाली आन्दोलन ने विलासी महन्तों को अधिकार-वंचित करने के लिए अहिंसक आन्दोलन खड़ा किया और उन धर्म संस्थाओं पर कब्जा किया। इधर अँग्रेजी सरकार दुर्नाम महन्तों की सहायता में चली आयी और उसने अकाली आन्दोलनकारियों का दमन किया। नवम्बर सन् १६२२ तक दमन का

---

१. इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट—एन० एस० बोस, पृ० ७२।

यह क्रम चलता रहा। लेकिन अन्त में सरकार को झुकना पड़ा।[1] दूसरा आन्दोलन मालावार के मोपलों का था। मोपलों का आन्दोलन यद्यपि हिन्दुओं के विरुद्ध था तथापि प्रकारान्तर से शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न आ ही जाता था और इस तरह सरकार बीच में आ ही गयी। कांग्रेस ने अनुभव किया कि मोपला मुसलमानों का यह आन्दोलन हिन्दू-मुसलिम एकता की कड़ी को छिन्न-भिन्न बनाने वाला है। लेकिन सरकार ने मोपलों के प्रति जो अत्याचार किया इसे भी कांग्रेस ने पसन्द नहीं किया। अस्तु, कांग्रेस ने मोपलों की निन्दा तो की ही, साथ ही, सरकारी दमन-चक्र की भी उसने तीव्र भर्त्सना की।[2] जेलों में पहुँच कर कांग्रेस राजवन्दियों ने जेल अधिकारियों के दुर्व्यवहार के विरुद्ध भी एक मोर्चा खड़ा किया। स्पष्ट ही ये आन्दोलनकारी अपने को साधारण कैदी, अपराधी, मानने को तैयार नहीं थे और विदेशी सत्ता से देश को मुक्त कराने के लिए वे जो आन्दोलन कर रहे थे उसे अपना पवित्र दायित्व समझते थे और किसी भी प्रकार अपने को वलवाई मानने को तैयार नहीं थे।

सितम्बर सन् १९२२ के वाद तो देश में अखिल भारतीय 'ट्रेड यूनियन कांग्रेस' नामक मजदूरों की एक संस्था भी खड़ी हो गयी।

इन विवरणों से यह स्पष्ट है कि देश का जाग्रत पौरुष अंग्रेजों का विरोध करने के मार्ग से हटा नहीं था।

अंग्रेजों ने जव यह अनुभव किया कि भारत की आजादी की मांग मद्धिम नहीं पड़ रही है और गाँधी जी का अहिंसक आन्दोलन उनके न चाहने पर भी हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है तो उन्होंने स्थिति का सामना करने के लिए भारतवर्ष की जनता को उसकी राजभक्ति का स्मरण कराया। हमें मालूम है कि कम्पनी वहादुर की सरकार के अन्त के वाद, जव रानी विक्टोरिया ने भारत का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया तव से ही भारत की प्रजा को—जो अपने संस्कार से ही राजभक्त है—इस वात का घोर परिताप था कि राजराजेश्वरी विक्टोरिया और उसके उत्तराधिकारी सात संमुद्र पार रहते हैं। भारत की प्रजा के इस मनोविज्ञान को अंग्रेज नौकरशाही खूब ठीक से जानती थी और इसीलिए युवराज की भारत-यात्रा आयोजित हुई। अंग्रेजों को सबसे अधिक परेशानी थी भारत में होने वाले हिंसा काण्डों से, जिनको आतंकवादियों का पूरा समर्थन भी मिल रहा था। कांग्रेस ने युवराज के भारत आने के दिन अर्थात् १७ नवम्बर को देशव्यापी हड़ताल-आन्दोलन खड़ा किया और युवराज का

---

१. इण्डियन स्ट्रगल—एस० सी० वोस, पृ० ६२-६३।
२. कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० १८०।

स्वागत करने के बदले उनका बहिष्कार किया।[1] जहाँ-तहाँ बहिष्कारकों और पुलिस में मुठभेड़ भी हुई। कलकत्ते से तो कुछ समय के लिए अंग्रेजों का शासन ही उठ गया था।[2] कांग्रेस-कार्यकर्त्ता जेलों में डाल दिये गये थे। आगे चल कर पं० मोतीलाल नेहरू की मध्यस्थता का लाभ उठा कर सरकार ने कांग्रेस को आन्दोलन बन्द करने के लिए राजी किया।

युवराज की इस यात्रा के समय अंग्रेजों की नीति में एक परिवर्तन हुआ। देशी रजवाड़ों में युवराज का बड़ा धूम-धाम के साथ स्वागत-सत्कार हुआ। इससे अंग्रेज नौकरशाही ने देशी नरेशों के प्रति कृतज्ञता के भाव का अनुभव किया। उन दिनों देशी नरेशों की परेशानी यह थी कि ब्रिटिश भारत में होने वाले मुक्ति आन्दोलन से प्रेरणा लेकर रजवाड़ों में भी मुक्ति आन्दोलन खड़े हो गये थे। अवसर का लाभ उठाकर देशी नरेशों ने सरकार से एक कानून पास करवाया जिसका नाम है 'दी इण्डियन स्टेट्स (प्रोटेक्शन एगेन्स्ट डिससैटिसफैक्शन) बिल १९२२'।

देश के अगले दिनों का इतिहास कांग्रेस संगठन के बीच आपसी मतभेद का इतिहास है। इसके बीच देश में साम्प्रदायिक दंगे भी हुए जिनमें लार्ड इरविन के कथनानुसार २५० व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये और २५०० से अधिक व्यक्ति घायल हुए। इन दंगों के दुष्परिणाम का अनुभव कांग्रेस और सरकार दोनों ही को अपने-अपने ढंग से हुआ। इसलिए दोनों ने साम्प्रदायिक एकता को बल देने के लिए सम्मेलन बुलाये।

अंग्रेज सरकार ने यह देखा कि सन् १९१९ का भारत शासन सुधार नियम देश में लोकप्रिय नहीं बन सका था। भारतीय राजनीतिज्ञों का सुधारवादी नरम दल भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उस नियम से बहुत संतुष्ट नहीं था। इधर भारत की आजादी की मांग ऐसी बन गयी थी कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। देश के जवानों की पीढ़ी में एक नई जाग्रति पैदा हुई और यत्र-तत्र युवक-आन्दोलन खड़ा हुआ। पंजाब और मध्यप्रदेश में इस आन्दोलन ने बड़ी प्रगति की। भारत की तरुणाई की एक बड़ी व्यथा थी कि अंग्रेजों ने 'आर्म्स ऐक्ट' बना कर शस्त्र धारण पर पाबन्दी लगा दी थी। राष्ट्रीय कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही राजा रामपाल सिंह ने शिकायत करते हुए कहा था कि अंग्रेजों ने भारत के पौरुष को सुपुप्त कर दिया और उसे भेड़-बकरी बना दिया। स्वयं इंग्लैन्ड में सभी लोग हथियार लेकर नहीं चलते लेकिन हमारी मुसीबत तो यह है कि चाहने पर भी हम शस्त्र धारण नहीं कर

---

१. दि इण्डियन स्ट्रगल, एस० सी० बोस, पृ० ९४।

२. वही, पृ० ९४।

सकते ।[1] नवयुवकों के इस आन्दोलन ने 'आर्म्स ऐक्ट' की अवहेलना करने का निश्चय किया और नागपुर में इस आन्दोलन के नेता श्री अवारी ने जेनरल की उपाधि धारण की । सरकार के लिए यह आन्दोलन परेशानी का कारण बन गया ।

इस बीच लार्ड रिडिंग का शासन-काल समाप्त हो गया था और उनके उत्तराधिकारी हुए थे लार्ड इरविन । अप्रैल सन् १६२७ में 'स्कीन कमिटी' की रिपोर्ट आयी जिसमें यह कहा गया था कि अगले २४ वर्षों के भीतर भारतीय सेना का आधी दूर तक भारतीयकरण हो जायेगा । इससे स्पष्ट है सरकार अगले २५ वर्षों के पहले भारत को आजाद करने का कोई इरादा नहीं रखती थी । यह प्रतिवेदन ऐसा निराशा-जनक था कि उस कमिटी के सदस्य पं० मोतीलाल नेहरू ने उस पर हस्ताक्षर भी नहीं किया । सन् १६२७ में भारतीय हित के विरुद्ध एक दूसरा काम यह किया गया कि हिन्दुस्तानी रुपये के मान की दर पौन्ड के अनुपात में १ शि० ४ पेन्स से १ शि० ६ पेन्स कर दिया गया । परिणाम यह हुआ कि भारतीय रुपये से विदेशी सामान पहले की अपेक्षा अब कम खरीदे जा सकते थे ।

कहना नहीं होगा कि भारतीय हितों के विरोधी अपने इन कारनामों से अंग्रेज भारत में कुख्यात हो गये । सन् १६२७ में ही अंग्रेजों को रूस के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ा । अब तक भारत में साम्यवादी विचारों का प्रवेश हो गया था और रूसी क्रान्ति की सफलता ने एक नये समाज का मानचित्र भारतीयों की आँखों के आगे प्रस्तुत कर दिया था । मजदूर आन्दोलन के जोर पकड़ने और भारतीय राज-नीति के सुधारवादी नेताओं के प्रभाव के क्रमशः क्षीण पड़ने से सरकार के आगे गहरी चिन्ता की स्थिति खड़ी हो गयी ।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि सविनय अवज्ञा-आन्दोलन की विफलता ने भारत के राष्ट्रीय अभिमान को कुंठित नहीं कर दिया था और भारत तब भी यही मानता था कि स्वभाग्य निर्णय का उसका जन्म सिद्ध अधिकार है । अस्तु, आन्दोलन के दब जाने के बाद भी अंग्रेजों को निश्चिन्त होने का कोई कारण नहीं था ।

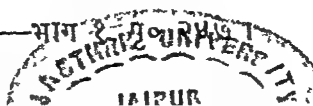
सन् १६२६ में इंग्लैन्ड में चुनाव होने वाला था । अब सत्तारूढ़ कंजरवेटिव पार्टी को जनता के समक्ष समर्थन प्राप्ति के हेतु जाना था । भारत की आजादी का प्रश्न अब तक भारत की भौगोलिक सीमा से बाहर का प्रश्न हो चुका था । इसलिए ब्रिटिश चुनाव को प्रभावित करने वाले एक प्रश्न के रूप में उसका खड़ा होना स्वाभा-विक ही था । सन् १६१६ के संविधान की ८४ ए धारा में इस बात की कल्पना की गयी थी कि अगले दस वर्षों के बाद इस बात का फिर से विचार किया जायेगा कि

१. कांग्रेस प्रेसीडेन्शियल ऐड्रेस, पृ० ३३२ ।

भारत में संवैधानिक सुधार के लिए आगे क्या कुछ किया जा सकता है। अस्तु, २६ नवम्बर सन् १९२७ को तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड वरकेनहेड ने एक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की और साथ ही यह चुनौती भी दी कि भारतीय यदि स्वराज्य प्राप्ति के लिए अपने को योग्य मानते हैं तो उन्हें एक ऐसा संविधान प्रस्तुत करना चाहिए जो सारे देश को स्वीकार हो। इस कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन नियुक्त हुए जिन्हें ६ अन्य सहयोगियों के साथ यह कमीशन वनाना था।

भारत में इस कमीशन का स्वागत नहीं किया गया। साइमन कमीशन के प्रति भारत के विरोध के कुछ कारण थे। पहले तो यही कि भारत का राष्ट्राभिमान यह गवारा नहीं कर सका कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को भारत का स्वभाग्य निर्णय का अधिकार है। स्मरण रहे कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन सदा से यह कहता आया था कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने संस्कारों, अपनी आवश्यकताओं और अपनी रुचि के अनुकूल शासन व्यवस्था कायम करने का अबाध अधिकार है। भारत को अंग्रेजों ने उस अधिकार से जो वंचित कर रखा है वह उनका अन्याय है। भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। विरोध का दूसरा कारण यह था कि इस कमीशन को इस बात का भी फैसला करना था कि भारत के लोग आजाद होने के लिए योग्य हैं या नहीं। भारत की इस विषय पर भी वड़ी आपत्ति थी। यह इसलिए कि भारत यह मानता था कि स्वतंत्र होने का प्रत्येक व्यक्ति को स्वाभाविक अधिकार है। योग्यता का प्रश्न आजादी के प्रश्न के क्रम में तभी उठता है जब उपनिवेशवाद अपना पंजा ढीला करना नहीं चाहता। एक तीसरा कारण यह भी था कि उक्त आयोग में सदस्य के के रूप में किसी भी भारतीय को नहीं रखा गया था। सरकार की ओर से इस आक्षेप के उत्तर में यद्यपि यह कहा गया था कि आयोग ब्रिटिश या पार्लियामेन्ट की सदस्य मण्डली के बीच से गठित है। इससे उसमें किसी भारतीय का रखना सम्भव नहीं था[1] तथापि भारतीयों को इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। साइमन कमीशन का विरोध केवल कांग्रेस ने ही नहीं किया वल्कि सर तेजवहादुर सप्रू जैसे उदारपंथी भारतीयों ने भी इस कमीशन का वहिष्कार किया। 'लिवरल फेडरेशन' के वम्बई वाले १० वें अधिवेशन में वहिष्कार की नीति ग्रहण करने का प्रस्ताव पारित किया गया। नरम वर्ग को भी इस वात का कष्ट था कि कमीशन में कोई भारतीय सदस्य नहीं रखा गया था, जिसके कारण भारतीयों का दर्जा हीन हो गया था। खटकने की वड़ी वात यह भी थी कि भारतीयों को अपना संविधान वनाने का अधिकार नहीं दिया गया था। नवम्बर में जो एकता सम्मेलन हुआ उसने मुस्लिम लीग की विचार-प्रक्रिया में

१. कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ३४७।



भी यत्किंचित परिवर्तन कर दिया। तभी तो मुस्लिम लीग ने भी साइमन कमीशन का वहिष्कार किया। एक बड़ी बात इस समय यह भी हुई कि मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए कौंसिलों में स्थान-सुरक्षा के आश्वासन पर संयुक्त निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर चुनाव लड़ना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार सम्पूर्ण देश ने साइमन कमीशन का वहिष्कार किया। सन् १९२८ के फरवरी महीने में जब कमीशन भारत पहुँचा तो सर्वत्र उसे काले झंडे दिखलाये गये और 'साइमन गो वैक' का नारा बुलन्द किया गया। उस दिन हड़ताल का भी आयोजन हुआ। जगह-जगह पुलिस के साथ प्रदर्शनकारियों की मुठभेड़ें हुई और पुलिस ने अपनी वर्वरता का नग्न रूप दिखाया। लाला लाजपत राय, पण्डित गोविन्द-वल्लभ पन्त और पण्डित जवाहर लाल नेहरू, जैसे नेता भी पुलिस की वर्वरता के शिकार हुए। श्री सुभाष चन्द्र वोस ने तो यह भी वताया है कि लाला जी पुलिस की वर्वरता के परिणामस्वरूप ही शहीद हुए।[1]

देश को, भारत मंत्री, वरकेनहेड की चुनौती का भी उत्तर देना था। इसलिए सर्वदल सम्मेलन का आयोजन सन् १९२८ के फरवरी और मार्च महीनों में किया गया। इस सम्मेलन ने पं० मोतीलाल नेहरू, सर अली इमाम, सर तेज वहादुर सप्रू, श्री अणे, सरदार मंगल सिंह, श्री कुरेशी, श्री जी० आर० प्रधान और श्री सुभाषचन्द्र वोस की उपसमिति गठित की और उसे कहा कि वह भारत के लिए एक ऐसा संविधान प्रस्तुत करे जो सारे देश की आशा-आकांक्षा को तृप्त करे और सवको स्वीकार भी हो।[2] इस उपसमिति ने वड़े परिश्रम से अपना कार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार देश ने भारत मंत्री की चुनौती का मुँहतोड़ जवाव दिया। किन्तु, अंग्रेजों की राजनीति सहज ही हार नहीं खाती। दिसम्वर सन् १९२८ में जव सर्वदल सम्मेलन की वैठक कलकत्ते में हुई, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और सिख लीग अपना विरोध प्रकट करने के लिए मैदान में आ गयीं। नेहरू कमिटी ने अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण की पूरी व्यवस्था की थी। लेकिन उससे भला उनको संतोष कैसे होता जो राष्ट्र की प्रगति के मार्ग में रोड़े वनने के लिए खड़े हुए थे। देश के प्रगतिशील नौजवानों को नेहरू कमिटी के अभिस्तावों से एक वड़ी शिकायत यह थी कि उसने पूर्ण स्वराज्य के स्थान पर तात्कालिक व्यवस्था के रूप में औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की थी। कांग्रेस का यह वर्ग पं० जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र वोस के नेतृत्व में नेहरू कमिटी के प्रस्तावों का विरोध करने के लिए खड़ा हुआ। लेकिन इसने जव यह देखा कि ऐसा करने से अंग्रेजों का यह दावा सिद्ध होता है कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं और

१. दि इंडियन स्ट्रगल—एस० सी० वोस, पृ० २०९।

२. वही पृ० २१०।

वे अपना संविधान एकमत होकर बना नहीं सकते तो इसने विरोध प्रदर्शन मात्र से संतोष किया और सर्वदल सम्मेलन के निर्णयों को भारत मंत्री की चुनौती के उत्तर के रूप में अंग्रेजों के समक्ष प्रस्तुत होने दिया।[1]

सन् १९२८ के सर्वदल सम्मेलन के अगले वर्ष भारतीय राजनीति के रंगमंच पर मि० एम० ए० जिन्ना का पदार्पण एक नये ही रूप में हुआ। इसके पहले वे भी एक कांग्रेस जन थे और अली बन्धुओं के साथ मुस्लिम लीग के मंच पर आकर उन्होंने उस संस्था की भाव-स्थिति को प्रभावित भी किया था। तभी तो मुस्लिम लीग ने संयुक्त निर्वाचन की बात मान ली थी। लेकिन ऐसा लगता है कि मि० जिन्ना को अपनी नेतागीरी की पड़ी हुई थी और उन्हें यह गवारा नहीं हो रहा था कि मोतीलाल नेहरू कमिटी के जिसने भारत के लिए संविधान तैयार किया था एक सदस्य वे नहीं हों।[2] मि० जिन्ना अब अपने विरोध का १४ सूत्री कार्यक्रम लेकर उपस्थित हुए।

उनकी प्रमुख माँगें थीं कि भारत की केन्द्रीय धारा सभा में एक तिहाई स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित हो। बंगाल और पंजाब की प्रान्तीय धारा सभाओं में भी मुसलमानों की संख्या के अनुपात से उनकी सदस्य संख्या स्थिर और सुरक्षित हो। मुस्लिम लीग की इस माँग के उत्तर में सिखों ने भी असम्भव माँगें प्रस्तुत कीं। हिन्दू महासभा हिन्दूहितों के संरक्षण का दावा लेकर सामने आयी और उसने बहुसंख्यक हिन्दू जाति की ओर से मुस्लिम लीग, और सिख लीग की माँगों को स्वीकार करने से इन्कार किया। इस प्रकार सर्वदल सम्मेलन को देश की तीनों प्रमुख जातियों का विरोध झेलना पड़ा और अंग्रेजों की चाल चल गयी।

सन् १९२९ के राजनैतिक इतिहास का विवरण उस वर्ष होने वाली कतिपय आतंकवादी घटनाओं की चर्चा के बिना अधूरा रहेगा। यह कहा जा चुका है कि भारत में आतंकवादियों ने हिंसात्मक आन्दोलन के द्वारा मुक्ति प्राप्ति का उद्योग किया था। अनुशीलन समितियों का गठन ऐसे आन्दोलन की महत्वपूर्ण प्रगति की सूचना है। लेकिन सन् १९२४ के अक्टूबर महीने में तो उससे भी बड़ी बात यह हुई कि लखनऊ में आतंकवादियों का अखिल भारतीय स्तर पर एक सम्मेलन हुआ और हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन नामक संस्था का जन्म दिया गया। इस संस्था का उद्देश्य था भारत में संयुक्त राज्यों के एक जनतांत्रिक संघ राज्य की स्थापना करना और तदर्थ सशस्त्र-मुक्ति-आन्दोलन चलाना। इस संस्था के जन्म के अगले १० महीने बाद ही ९ अगस्त सन् १९२५ को रामप्रसाद बिस्मिल के हाथों वह लोमहर्षक घटना घटित हुई

---

१. दि इंडियन स्ट्रगल—एस० सी० बोस, पृ० २१५।
२. वही पृ० २१८।

जिसे अंग्रेजों ने काकौरी षड्यंत्र के नाम से पुकारा है। इस क्रम में ३१ वाम-पंथियों को, जिनमें एक अंग्रेज भी था, सम्राट के विरुद्ध षड्यंत्र करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था और उन्हें दण्डित भी किया गया। काकौरी केस के साथ सम्बद्ध चन्द्र-शेखर आजाद ने, जिन्होंने अपने को पुलिस के हाथ पड़ने से बचाने में सफलता पायी, आतंकवादियों का नेतृत्व ग्रहण किया और 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' का 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन' के रूप में पुनर्गठन किया। आजाद के अतिरिक्त जो दूसरे आतंकवादी भारत-प्रसिद्ध हुए उनमें भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के नाम सम्मान्य हैं।

रूसी क्रान्ति का प्रभाव श्रमिकों पर पड़ना शुरू हो गया था और उनकी एक अखिल भारतीय संस्था भी खड़ी हो चुकी थी। किसानों और मजदूरों के हितों के संरक्षण के लिए क्षेत्रीय संस्थाएँ भी खड़ी हो रही थीं। ऐसी संस्थाओं में उत्तर प्रदेश की वर्कर्स ऐन्ड पीजेन्ट्स पार्टी का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार किसानों और मजदूरों के बीच जागरण और वह भी रूसी क्रान्ति के ढंग का जागरण पूरे बल के साथ फैलाने का काम आरम्भ हो गया। आतंकवादियों ने इन आन्दोलनों को प्रोत्साहन दिया। यह इसलिए कि वे स्वयं देश में एक समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहते थे।

८ अप्रैल सन् १९२९ को भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय धारा सभा में उस समय दो बम फेंके जिस समय वहाँ 'सार्वजनिक सुरक्षा बिल' पर बहस हो रही थी। यह सार्वजनिक सुरक्षा बिल जनता के अधिकारों को सीमित तो करता ही था, साथ ही इसने यह भी दिखा दिया कि स्वयं अंग्रेजों की बनायी हुई विधान सभाएँ शासकों के आगे कितनी निकम्मी थीं। सदन के अध्यक्ष ने जिस बिल को उपस्थित करने के प्रस्ताव को सदन की कार्य प्रणाली और शिष्टाचार के विरुद्ध घोषित करके, उसे पेश होने नहीं दिया था उसे ही वायसराय ने आर्डिनेन्स निकाल कर कानून बना दिया। अवश्य ही वायसराय के इस कार्य से उन लोगों का भ्रम दूर हुआ होगा जो विधान सभाओं में स्वराज्य की छाया ढूँढ़ रहे थे।

१३ सितम्बर, सन् १९२९ को एक और दुखद घटना हुई। लाहौर षड्यंत्र केस (१९२९) के अभियुक्तों ने जेल अधिकारियों के व्यवहार के विरुद्ध भूख हड़ताल शुरू की। इस दुखद घटना का उपसंहार हुआ यतीन दास की सहायता से।

सन् १९२९ के ब्रिटिश चुनाव में अनुदार दल को पराजित कर मजदूर दल सत्तारूढ़ हुआ। अब रामजे मैक्डोनल ब्रिटेन के प्रधान मंत्री बने। इनके समक्ष साइमन ने सुझाव रखा कि भारत के शासन सुधार के काम को आगे बढ़ाने के लिए ब्रिटिश भारत तथा भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया जाय।

३१ अक्टूबर सन् १९२९ को साइमन का यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और यह निश्चय हुआ कि एक गोलमेज सभा बुलायी जाय। पं० मालवीय, सर तेज और डा० एनी बेसेन्ट जैसे नेताओं ने मजदूर सरकार की उदार नीति में आस्था रख कर लाभ उठाने का निश्चय किया। किन्तु गाँधी जी ने मांग की कि अंग्रेजों को भारत को आश्वस्त करना चाहिए कि उनका हृदय परिवर्तन हो चुका है अर्थात् वे अपनी उपनिवेशवादी नीति को छोड़ चुके हैं और भारत को सर्व-प्रभुता-सम्पन्न एक स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में स्वीकार करने का इरादा रखते हैं। लार्ड इरविन गांधी जी को इस तरह का कोई आश्वासन देकर संतुष्ट न कर सके। उधर कैप्टेन वेन जैसे अंग्रेज एक ओर भारतीयों से कहते कि अंग्रेजों ने अपनी नीति बदल ली है और दूसरी ओर पार्लमेन्ट को आश्वस्त करते कि किसी नई नीति का प्रवर्तन नहीं होने जा रहा है।

कांग्रेस ने देखा कि पुरानी कहानी ही दुहरायी जाने वाली है। शोरगुल तो बहुत मचा लेकिन असलियत यह है कि अंग्रेजों का हृदय परिवर्तन हुआ नहीं था और वे देना कुछ चाहते नहीं थे। ऐसी स्थिति में गांधी जी के आगे सत्याग्रह आन्दोलन छोड़कर दूसरा कोई विकल्प नहीं रह गया था।

जिस नेहरू कमिटी की चर्चा ऊपर हो चुकी है वह पूर्ण स्वराज्य की मांग को मुल्तवी कर औपनिवेशिक स्वराज्य को तात्कालिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करने को तैयार थी। हमने ऊपर यह भी बताया है कि देश के नवयुवक नेहरू कमिटी की इस सिफारिश को स्वीकार नहीं करते थे। इससे बड़े-बूढ़ों के साथ नवयुवकों की मत-भिन्नता हो गयी थी। गांधी जी ने कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर बीच का रास्ता यह निकाल दिया था कि यदि अंग्रेज एक साल के भीतर भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर दें तो कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य को ही स्वीकार कर लेगी, अन्यथा वह पूर्ण स्वराज्य की अपनी मांग की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहेगी। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष थे पं० जवाहर लाल नेहरू जिन्हें, राष्ट्र 'युवक-हृदय-सम्राट' के नाम से पुकारता था। इस समय तक एक साल की उपरिर्निदिष्ट काल सीमा समाप्त हो गयी थी। अस्तु, कांग्रेस के इस अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की मांग की गयी। यहीं तिरंगे को भारत के राष्ट्रध्वज के रूप में स्वीकार किया गया। कांग्रेस ने यह भी अनुभव किया कि अंग्रेजों से किसी प्रकार की उम्मीद नहीं की जा सकती है। गोलमेज सम्मेलन का सारा आयोजन जनता का ध्यान राष्ट्र के मुक्ति आन्दोलन से हटा लेने के उद्देश्य से प्रेरित है। अस्तु, समझौते के माया जाल से निकल कर संघर्ष की ओर बढ़ना ही राष्ट्र हित की दृष्टि से शुभ होगा। तदनुसार कांग्रेस ने गांधी जी को सविनय-अवज्ञा आन्दोलन चलाने का अधिकार दे दिया।

अधिवेशन के बाद कांग्रेस ने कौंसिलों के बहिष्कार का निश्चय किया।

२६ जनवरी सन् १९३० को सारे देश में कांग्रेस का पूर्ण स्वराज्य विषयक घोषणा-पत्र भी पढ़ा गया। इस घोषणा-पत्र में यह कहा गया है कि अन्य राष्ट्रों की भाँति भारतीय भी स्वतंत्र होकर रहना अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं और जो सरकार जनता के इस अधिकार को छीन लेती है तथा प्रजा को सताती है, उस सरकार को बदल देने अथवा मिटा देने का अधिकार जनता को प्राप्त है। अंग्रेजों ने देश में जो शासन कायम कर रखा है उसका आधार शोषण है और उसने देश का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से, नाश किया है। ऐसी सरकार को कायम रखने का कोई भी नैतिक और वैधानिक अधिकार नहीं हो सकता। अस्तु, देश शपथपूर्वक यह निश्चय करता है कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु कांग्रेस की आज्ञा का समय-समय पर पालन करेगा।[1]

गांधी जी ने लार्ड इरविन के सामने अपनी सुप्रसिद्ध ११ शर्तें रखीं।[2] गांधी जी ने उस समय के अपने एक वक्तव्य में यह कहा था कि ऐसा लगता है कि भारत को अंग्रेजों से औपनिवेशिक स्वराज्य पाने के लिए, उस समय तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक भारत का प्रत्येक करोड़पति ७ पैसे रोज मजदूरी पाने वाला भिखारी न बन जाये।[3] स्पष्ट है कि गांधी जी का भी अंग्रेजों की नेकनीयती में विश्वास नहीं रह गया था।

अन्त में २ मार्च सन् १९३० को गांधी जी ने वायसराय के नाम एक लम्बा पत्र लिख कर आन्दोलन के सम्बन्ध में उनको पूर्व सूचना दी। फिर १२ मार्च सन्१९३० को दांडी यात्रा आरम्भ कर उन्होंने आन्दोलन छेड़ दिया। देश में 'नमक-सत्याग्रह' के नाम से विख्यात होने वाला यह आन्दोलन अंग्रेजी राज्य की नींव हिला देने में समर्थ सिद्ध हुआ। गांधी जी ने सरकार से 'साल्ट ऐक्ट' जैसे अदने-से नियम का बहाना लेकर यह आन्दोलन इसलिए छेड़ा कि वे आन्दोलन को देशव्यापी जन आन्दोलन बनाना चाहते थे। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी दिखाया कि अंग्रेज किस प्रकार भारत का आर्थिक शोषण कर रहे थे। इस आन्दोलन में प्रायः ६०००० भारतीय राष्ट्रवादी जनसेवक अंग्रेजों के कैदखानों को भरने के लिए पहुँच गये। इनमें भारी संख्या में महिलाएँ भी थीं। आन्दोलन की लहर पश्चिमोत्तर प्रदेश के पठानों तक भी पहुँची। सीमान्त गांधी, बादशाह खान ने बात की बात में बन्दूक से गोली चला देने वाले पठानों के बीच पूर्ण अहिंसक आन्दोलन के लिए प्रतिश्रुत खुदाई-खिदमतगारों का अपना यह लालकुर्ती दल खड़ा कर असम्भव को संभव कर दिखाया। अंग्रेजी सरकार

१. कांग्रेस का इतिहास, पृ० २८९
२. वही पृ० २९०
३. यंग इंडिया—कांग्रेस का इतिहास, पृ० २९०।

उस क्षेत्र में किसी प्रकार की विरोधी चेतना को फैलाने की छूट नहीं दे सकती थी। इसलिए खुदाई-खिदमतगारों का पूर्ण दमन किया गया। जहाँ देश के अन्य क्षेत्रों में पुलिस की लाठियाँ चलीं वहाँ इस क्षेत्र में फौज की गोलियाँ भी चलीं।

कांग्रेस को अवैध संस्था घोषित किया गया और उसके कार्यालयों पर सरकार ने कब्जा किया। दमन का यह जोर जुलाई महीने तक अवाध रूप से चलता रहा, अगस्त महीने में नरमपंथी सर तेज और श्री जयकर ने शान्ति-प्रयत्न आरम्भ किया लेकिन मतभेद की खाई इतना चौड़ी थी कि उसे पाट देना उनके वश में नहीं रह गया था। इधर 'साइमन कमीशन' का प्रतिवेदन प्रकाशित हो चुका था जो राष्ट्र के अनुमान के अनुसार ही घोर असंतोषजनक था।

प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन के निर्णयानुसार भाग नहीं लिया किन्तु भिन्न-भिन्न स्वार्थों के स्वयंभू नेता उक्त सम्मेलन में उपस्थित हुए और ऐसा लगता है कि वे यह सोचकर ही बैठे थे कि भारत की आजादी के प्रश्न को वे खटाई में डाल दें। तभी तो मुस्लिम लीग, सिख लीग, और दलित वर्ग के नेताओं ने ऐसे-ऐसे सवाल उठाये कि किसी प्रकार का समझौता न हो सका। इस सम्मेलन में काम की एक ही बात हुई, वह यह कि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक भारतीय संघ बनाने का निर्णय किया गया।

इस समय तक आकर मुहम्मद अली के विचारों में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्हें लगा कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और उसके निर्देश पर चलने वाले असहयोग आन्दोलन के साथ सहयोग करने का अर्थ है मुसलमानों को हिन्दुओं के दया-दाक्षिण्य के भरोसे छोड़ देना।[1] इस प्रकार अंग्रेजों की चालाकी उन पर भी डोरे डालने में समर्थ सिद्ध हुई। गोलमेज कान्फ्रेंस के समय ब्रिटिश-सरकार को भी यह अनुभव हुआ कि कांग्रेस की उपेक्षा करके भारत में जो कुछ भी किया जायेगा वह व्यर्थ होगा। अस्तु, लार्ड इरविन ने गांधी जी से समझौता करने का विचार स्थिर किया। तदनुसार कांग्रेस नेताओं को २६ जनवरी सन् १९३१ को विना शर्त रिहा कर दिया गया। सर तेज, जयकर और वी०एस०एस० शास्त्री की मध्यस्थता स्वीकार कर इरविन कांग्रेस से वार्ता करने लगे। अन्त में 'गांधी-इरविन पैक्ट' की शर्त तय हुई और कांग्रेस राजवंदियों को जेल से मुक्त कर दिया गया। लेकिन 'गांधी-इरविन पैक्ट' से जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस जैसे नेताओं को संतोष नहीं हुआ। यह इसलिए कि वैसा करने से कांग्रेस का समस्त भारत की प्रतिनिधि संस्था होने का दावा बाधित हो जाता था। इधर अंग्रेजों ने एक और चाल चली।

---

१. इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट—एन० एस० बोस, पृ० ८०।

मार्च सन् १९३१ की करांची कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने भगत सिंह और उनके साथियों को फाँसी चढ़ा दिया। युवकों में यह प्रचारित हुआ कि गांधी जी की नरमी भगत सिंह को फाँसी का कारण थी। इसलिए गांधी जी के विरुद्ध नारे लगे। कांग्रेस में भी गांधी-इरविन पैक्ट की स्वीकृति के प्रश्न पर आपस में मतभेद दीखा। किन्तु, अन्ततः उक्त पैक्ट को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार कांग्रेस दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए राजी हो गयी।

दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस सितम्बर सन् १९३१ में बुलाई गयी। कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में महात्मा जी उसमें भाग लेने लन्दन गये। इस बार भी सामुदायिक मसले खड़े किये गये जिनके कारण सम्मेलन की प्रगति अवरुद्ध रही। लेकिन एक लाभ यह हुआ कि गांधी जी ने उस सम्मेलन के मञ्च से यह घोषित किया कि कांग्रेस एक राजनैतिक दल मात्र नहीं है वह तो राष्ट्रीय रंगमंच है, जिसमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और वर्गों के लोग एकत्र होकर राष्ट्र की मुक्ति के लिए प्रयास करते हैं। अंग्रेज जनता पर गांधी जी की सादगी और निर्भीकता का भी बड़ा असर पड़ा। परिणाम की दृष्टि से यह दूसरा सम्मेलन भी पहले की ही तरह विफल रहा।

इस बीच ब्रिटेन की राजनीति ने बड़ा पलटा खाया। रामजे मैक्डोनेल ने मजदूर दल से हट कर एक राष्ट्रीय सरकार बनायी जो सभी दृष्टियों से कञ्जरवेटिव दल की ही सरकार थी। अगले आम चुनाव में कञ्जरवेटिव दल विजयी हुआ। उसकी विजय ने भारत में शासन सुधार कार्य की प्रगति में बड़ी बाधा उपस्थित की। इसी सरकार के जमाने में दूसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन के अन्त में धन्य-वाद ज्ञापन के समय गाँधी जी ने एक तरह से अपनी ओर से इस नाटक का पटाक्षेप कर दिया।

भारत वापस आने के वाद गांधी जी ने देखा कि इरविन के उत्तराधिकारी वेलिंग्डन गांधी-इरविन पैक्ट की शर्तों को भंग करने पर तुले हुए थे और वे कुछ सुनने को तैयार भी नहीं थे। गांधी जी ने अत्यन्त दुःख के साथ यह अनुभव किया कि वायसराय की दृष्टि में उनके सद्भाव का कोई अर्थ नहीं है।[1] वायसराय के प्रत्येक कार्य से यही सूचित हो रहा था कि वे और उनकी सरकार इरविन के जमाने में जो थोड़ा वहुत हुआ था उसे लीप-पोत कर बराबर करना चाहते थे। वायसराय ने और तो और महात्मा गांधी से भी मिलने से इन्कार किया। उनके इस अशिष्ट व्यवहार के वाद कांग्रेस के आगे आन्दोलन को फिर से जारी करने के अलावे दूसरा रास्ता नहीं रह गया। अस्तु, कांग्रेस कार्य-समिति ने आन्दोलन का सिंहनाद किया। महात्मा जी तथा कांग्रेस कार्य-समिति के सभी सदस्य कैद कर लिए गए। सारे देश के कांग्रेस जन एक

---

१. कांग्रस का इतिहास—पृ० ४१३।

बार फिर जेल में डाल दिये गये। कांग्रेस संस्था को गैरकानूनी करार दिया गया। लाठी-चार्ज और गोलीकाण्ड तो हुए ही, कांग्रेस जनों की निजी सम्पत्ति की जब्ती भी हुई और जगह-जगह सामुदायिक अर्थ दण्ड भी दिया गया। दमन के इस जोर के होने पर भी करीब १२०००० लोगों ने जेल यात्रा की।

अगस्त सन् १९३२ में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री रामजे मैकडोनेल ने भारतीय राष्ट्र की अखण्डता और कांग्रेस के सम्पूर्ण देश की ओर से बोलने के दावे के ऊपर एक कठोर आघात किया। उन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन विषयक अपना निश्चय प्रसारित किया जिसके अनुसार मुसलमानों, यूरोपियनों और सिखों के लिए पृथक्-पृथक् निर्वाचन क्षेत्र स्थिर होने को थे। महिलाओं के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाने को थे और अछूतों को एक स्वतंत्र जाति मान कर उनके लिए भी पृथक् चुनाव क्षेत्र बनने वाले थे। सरकार ने अछूतों के लिए एक नया शब्द निकाला—अनुसूचित वर्ग। उसे सरकार हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न मानने लगी। गांधी जी ने इस निश्चय के विरोध में अपनी रुग्णावस्था में भी आमरण अनशन की घोषणा की। अंग्रेजों द्वारा सम्पोषित डा० अम्बेडकर अछूतों के नये नेता के रूप में खड़े हुए। गांधी जी के इस अनशन के ५ दिन चलने के बाद एक आपसी समझौता हुआ जिसे 'पूना पैक्ट' कहते हैं।

गाँधी जी के अनशन के निश्चय के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने यूरोप में यह प्रचार किया कि गाँधी जी अवर्ण हिन्दुओं को किसी प्रकार की सुविधा देना नहीं चाहते।[1] स्पष्ट है कि अंग्रेज दुनिया के सामने यह दिखाना चाहते थे कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और वह सारे देश का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अल्पसंख्यक मुसलमानों और हरिजनों के प्रति न्याय भावना के कारण अंग्रेजों को बाध्य होकर भारत में शासन सुधार के काम को मन्थर गति से चलाना पड़ता है और इन अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक हिन्दुओं की संस्था, कांग्रेस के दया-दाक्षिण्य पर छोड़ देना अंग्रेजों के लिए घोर अनुत्तरदायित्वपूर्ण आचरण होगा। भारत को गुलाम बना कर रखने के लिए अंग्रेजों को एक बड़ा अच्छा बहाना मिल गया। अंग्रेजों के प्रचार ने यूरोप में भारत के सम्बन्ध में यह प्रवाद फैलाया कि वह आन्तरिक संघर्ष से टूटा हुआ है और स्वतन्त्र होने के योग्य भी नहीं है। ऐसे प्रचार से अंग्रेजों की नेक-नीयती के सम्बन्ध में संदेह करने के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती थी। पूना पैक्ट ने कम से कम यह बता दिया कि देश में गांधी जी का क्या मान है और यह देश आपसी मतभेदों को उनके बीच में पड़ने पर निबटा ले सकता है।

एक ओर तो लार्ड वेलिंग्डन घोर दमन की नीति को कार्यान्वित कर रहे थे

---

१. दि इण्डियन स्ट्रगल—एस० सी० बोस, पृ० ३४६।

और दूसरी ओर संवैधानिक सुधारों की चर्चा भी करते थे। सन् १९३२ की जनवरी में कंसल्टेटिव कमिटी के नाम से एक समिति गठित हुई जिसका काम था कांग्रेस को छोड़ कर जो दूसरी राजनीतिक संस्थाएँ थीं अथवा नेता थे उनकी चुनाव के अधिकार, संघीय अर्थनीति तथा देशी राजवाड़ों के विषय में राय प्राप्त करना और सरकार को सूचना देना। सरकार की ओर से कहा गया कि वह तो जून सन् १९२७ से ही यह चाहती है कि भारत के प्रान्तों में पूर्ण सत्ता प्राप्त शासन-व्यवस्था और केन्द्र में वैसे स्वतन्त्र प्रान्तों की इकाइयों के संघ की स्थापना हो। किन्तु गोलमेज सम्मेलन के दो अधिवेशनों की विफलता से वह निराश हो चुकी है। अब उस काण्ड का वह अन्त करना चाहती थी। शासन सुधार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए ही उसने कन्सल्टेटिव कमिटी बनायी है। लेकिन भारत के और तो और नरम दल के नेताओं को यथा, शास्त्री, जयकर, जोशी और सप्रू को भी यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कंसल्टेटिव कमिटी की सदस्यता का परित्याग किया। अन्त में तीसरा गोलमेज सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया और १७ नवम्बर से २४ नवम्बर तक यह तीसरा सम्मेलन लंदन में हुआ भी। यहाँ स्मरण रखने की एक बड़ी बात यह है कि इंगलैण्ड के मजदूर दल ने भी इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया और उसने यह भी चाहा कि भारतीय इसका बहिष्कार करें।[1] कहना नहीं होगा कि कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया।[2]

इधर भारत में आतंकवादी आन्दोलन का जोर बढ़ रहा था। यतीन दास की शहादत के बाद आतंकवादी आन्दोलन को अपेक्षित गति प्राप्त हुई। मुट्ठी भर आतंकवादी अपने नेता चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में शासन को पानी पिला देने में समर्थ सिद्ध हुए थे। सन् १९३१ में इलाहाबाद में पुलिस के साथ मुठभेड़ में आजाद वीरगति को प्राप्त हुए। सन् १९३२ में चितगाँव आरमरी रोड केस का भी फैसला हुआ और उसके अनुसार १४ व्यक्तियों को काले पानी की सजा हुई। सरकार यह देख रही थी कि आतंकवाद उसके लिए कैसी कठिन परिस्थिति पैदा करता जा रहा था। सन् १९३० के दिसम्बर महीने की ८ तारीख को विनय, बादल और दिनेश नामक तीन नवयुवकों ने जेल के महानिरीक्षक की हत्या करके सरकार को बौखला दिया। फलस्वरूप वायसराय ने चार आर्डिनेन्स निकाले जो बाद में 'स्पेशल पावर आर्डिनेन्स' के नाम से कुख्यात हुए। इस आर्डिनेन्स का उद्देश्य दमन कार्य के लिए कानून की स्वीकृति प्राप्त करना था।[3]

---

१. इण्डियन स्ट्रगल—एस० सी० बोस, पृ० ३५१।
२. इण्डियन नेशनल मूवमेंट—एन० एस० बोस, पृ० ८३।
३. इण्डियन स्ट्रगल—एस० सी० बोस, पृ० ३५४।

आतंकवाद का प्रसार कैसे हो रहा था इसकी सूचना पहाड़तली रेलवे संस्थान की घटना से प्राप्त होती है। २२ सितम्बर सन् १६३२ को थोड़े से आतंकवादियों ने, जिनमें प्रीतिलता वद्देदर नामक एक युवती भी थी, उस संस्थान पर आक्रमण किया।[1] इस तरह की घटनाएँ अन्य स्थानों पर भी हो रही थीं।

अगले वर्ष सन् १६३३ में काँग्रेस का महाधिवेशन कलकत्ता में होने वाला था। किन्तु सरकार ने उस पर पाबन्दी लगा दी और कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन सरकारी पाबन्दी की अवज्ञा करके श्रीमती जे० एम० सेनगुप्ता की अध्यक्षता में निश्चित स्थान पर ही २५०० कांग्रेसियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने शासन-सुधार सम्बन्धी सरकारी श्वेत-पत्र का विरोध किया।

गांधी जी ने जेल में ही अनशन करने का एक बार और निश्चय किया। यह अनशन ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध न होकर स्वयं भारतीयों के विरुद्ध प्रेरित था। गाँधी जी की शिकायत थी कि हिन्दुओं ने अछूतों के प्रति अब तक न्याय नहीं किया है। गाँधी जी का यह निश्चय उनके सहयोगियों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देने वाला सिद्ध हुआ। गाँधी जी का यह अनशन उनके अनुसार आत्मशुद्धि के लिए किया गया था। सरकार इस अनशन की जवाबदेही लेना नहीं चाहती थी। अस्तु, उसने महात्मा जी को जेल से मुक्त कर दिया। बाहर आकर गाँधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन को पहले ६ सप्ताह के लिए और बाद में फिर अगले ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। देश को इसका बड़ा क्षोभ हुआ। किन्तु गाँधी जी जीवन-मरण के संघर्ष में लगे थे और देश उन्हें किसी भी प्रकार दुखी करना नहीं चाहता था। एक दूसरी बड़ी बात जो गाँधी जी ने की वह यह थी कि उन्होंने काँग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष माधव श्रीहरि अणे को यह कह कर कांग्रेस संस्था को इसलिए विघटित करा दिया कि कांग्रेस जनों में लुक-छिप कर आन्दोलन करने की प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। गाधी जी के अनुसार असहयोग आन्दोलन के लिए नैतिक आचरण का जो उच्च स्तर अपेक्षित है वह कांग्रेस जनों के पास नहीं रह गया था।[2]

---

१. इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट—एन० एस० बोस, पृ० ८६।

2. I feel the masses have not yet raceived the massage of Satyagrah owing to its adulteration in the process of traansmissioni It has become clear to me that spiritual instruments suffer in their potency when their use is taught through non-spiritual media—Gandhiji. Quoted in India Today, P. 312.

देश के नेताओं में लोकप्रियता की दृष्टि से गाँधी जी के बाद जवाहर लाल जी का स्थान था। जेल से छूटने के बाद उन्होंने गांधी जी को अपने पथ से विरत करने की अथक चेष्टा की। लेकिन फल कुछ न हुआ। जवाहरलाल स्वतन्त्र रूप से समाजवाद का प्रचार करते रहे लेकिन कांग्रेस को वह आगे न बढ़ा सके। वे स्वयं हैरान थे। उनकी तत्कालीन मनोदशा का परिचय उनकी रचना (ह्विदर इण्डिया) 'हम कहाँ हैं' से प्राप्त हो जाता है ।

कार्य समिति के सदस्यों में एक श्री के० एफ० नरीमैन थे जिन्होंने गाँधी जी का सशक्त ढङ्ग से विरोध किया। सन् १६३४ के जनवरी महीने में जवाहर लाल नेहरू गिरफ्तार कर लिये गये। इस प्रकार कांग्रेस के गतिरोध को दूर करने का काम न हो सका। डाक्टर अन्सारी और विधान चन्द्र राय ने अपने ढंग से कांग्रेस संस्था को पुन-र्जीवित करने का प्रयास किया, किन्तु मुसीवत यह थी कि एक ओर गांधी जी अपने पक्ष पर अड़े हुए थे और दूसरी ओर सरकार के आर्डिनेन्सों के कारण कांग्रेस का संगठन कार्य भी नहीं हो सकता था। देश चुप बैठने को तैयार नहीं था। यदि कुछ न किया जा सके तो कम से कम धारा सभाओं में प्रवेश तो किया ही जा सकता था— ऐसी ही मनस्थिति देश की थी। कहना नहीं होगा कि गांधी जी का असहयोग आन्दो-लन विफल हो गया था और देश में सर्वत्र एक प्रकार की जड़ता, किंकर्तव्यविमूढ़ता जैसी स्थिति आ गई थी।

इसी बीच १५ जनवरी सन् १६३४ को विहार का प्रलयंकर भूकम्प हुआ जिसमें मुजफ्फरपुर और मुंगेर दो जिलों की अपार क्षति हुई। कांग्रेस नेता भूकम्प-पीड़ितों के सहायता कार्य में लग गये और सारे देश का ध्यान विहार की ओर खिंच आया। स्वयं गांधी जी विहार आये और इसी के बाद पटने में ही प्रायः २ वर्षों की अवधि के उपरान्त अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक बुलाई गई। लोगों ने आश्चर्य के साथ यह देखा कि स्वयं गाँधी जी कौंसिल प्रवेश के पक्ष में खड़े हो गये। तब तक केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा सभाएँ विघटित हो गयी थीं और नया चुनाव नवम्बर महीने में होने वाला था।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के चुनाव-आन्दोलन विषयक निर्णय से कांग्रेस के वामपंथ को जो समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा था और 'कांग्रेस समाज-वादी दल' के नाम से पुकारा जाता था वड़ा क्षोभ हुआ। कौंसिल प्रवेश के पक्षधरों की मण्डली के पण्डित मालवीय और श्री अणे का भी गांधी जी से साम्प्रदायिक निर्णय के प्रश्न पर मतभेद हुआ। उन्होंने कांग्रेस छोड़ कर 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी' बनाई। सितम्बर महीने तक ऐसा अनुमान होने लगा कि गांधी जी सक्रिय राजनीति

से विराग ले लेंगे। और अन्त में गांधी जी ने कांग्रेस की सदस्यता छोड़ भी दी। कांग्रेस से विदा लेते समय उन्होंने यह बताया था कि कांग्रेस संस्था में उन समाजवादियों का जोर बढ़ता जा रहा है जिनका अहिंसा में विश्वास नहीं है। वे अहिंसा को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए एक तात्कालिक साधन के रूप में ही ग्रहण करते थे। लेकिन गांधी जी के लिए अहिंसा, नीति का विषय न होकर विश्वास का विषय थी। ऐसी स्थिति में उनके लिए कांग्रेस संस्था में बना रहना सम्भव नहीं था। स्पष्ट है कि देश में समाजवादी चेतना का प्रसार हो रहा था और देश मुक्ति के लिए व्याकुल था। हिंसा और अहिंसा के प्रश्न की दार्शनिक मीमांसा में समय नष्ट करने का उसके पास उत्साह नहीं था। तीन वर्षों की जड़ता के बाद कांग्रेस की विद्रोही आत्मा अपने विकास के लिए दिशा खोज रही थी।

संघर्ष के लिए आतुर राष्ट्र के सामने ११ नवम्बर सन् १९३४ को 'लिनलिथगो कमिटी' का प्रतिवेदन प्रस्तुत हुआ जिसमें भारत के नये संविधान के प्रारूप का प्रस्ताव किया गया था। इस कमिटी ने सरकार की ओर से कुछ दिन पहले निकलने वाले एतद्-विषयक श्वेत पत्र को भी ऐसा उलट-पुलट दिया था कि भारतीयों को सन् १९३५ के शासन-सुधार के नाम पर भी सचमुच कुछ भी ठोस चीज मिलने वाली नहीं थी। अगस्त सन् १९३५ में भारत के नये सविधान को सम्राट की स्वीकृति भी प्राप्त हुई।

इस नये संविधान के अनुसार प्रान्तों के द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया और प्रान्तों में उत्तरदायी-शासन की परम्परा खड़ी हुई। प्रान्तीय विधान सभा केवल निर्वाचित सदस्यों की सभा बनी, उसमें मनोनीत सदस्य नहीं रहे। छः प्रान्तों में विधान परिषद् करके दूसरा सदन भी गठित हुआ, जिसमें थोड़े से नामजद सदस्य भी रखे गये। अनुसूचित वर्ग तथा अल्पमतों के लिए प्रान्तीय धारा सभाओं में निश्चित संख्या में स्थान सुरक्षित रखे गये।

प्रान्तीय क्षेत्र में शासन का कार्य विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी मन्त्री मण्डल के द्वारा होना था। केन्द्र में आगे चल कर एक सङ्घ की स्थापना होनी थी और उसका दायित्व उन विषयों तक सीमित रहने वाला था जिन्हें प्रान्तीय शासन उनके लिए स्थिर कर दे। पहले प्रान्तों के क्षेत्र में इस नये संविधान को लागू किया गया। तत्कालीन ११ में से ७ प्रान्तों में कांग्रेस को धारा-सभा में अजेय बहुमत मिला। कांग्रेस की इस शानदार जीत से देश में सर्वत्र उत्साह का ज्वार फूट पड़ा। लेकिन कांगेस ने अपने चुनाव अभियान के अवसर पर जनता से वादा किया था कि वह विधान मण्डलों में जाकर शासन तन्त्र को छिन्न-भिन्न कर शासन का चलना असम्भव कर देगी और इस प्रकार मुक्ति आन्दोलन का कार्य क्षेत्र कौंसिलों के भीतर हो जायेगा।

इस नये संविधान में प्रान्तीय शासनों के लिए यह आवश्यक था कि वह बहुमत के नेता को मन्त्रीमण्डल बनाने में सहायता देने के लिए आहूत करे। कांग्रेस विधान मण्डलों के नेताओं ने गवर्नरों के आमन्त्रण को स्वीकार करने के पूर्व यह आश्वासन चाहा कि गवर्नर एक संवैधानिक शासक की भूमिका ही अदा करेगा न कि विशेष अधिकारों का प्रयोग कर मन्त्रीमण्डल के कार्य में रुकावट पैदा करेगा। गवर्नरों के लिए इस तरह का आश्वासन उस दल के नेताओं को देना कठिन था जिसने चुनाव संघर्ष, नये संविधान को छिन्न-भिन्न करने के उद्देश्य से किया था, न कि उसे निष्ठा-पूर्वक कार्य रूप में व्यवहार रूप में चलाने के लिये। अस्तु, अब राजनैतिक जिच की स्थिति पैदा हुई। उन प्रान्तों में जिनमें कांग्रेस को अजेय बहुमत प्राप्त हुआ था गवर्नरों ने काम-चलाऊ गुड़िया मन्त्रीमंडल बनाए। मुस्लिम लीग ने जिसे सुरक्षित मुस्लिम सदस्यता के अधिकाधिक स्थान प्राप्त हुए थे, कांग्रेस के आगे संयुक्त मन्त्री-मण्डल बनाने का प्रस्ताव रखा। किन्तु, कांग्रेस ने उसे अस्वीकार कर मुस्लिम लीग को मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था मानने से इन्कार किया। गुड़िया मन्त्री-मण्डल ६ महीने से अधिक संविधान की धाराओं के अनुसार नहीं रखा जा सकता था। अस्तु, सरकार को झुकना पड़ा और प्रान्त में बहुत अंश तक स्वशासन की परम्परा चली।

इस बीच बिहार में एक उल्लेखनीय घटना घटी। बिहार सरकार के तत्कालीन मुख्य सचिव श्री ब्रेट ने आदेश जारी करके सरकारी अफसरों को यह बताया कि प्रान्त का शासन गवर्नर में निहित था, न कि मंत्रीमण्डल में। इस आदेश का उद्देश्य मन्त्री-मण्डल को अधिकारियों की दृष्टि में महत्वहीन सिद्ध करना था। कांग्रेस का यह कहना था कि संवैधानिक शासन के क्रम में सारा शासन कार्य शासन-तन्त्र के अध्यक्ष के नाम पर चलता तो है लेकिन नीति तो उसकी ही कार्यान्वित होती है जिसको मन्त्रीमण्डल कहते हैं।

मिस्टर ब्रेट की इस विज्ञप्ति के विरोध स्वरूप मन्त्रीमण्डल ने पद त्याग करने की धमकी दी और सरकार को उस विज्ञप्ति को वापस लेना पड़ा। हरिपुरा कांग्रेस के समय एक दूसरी घटना भी घटी। मन्त्रीमण्डल अंडमन में पड़े हुये कुछ आतंक-वादी राष्ट्र-सेवियों को मुक्त करना चाहता था और गवर्नर मन्त्रीमण्डल से सहमत नहीं था। बिहार मन्त्रीमण्डल ने उक्त प्रश्न पर पद त्याग किया जिससे उसकी प्रतिष्ठा सारे देश में बढ़ गयी।

यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि जहाँ एक ओर दक्षिणपंथी [illegible] सन् १९३५ के संविधान के साथ उलझे हुए थे, वहीं वामपंथी कांग्रेसी [illegible] कांग्रेस समाजवादी दल और साम्यवादी विचार वाले दूसरे प्रगतिशील दल [illegible] को धोखे की टट्टी समझते थे और ऐसा अनुभव कर रहे थे कि कानून की [illegible]

में जाने पर दाग लगना स्वाभाविक है। उनको चिन्ता थी कि वह दाग कांग्रेसियों के उज्ज्वल परिधान पर और गहरा नजर आयेगा। इन वामपंथियों ने मजदूरों, किसानों और विद्यार्थियों के बीच संगठन कार्य आरम्भ किया। अखिल भारतीय किसान सभा और 'स्टूडेन्ट्स फेडरेशन' जैसी संस्थाएँ कायम हुईं। वामपक्ष के नेताओं का उद्देश्य था राष्ट्र की जीवन्त संघर्ष-शक्ति को संविधान के दल-दल में फँसने से बचाना। किसानों के आगे नई समस्याएँ खड़ी हुईं। कांग्रसी शासन ने जमीन पर किसानों के न्यायोचित अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए निहित स्वार्थ वाले वर्ग से, डरते-सहमते हुए भी थोड़े कानून बनाये थे। इन कानूनों के परिणाम-स्वरूप जमींदारों के साथ किसानों का वर्ग-संघर्ष खड़ा हुआ। वामपंथियों ने जमींदारों के विरुद्ध किसानों की भरपूर सहायता की। स्वामी सहजानन्द सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, अशोक मेहता, राम मनोहर लोहिया, जे० ए० अहमद, अन्सार हरवानी जैसे वाम-पंथियों ने किसान, मजदूर और विद्यार्थी आन्दोलन को पर्याप्त बल दिया।

धार्मिक-परिस्थिति

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय बहुसंख्यक हिन्दू-जाति की जो दशा थी उसका स्मरण करते हुए यही कहा जा सकता है कि हजारों वर्षों की लम्बी यात्रा के बाद जैसे हिन्दू जाति थक कर चूर हो गयी थी और उसके पास आगे बढ़ने का भरसक का कोई उत्साह नहीं रह गया था। यह सत्य है कि भारत की, ज्ञान-विज्ञान परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से ही विशाल रही है। लेकिन ऐसा लगता है कि मुसलमानी शासन के युग में, गुलामी ने हिन्दू-जाति का सारा जीवन-रस सोख लिया था। १६वीं शताब्दी में अपने पुराने धर्म-ग्रन्थों की नयी व्याख्याएँ करके हिन्दू-जाति की जीवनी शक्ति को जगाने की एक चेष्टा तो की गयी थी, लेकिन वल्लभाचार्य की परम्परा में उनकी कोटि के किसी दूसरे आचार्य का आविर्भूत न होना यह एक ऐसा तथ्य है जो हमें यह सुझाता है कि मुसलमानी शासन की गुलामी के युग में हिन्दू-प्रतिभा को, हिन्दू-जीवनी शक्ति को जैसे लकवा मार गया था। स्वयं १६वीं शताब्दी में, आचार्यों की उन्नत परम्परा मौलिक शास्त्र-रचना में सक्रिय नहीं हुई, यह भी यही बताता है कि भारतवर्ष के हिन्दू गुलामी के संस्कारों के कारण उस स्थिति में नहीं रह गये थे कि वे मौलिक शास्त्र की रचना कर पाते। तभी तो उनके युग को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'टीका युग' का नाम दिया है।[1] पराधीनता की यह परम्परा अगले कई सौ वर्षों तक ज्यों की त्यों बनी रही।

भारतवर्ष विचित्रताओं का देश रहा है। इस देश में, यदि एक ओर ब्रह्म के सूक्ष्मत्व और एकत्व का प्रतिपादन किया गया तो दूसरी ओर उसी एक ब्रह्म को अनेकानेक रूप में कल्पित करने वाले सद्विप्र भी हुए। यह तथ्य इस देश के इतिहास के प्राचीनतम प्रमाण, वैदिक साहित्य से विदित है। समय-समय पर ब्रह्म की अद्वैत और द्वैत कल्पना के बीच संघर्ष होता रहा है और आचार्यों ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर व्याख्या देकर भाष्य करके असंगति में संगति ढूंढने की चेष्टा की है। वैदिक ऋषियों से चलकर भक्ति-आन्दोलन के नेताओं के क्रम में वल्लभाचार्य तक यह सिलसिला चलता रहा है। इस देश में स्वातंत्र्य चिन्तन की एक [illegible] परम्परा रही है जो इनसे

१. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)—ह० प्र० द्विवेदी, पृ० [illegible]

संघ-बद्ध रूप का विरोध करती रही है। चार्वाकों से लेकर संतों तक की यह अक्षुण्ण परम्परा, भारतवर्ष की एक बड़ी विशेषता है।

१९ वीं शताब्दी में होने वाली वैचारिक क्रान्ति को हमें इसी स्वातंत्र्य चिन्तन की परम्परा की एक जंजीर कहने का आग्रह हो रहा है।

१९ वीं शती में हिन्दू धर्म की जो स्थिति थी उसका संक्षेप में सिंहावलोकन श्रम का अपव्यय नहीं होगा। अस्तु, नीचे उस सम्बन्ध में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

तत्कालीन हिन्दू-समाज की धार्मिक स्थिति का निर्धारण करते हुए श्री आर० सी० मजुमदार ने बतलाया है कि उस युग की हिन्दू-जनता के लिए धर्म का अर्थ था कर्मकाण्ड की दासता।[1] हिन्दू-जाति कर्मकाण्ड की जटिल उलझनों में जकड़ गयी थी। और तो और, ब्रह्म के संधान के सम्बन्ध में भी उसकी कोई रुचि नहीं रह गयी थी। समाज में पुरोहितों की एक जाति हो गयी थी और धर्म का सारा जिम्मा उस पर डाल कर शेष हिन्दू-जनता मानो निश्चिन्त हो गयी थी। पुरोहितों की भी जजमनिका होती थी और अपनी जजमनिका में पूजा-पाठ कराने का एकान्त अधिकार उन्हें प्राप्त था। यह पुरोहित वैदिक संस्कृति के पुरोहित की परम्परा का नहीं था, वह अग्रिम नहीं था। अधिक से अधिक वह धर्म-कृत्य का एजेन्ट था। उसकी दशा प्रायः वही थी जो कबीर के युग के उदरम्-भर पांडे की थी। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण के दायित्व का निर्वाह कर सकने में सर्वथा अयोग्य था और इसी से ज्ञानोपलब्धि का काम करा सकने में वह सर्वथा अक्षम था। जब धर्म की ऊँची बातें दृष्टि से ओझल हो जाती हैं तब मंत्र, जादू-टोने, भूत-प्रेत, ओझा-गुनी विचार केन्द्र में अनायास ही बैठ जाते हैं। उत्तर-भारतवर्ष में चिरकाल तक तांत्रिक साधना प्रचलित रही है और उसने जनता को अपनी ओर आकृष्ट भी किया है। १९ वीं शती में ज्ञान-शून्य हिन्दू-जनता ऐसे ही कुसंस्कारों का बोझ ढो रही थी।[2]

बात यह है कि इतने दिनों की गुलामी ने हिन्दू-जाति को विचारों के क्षेत्र में भी पंगु बना दिया था। शिक्षा के नाम पर, जो उसे कुछ प्राप्त हो रहा था, वह शताब्दियों पुराना था। मानव जाति ने ज्ञान-विज्ञान की दिशा में इधर जो नई लकीरें खींची थीं उनसे हिन्दू जनता का कोई परिचय नहीं था। हिन्दुओं को, अंग्रेजों के आने

---

1. B. P. and I. R. Vol. X, P. 21.
2. Religion, as a source of moral purity and spiritual force, exercised little iufluence over a large section of the common people.
   B. P. and I. R. Vol X, P. 21.

के पहले मूर्खों का प्रचण्ड शासन मिला था।[1] ऐसी स्थिति में उसकी जो हीनावस्था थी वह परम स्वाभाविक है।

अंग्रेजों के आने और उनके शासन के स्थापित हो जाने के बाद भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। परम उन्नत अंग्रेज जाति के सान्निध्य में आकर हिन्दू-जाति ने यदि अपनी दयनीयता से ऊपर उठने का प्रयास किया तो यह प्रकृत ही था।

पश्चिम के समृद्ध ज्ञान-विज्ञान का लाभ उठाने के उद्देश्य से जिन लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की उनके मन में अपनी धर्म-परम्परा और धर्मसंस्था के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव उत्पन्न हुआ। किसी भी विचारवान व्यक्ति को, इस बात की शिकायत नहीं हो सकती कि नवीन ज्ञान का आलोक जीवन पर पड़ने देना चाहिये और अपनी दृष्टि का आयाम विस्तृत करना चाहिए। यदि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों ने पश्चिम के ज्ञान का अर्जन, प्रेरणा के लिए किया होता तो शायद मैदान उनका ही रहता। लेकिन अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग धीरे-धीरे पश्चिमी सभ्यता के भी क्रीत-दास हो गये और उन्हें अपनी हर चीज दूषित दीखने लगी।

अंग्रेजों ने हिन्दू-कालेज करके जिस कालेज की स्थापना पाश्चात्य विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए की थी, उसमें शिक्षा लाभ करने वाले व्यक्तियों का मनोभाव क्या हो गया था, इसका बड़ा अच्छा परिचय, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' से प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि हिन्दू कालेज में शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों ने खुल्लम-खुल्ला प्राचीनता के संस्कारों की खिल्ली उड़ायी। वे खुलकर अखाद्य खाते और अपने अखाद्य भोजन के अवशेष को अपने सनातनपंथी, पुरातनता के प्रेमी किसी पड़ोसी के घर फेंक देते।[2] ये लोग अंग्रेजों की नकल में शराब पीने लगे। अराष्ट्रीयता की ऐसी लहर का परिणाम किसी भी जाति के लिए शुभ नहीं माना जा सकता।

आधुनिक युग में भारतवर्ष में जो वैचारिक क्रान्ति हुई उसके अग्रदूत राजा

---

१. भारत दुर्दशा—भारतेन्दु, पृ० ५१।

2. This group of young alumni of the Hindu college rejected in an open and ostentalions parade of defiance, how they ate forbidden food and threw the remenents into the houses of their orthodox neighbours—A Nation In Making—S. N. Benerjee—P. 2.

राम मोहन राय माने जाते हैं। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यथा—राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक, क्रान्ति के मंत्र का प्रथमोच्चार किया।

राजा राम मोहन राय के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो वस्तुतः है राजनीति और समाज किन्तु उनके जैसा सुधारक धर्म के क्षेत्र में भी मौलिक संदेश दे ही जाता है। राजा राम मोहन राय ने अपने को किसी नये धर्मवाद का प्रवर्तक अथवा किसी दार्शनिक परम्परा का जनक कभी नहीं माना। एक संस्कृत हिन्दू के ढंग से उन्होंने जीवन यापन किया।[1] अस्तु, दर्शन की किसी मौलिक उद्‌भावना की आशा हम इनसे नहीं कर सकते। धर्म के क्षेत्र में इन्होंने क्या कुछ चाहा उसका पता उनकी रचना तुह्-फत-उल् मुवदिह्दीन से चलता है जिसमें उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न धर्मों में प्रचलित मूर्तिपूजा और अन्धविश्वास का खण्डन किया है और यह बताने की चेष्टा की है कि संसार में एक ऐसा मानव-धर्म चलाना चाहिए जो ब्रह्म की एकता को आधारभूत तथ्य के रूप में स्वीकार करता हो।[2] राम मोहन राय को इन क्रान्तिकारी विचारों के कारण अपने-परायों का कोप भाजन बनना पड़ा था।[3]

राजा साहब ने मूर्तिपूजा और अन्धविश्वास के विरुद्ध जो आन्दोलन चलाया उसके समर्थन में उन्होंने समय-समय पर लेख-मालाएँ प्रकाशित कीं, पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कुछ के नाम है—The precepts of Jesus, The guide to peace and happiness, Appeals to the Christian public.

राजा साहब के युग में कूपमंडूकता और धार्मिक कठमुल्लापन के कारण भारतीय समुद्र यात्रा कर देशान्तर नहीं जाते थे। इन्होंने इस जड़ता का बड़ी हिम्मत के साथ विरोध किया और स्वयं विदेशों की यात्रा की।[4] राजा साहब ने धर्म के क्षेत्र में बुद्धि-प्रयत्न पर जोर दिया। व्यक्ति को अपने पुरोहित पर निर्भर न रह कर स्वावलम्बी बनना चाहिए और शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन कर ज्ञानोपलब्धि करनी चाहिए—ऐसा इनका मत था। जिस बात को बुद्धि मान ले और तर्क निरुत्तर हो जाये उसे ही ग्रहण करना चाहिए—ऐसा इनका विचार था।[5] राजा राम मोहन राय की जिज्ञासा की तृप्ति न तो हिन्दू-धर्म से हो रही थी न इस्लाम, सूफीवाद अथवा ईसाई मत से। राजा साहब जैसे स्वातंत्र्य-चेता को स्वभावतः उपनिषदों से बड़ी प्रेरणा मिलती, इसी से उन्होंने अपने धर्म में एक ओर तो प्रचलित भिन्न-भिन्न धर्मों का

---

1. B. P. and I. R. Vol. X, P. 97.
2. Ibid. ,, P. 97.
3. Ram Mohan Ray ki Atma Katha B. P. T. O. R.
4. A century of social reforms in India—S. Natrajan, P. 29
5. Social Background of India Nationalism–A. R. Desai, P. 253.

सार-संग्रह किया और दूसरी ओर स्वाधीन-चिन्तन ग्रहण किया।[1] इन्हीं आदर्शों को लेकर चलने वाले लोगों के धार्मिक संगठन को 'ब्रह्म-समाज' कहा जाता है। १८३३ में राजा राम मोहन राय की मृत्यु हुई। उसके बाद ब्रह्म-समाज का नेतृत्व श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के हाथों में आया। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज की मान्यताओं में कुछ ऐसा परिवर्तन कर दिया कि वह राम मोहन राय की कल्पना से दूर जा पड़ा। अब ब्रह्म समाज, ईसाई धर्म के निकट आ गया।[2] केशवचन्द्र ने ईसामसीह के प्रति अपार श्रद्धा-भक्ति दिखायी। उन्होंने अपने आदेश सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह बताया कि ईश्वर विशिष्ट व्यक्तियों को ज्ञान के क्षेत्र में निष्णात करके धरती पर भेजता है और इसलिए यह आवश्यक है कि वैसे व्यक्तियों के वचनों को ब्रह्मवाक्य माना जाय।[3] स्मरण रहे राजा राममोहन राय ने बुद्धि-प्रयत्न पर बल दिया था और कहा था कि जिस बात को मस्तिष्क ग्रहण न कर ले। उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए उनसे भिन्न केशवचाद्र सेन ने अवतारवाद और गुरुडम की प्रथा ब्रह्म-समाज में चलायी। परिणाम स्वरूप समाज टूट गया और 'साधारण समाज' के नाम से एक नयी संस्था खड़ी हुई।[4]

ब्रह्म समाज जैसा ही एक समाज 'प्रार्थना समाज' के नाम से १८६७ में बम्बई में स्थापित हुआ। इसके प्रमुख नेताओं में डा० आत्माराम पांडुरंग, डा० भंडारकर और महादेव गोविन्द रानाडे थे।[5] इस समाज का उद्देश्य धार्मिक क्षेत्र की बुराइयों को दूर करना था। पाश्चात्य संस्कारों का जो दूषित प्रभाव अंग्रेजी पढ़े लोगों पर पड़ रहा था उसे दूर करना इस समाज का भी उद्देश्य था। प्रार्थना समाज ने भी किसी नये दर्शन का प्रवर्तन नहीं किया। रानाडे ने इस समाज के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि ब्रह्म के एकत्व का अनुभव और हिन्दू-धर्म में घुसी हुई विकृतियों का पर्दाफाश करना प्रार्थना समाज का मुख्य लक्ष्य था।[6] रानाडे ने प्रार्थना समाज की मान्यताओं का विवरण अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रेलिजस एन्ड सोशल रिफॉर्म' में प्रस्तुत किया है। एक तरह से, राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज के द्वारा जो चेतना फैलायी थी उसी को

---

1. 'He tried to interpret and assimilate into himself the lightest elements of Islam, Christianity, and Modern Nationalism or Humanism, and transformed them into a single creed which he found in the ancient Upanishadik philosophy of his own community.' Rise and growth of Indian Iiberalism—M. A. Buch, P. 10
2. PRemaissance of Hinduism—D. S. Sharma, P. 91.
3. S. B. I. N. A. R. Desai, P. 255.
4. Ibid.
5. B. P. I. R. Voll. X, P. 106.
6. Ibid. Vol. X, P. 106.

इस प्रार्थना समाज द्वारा भी गतिमान किया गया। मिस एस० डो० कालेट ने बताया है कि प्रार्थना समाज ने पुराने ब्राह्मणवाद से अपने को सर्वथा अलग नहीं किया। इसके सदस्य मूलतः हिन्दू थे, हिन्दू धर्म को मानते थे, लेकिन स्वातंत्र्य चेता होने के कारण धार्मिक विकृतियों पर प्रहार करने के आकांक्षी थे।

समाजों का यह इतिहास, आगे चल कर हमें सन् १८७५ में स्थापित होने वाले आर्य-समाज की ओर ले जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित[1] आर्य-समाज का इतिहास पूर्वोक्त दो समाजों से कई अर्थों में भिन्न पड़ता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से पाश्चात्य-संस्कारों का प्रभाव शिक्षित जन-समाज पर तो पड़ ही रहा था, शासकों का धर्म होने के कारण ईसाई धर्म का प्रचार, प्रसार भी बड़े जोरों से हो रहा था। राजा राम मोहन राय और आतमाराम पांडुरंग अथवा रानाडे से भिन्न परिस्थितियों में स्वामी दयानन्द सरस्वती को कार्य करना पड़ा। इन्होंने अनुभव किया कि ईसाई मत के प्रचार ने बहुसंख्यक जन-समाज के हृदय में अपने धर्म, हिन्दू धर्म, के प्रति अनास्था, उपेक्षा और तिरस्कार का भाव उत्पन्न किया है। हिन्दू समाज मुसलमानों की अमलदारी में इसी प्रकार इस्लाम के हाथों पीड़ित हुआ था। दयानन्द सरस्वती ने इस्लाम और ईसाईमत के प्रभाव से हिन्दू धर्म को बचा लेने की अनथक चेष्टा की। जिस जोश के साथ उन धर्मों के नेता और प्रचारक अपने धर्म की विशिष्टताओं का विवरण प्रस्तुत करते उसी जोश के साथ आर्य-समाज ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। उसने अपने धर्म को हिन्दू जाति के लिए आकर्षक भी बनाया, उसकी विकृतियों पर निर्मम प्रहार भी किया। अपने धर्म और समाज की विकृतियों के प्रति आर्य-समाज को विद्रोह था और सच्चा विद्रोह था, फिर भी आर्य समाज ने दूसरे धर्मों के चाकचिक्य के प्रति किसी प्रकार के आकर्षण का अनुभव नहीं किया। आर्य-समाज का यह कहना था कि विकृति केवल हिन्दू-धर्म में ही नहीं सभी प्रचलित धर्मों में है। यदि विकृतियों के कारण हिन्दू धर्म उपेक्षणीय है तो वैसे ही दूसरे धर्म भी इस्लाम और ईसाईमत भी, उपेक्षणीय है। सत्यार्थ प्रकाश के १३ वें और १४ वें समुल्लास में क्रमशः ईसाई और इस्लाम धर्म की बुराइयों का उल्लेख किया गया है।[2] आर्य समाज

---

१. बी० पी० आई० आर०—पार्ट २, पृष्ठ १०६

२. (अ) ईसाइयों से पूछना चाहिये कि ईश्वर के बेटे कौन हैं? और ईश्वर की स्त्री, सास, श्वसुर, साला सम्बन्धी कौन है? ईसाइयों का ईश्वर पूर्ण विद्वान भी नहीं था नहीं तो शान्ति और विज्ञान से अति शोकादि से पृथक हो सकता था।
—सत्यार्थ प्रकाश : त्रयोदश समुल्लास, पृष्ठ, ४७१॥

(आ) जो कुरान का खुदा संसार का पालन करनेहारा होता और सब पर क्षमा करता होता तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मारने का हुक्म न देता।—सत्यार्थ प्रकाशः चतुर्दश समुल्लास, पृष्ठ ५२१।

के कहने का उद्देश्य यह था कि ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू-धर्म को हीन कहने का इसीलिए अधिकार नहीं है कि स्वयं उनके धर्म में हीनता के वे ही लक्षण हैं जिन्हें हिन्दू धर्म में देख कर वे उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। अपने धर्म के प्रति फैले हुए हीन भाव को इस प्रकार दूर कर, आर्य समाज ने हिन्दुओं में आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव का भाव भरा।

अपने धर्म की संरक्षा के लिए प्रयत्न करने वाले आर्य समाज ने शुद्धि-आन्दोलन छेड़ कर यह दिखाया कि हिन्दू धर्म की ग्राहिका शक्ति का अन्त नहीं हो गया है। जब मुसलमान इस देश में आये तभी से हिन्दू धर्म की यह विलक्षणता रही है कि वह खोता ही रहा है—ग्रहण नहीं करता रहा। तभी तो मुट्ठी भर मुसलमान इस देश में इतनी बड़ी संख्या में हो गये। हिन्दू धर्म का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब हिन्दू समाज में कर्मकाण्ड की बहुलता हुई और नैष्ठिक हिन्दू की जीवनचर्या के के लिए प्रायः २००० वार्षिक कृत्यों का विधान किया गया तब से ही हिन्दू-धर्म कमजोर पड़ा। यह ठीक ही है कि जिस जाति का मस्तिष्क व्यर्थ के क्रिया-कलापों में उलझ जायेगा वह जाति जीवन-संघर्ष में टिक नहीं सकती। इसी से तो हिन्दू समाज अपनी ग्राहिका शक्ति भी खो बैठा। एक हिन्दू का मुसलमान हो जाना अत्यन्त सहज था किन्तु एक मुसलमान का हिन्दू होना अत्यन्त कठिन, प्रायः असम्भव। आर्य-समाज के शुद्धि-आन्दोलन ने इतिहास की दिशा बदल दी। वह प्रतिद्वन्द्वी अन्य धर्मों से लोहा ले सकता था। शुद्धि-आन्दोलन का यह जोर कभी-कभी आक्रामक के जोश जैसा भी हो जाया करता था।[1] फलतः आर्य समाज की शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग संघर्ष में ही लगा रहा।

भारतवर्ष को नवागन्तुक पश्चिम वालों के मुकाबले जिस हीन भाव का अनुभव हो रहा था उसे दूर करके अपने अतीत पर गर्व करने के अर्थ आर्यसमाज ने वेद की श्रेष्ठता और वरेण्यता का उद्घोष किया। आर्य समाज के अनुसार वेद एक ऐसा रत्न भण्डार है जिसमें मनुष्य जाति का शाश्वत ज्ञान संचित है। वेद वचन को आर्य समाज ने सर्वोपरि प्रामाणिक माना और बतलाया कि मनुष्य को उसके संशोधन का अधिकार नहीं दिया जा सकता। अस्तु, धर्म-नेता की स्थिति वेद की स्थिति के ऊपर नहीं हो सकती। वेद का प्रमाण है कि हिन्दू धर्म मूर्तिपूजा, तीर्थ व्रत को लेकर चलने वाला धर्म नहीं था। वे विकृतियाँ हैं जो पीछे हिन्दू धर्म पर थोप दी गयी हैं। आर्य समाज के इस कहने में सार है। सचमुच तीर्थ की भावना आर्य भावना नहीं थी।

1. B. M. I. R., Vol. X.
It was strongly resented by Muslims and was a source of almost chronic fenc between the two, P. 111.

आर्यों ने वैदिक सभ्यता के युग में जिस धर्म की व्यवस्था कर रखी थी वह ऋत्-प्रधान थी। एक निश्चित स्थान पर, एक निश्चित विधि से वेदिका का निर्माण कर आर्य यज्ञ-साधना करते थे। उन्हें तीर्थों का चक्कर लगाने की आवश्यकता नहीं थी। तीर्थ की यह भावना आर्येतर जातियों के संसर्ग से आर्यों को प्राप्त हुई। आर्य समाज ने इसी कारण तीर्थादि का विरोध किया। आर्य-समाज, हिन्दुओं के वर्णाश्रम धर्म की ब्राह्मण व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। इससे ब्राह्मणों की उच्चता उसे मान्य नहीं हुई।

समाजों के इतिहास में आर्य-समाज का इतिहास अपेक्षया इसलिए अधिक महत्व-पूर्ण है कि उसने हिन्दू जाति को दूसरी जातियों के मुकाबले में जिन्दा रहना सिखाया। देश के पौरुष की जिस नवीन चेतना का परिचायक बन कर आर्य समाज उपस्थित हुआ उससे विदेशी सत्ता को बड़ी बेचैनी हुई। श्री देसाई ने अपनी पुस्तक Social Back ground of Indian Nationalism में सर वेलेन्टाइन शिरोल के प्रमाण पर यह बताया है कि अंग्रेजों को आर्य समाज एक भयंकर खतरे के रूप में दीखा था।[1]

आलोचकों ने आर्यसमाज को, संघर्षशील धार्मिक साम्प्रदायिक संस्था की संज्ञा दी है।[2] उन्होंने यह बताया है कि जिस समय देश में भारतीय राष्ट्रीयता की बुनियाद पक्की की जा रही थी उस समय हिन्दुओं के वेदों की दुहाई देना और मुसल-मान और ईसाइयों से छीन लड़ाई मोल लेना भारतवर्ष की एकता के अनुभव में बाधक था। आर्य-समाज की ओर से इस आरोप का प्रतिवाद करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश में राष्ट्रीयता की बुनियाद, बहुसंख्यक जनता को हीनता का अनु-भव कराके नहीं पक्की की जाती।

आर्य समाज ने धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिया। उसके अनुसार भक्ति का अधिकार केवल सवर्णों का नहीं है। वेद के पढ़ने का अधिकार सबको है। यहाँ स्मरण रहे हिन्दू धर्म के पण्डितों और पुरोहितों ने अवर्ण-जातियों और स्त्रियों को वेद-पाठ का अधिकार नहीं दिया था। वेदों से ही प्रमाण इकट्ठा कर आर्य समाज ने सनातनी पण्डितों का मुँह बन्द किया।[3] आर्य समाज के इस आयोजन से देश के हिन्दुओं के बीच प्रचलित ऊँच-नीच भाव को बड़ा धक्का लगा। अब सारी हिन्दू जाति, आर्य समाज के कारण, उस समानता का अनुभव कर सकती

---

1. He looked upon the Aryasamaj as a serious menance to England and her Sovereignty.—S. R. I N. Desai, P. 257.
2. A Social B. I. N.—A. R. Desai—P, 258.
३. इमम् मंत्रं पत्नी पठेद्—श्रौतसूत्रादि—आ० का इति० पृ०, २२४ पर उल्लिखित

थी जिसका संकेत वैदिक-सभ्यता के प्रमाण से प्राप्त है।[1] यही कारण है कि गांधी जी ने महर्षि दयानन्द की प्रशस्ति में यह कहा कि महर्षि दयानन्द ने धर्म में जागृति पैदा की। आर्य संस्कृति का, वैदिक वाङ्मय का, संस्कृत और हिन्दी का प्रेम बढ़ाया और अस्पृश्यता रूपी कलंक को धोने का प्रयत्न किया। ऐसे सब कार्यों के लिए महर्षि का स्मरण चिर स्थायी रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं।[2] आर्य समाज की एक और भी महत्वपूर्ण देन है। कर्मकाण्ड-बहुल पौरोहित्यपरक धर्म-व्यवस्था में साधक पुरोहितों के आगे परावलम्बी हो जाता है। आर्य समाज ने व्यक्ति की इस परवशता को दूर कर उसे धर्म के क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाया, ठीक वैसे ही जैसे वेदों के युग में 'होता' स्वावलम्बी था, उसे धर्म-कृत्य के लिए किसी पुरोहित की अपेक्षा नहीं थी। सच तो यह है कि अग्रिमों का पुरोहित वर्ग-वाद की कल्पना है।

शासकों के वर्ग में कुछ ऐसे लोग भी देखे गये जिनको प्राच्य विद्या, प्राच्य संस्कृति और प्राच्य वाङ्मय के प्रति एक प्रकार का उत्कट प्रेम हुआ। ऐसे लोगों ने मुक्त कण्ठ से भारत की विशिष्टताओं का, उसके महत्व का जयघोष किया। शासकों के इस वर्ग को यह देख कर बड़ी हैरानी हुई कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा समाज हक्सले, मिल और स्पेन्सर की विरुदावली तो गाता है लेकिन वह अपने अतीत को, जिसमें इतनी सारी प्रेरणाएँ सोई हुई हैं, भूल बैठा है। उसने अपने रस्मो-रिवाज को छोड़ कर अंग्रेजी रंग-ढंग ग्रहण कर लिया था और विदेशियों की नकल को ही जीवन की चरितार्थता का प्रमाण मान बैठा था। वैसे ही लोगों के व्यामोह को तोड़ने के लिए थियोसाफिकल सोसाइटी का जन्म हुआ। इस संस्था के नेताओं में मैडम ब्लावस्की, श्रीमती एनी बेसेन्ट और कर्नल आलकोट के नाम मुख्य रूप से लिये जाते हैं।[3] इस सोसाइटी की स्थापना भारत में १८७९ में बम्बई में हुई।

श्रीमती एनी बेसेन्ट के संरक्षण में इस संस्था को फूलने-फलने का पर्याप्त अवसर मिला। श्रीमती बेसेन्ट हिन्दू-धर्म की प्रशंसिका थीं। उनका ख्याल था कि हिन्दू-धर्म विश्व के सभी धर्मों से अधिक आध्यात्मिक है।[4]

---

1. It tried to destroy them inferiority complex the inevitable product of them status, as a subject Nation. S. B. I. N. Desai–P, 257
2. History of Arya Samaj—Indra Bachaspati—Vol. II, PP. 127–128.
3. B. P. I: R. Vol. X., P. 131.
4. It considered ancient Hinduism as the most profoundly. Spiritual religion in the world.
   S. B. I. N. – A. R. Desai, P. 259.

एक विदेशी विधर्मी महिला के मुँह से हिन्दू-धर्म के प्रति प्रशस्ति का यह उद्‌गार सुनकर हिन्दू जनता का आत्मविश्वास बढ़ा। आर्य समाज को स्वपक्ष-प्रतिपादन में भी श्रीमती बेसेन्ट के उद्‌गारों से बड़ी सहायता मिली। यह एक बड़ी बात थी कि जब ईसाई समाज विदेशों में भारत के हिन्दू-धर्म को जीर्ण-शीर्ण धर्म सिद्ध करने के प्रयत्न में लगा हुआ था तब भारत में विदेश से आकर इस सोसाइटी के नेताओं ने हिन्दू धर्म का पक्ष ग्रहण किया और बताया कि उसमें ऐसी कोई विकृति नहीं है जिसके कारण हिन्दुओं को लज्जित होना पड़े। इस प्रकार इस संस्था ने हीन भाव को दूर करने में बड़ी सहायता पहुँचाई।[1]

आर्य-समाज ने जिस अतिरिक्त उत्साह के साथ वेद को महत्व दिया उसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं के राशि-राशि धर्म-ग्रन्थ अवज्ञा और अवहेलना के विषय बने। स्वामी जी ने और तो और उपनिषदों की विचार स्वातंत्र्य-परम्परा को भी यथेष्ट मान नहीं दिया। खण्डन-मण्डन की जिस प्रणाली को लेकर वह चले और जैसा अक्खड़ व्यक्तित्व उन्होंने पाया था उसका स्वाभाविक परिणाम हुआ कि उनके उपदेश हिन्दू जन-मानस पर छा गये। इधर पढ़ा-लिखा हिन्दू समाज अपने शास्त्रों की इस अवहेलना को सह नहीं पा रहा था। उसे लगता था कि उपनिषदों, गीता और वेद में ही अन्य पूज्य धर्म-ग्रन्थों में कामकर बहुत सारी चीजें पड़ी हुई हैं। लेकिन स्वामी जी का प्रभाव भी अपनी जगह पर विद्यमान था। आर्य समाज से प्रभावित हिन्दू शिक्षित वर्ग की स्थिति शायद कुछ वैसी ही थी जैसी १५ वीं शती की उस हिन्दू जनता की थी, जिस पर कबीर के प्रचार का प्रभूत प्रभाव था, लेकिन उसका हिन्दू संस्कार यह मानने को भरसक तैयार नहीं हो रहा था कि देवी-देवता, शास्त्र-पुराण, सारे के सारे झूठे हैं। हिन्दुओं की इस किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में थियोसाफिकल सोसाइटी ने उपस्थित होकर धर्म-ग्रन्थों के प्रति उनकी निष्ठा को बल दिया। एक ओर तो इस समाज ने हिन्दुओं के, ईसाइयों के मुकाबले में हीनता के भाव का अन्त करने में सहायता पहुँचायी और दूसरी ओर अपनी परम्परा के प्रति आस्था फिर से जगायी।

थियोसाफिकल सोसाइटी का मूल उद्देश्य विश्व-बन्धुत्व का भाव जगाना था। इसके साथ ही इस समाज ने मनुष्य में अन्तर्निहित ईश्वरीय शक्ति का अनुसंधान करना भी आरम्भ किया।[2] इस समाज की एक बड़ी विशेषता यह थी कि उसने किसी स्वतंत्र धर्म अथवा जाति को जन्म नहीं दिया। थियोसाफिस्ट होने के लिए अपने धर्म का परित्याग करने को भी कोई आवश्यकता नहीं थी, इसलिए इसमें हिन्दू, मुसलमान,

---

1. B. O. I. R. Vol. X, P. 133.
२. बी० पी० आई० आर०—वालुम X, पृ० १३२।

ईसाई सभी जगह पा सकते थे। आर्य समाज से, उसके आलोचकों को एतद्विषयक जो शिकायत थी वह इस समाज पर धारित नहीं हो सकी। इस संस्था का इसलिए भी स्मरण किया जायेगा कि इसने हिन्दुओं के पुनर्जन्म-सिद्धान्त का विदेशियों के मुँह से समर्थन कराया।

अब तक जिन धर्म संस्थाओं की चर्चा हुई है उनका उद्देश्य था, भारतीयों के बीच अपने धर्म के प्रति जो अनास्था का भाव भरता जा रहा था और जिसे ईसाई मिशनरियों का प्रचार और भी प्रोत्साहित कर रहा था, उसका परिहार करना और भारत के गौरव का स्मरण कराना। ऊपर निर्दिष्ट समाजों ने, किन्तु अब तक यह नहीं बताया था कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर-भारतवर्ष में दक्षिणी भक्ति का जब प्रचार हुआ था तब भक्त आचार्यों की एक महती परम्परा हमें प्राप्य हुई थी। लेकिन, वल्लभाचार्य और चैतन्य देव की यह परम्परा उनके बाद ठप्प पड़ गयी थी। रामकृष्ण परमहंस के रूप में भारत की यही परम्परा आविर्भूत हुई। रामकृष्ण परमहंस की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने पारमार्थिक सत्य स्वरूप भगवान को स्वयं संवेद्य बताया।[1] परमहंस के अनुसार तर्क से ईश्वरीय सत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता। ब्रह्म भाव को प्राप्त होने के लिए शास्त्रों का पारायण अनिवार्य नहीं है। वरन् अपेक्षित है चरित्र-निर्माण, जो और तो और ज्ञान से भी बड़ा है। चरित्र-निर्माण के लिए वैराग्य परम आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ है आसक्ति की विरति।

रामकृष्ण ने मानवता में ईश्वरत्व के दर्शन किये और इसी से उन्होंने मानव-सेवा को मुक्ति का साधन माना।

रामकृष्ण परमहंस ने संसार के सभी धर्मों को ईश्वरत्व की उपलब्धि कराने में समर्थ माना। अस्तु, उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का पुनीत पाठ पढ़ाया।[2] वे कहा करते थे यत् मत तत् पंथ। संसार के भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न-भिन्न ढंग से एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयासी हैं। स्वयं रामकृष्ण ने अपने व्यक्तित्व में इस सत्य को आचरित करके उतार लिया था।[3]

---

1. B. P. I. R., Vol. X., P. 117.
2. Ibid " P. 122.
3. He made his own life a laboratory for the synthesis of different systems of religious—a wonderful synthesis of higher form of spiritual descipline with rituals and ceremonies; of Sakar with Nirakar of Vedant with divotion of rationalism with emotion and intution; of asceticism with social and domestic life.

Ibid—P. 122

परमहंस की प्रशस्ति में दिनकर जी ने कहा है—भारतीय जनता की ५००० वर्ष पुरानी धर्म-साधना रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बन कर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और संतों की कथाएँ सुनी जाती हैं वे झूठी नहीं हैं।[१]

रामकृष्ण परमहंस के निधन के बाद उनके समर्थ शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन नामक संस्था की स्थापना, श्री रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करने के निमित्त की।[२]

सर्व धर्म-समन्वय की जिस नीति पर रामकृष्ण चले, उसी को, एक दूसरे ढंग से, विवेकानन्द ने चरितार्थ किया। उन्होंने अनुभव किया कि मानव समाज के कल्याण के लिए पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के अध्यात्मवाद के बीच एक प्रकार का समन्वय सम्बन्ध स्थिर होना चाहिए। ये दोनों अलग-अलग इकाइयों के रूप में असंतुलित अवस्था में विकसित हो रहे हैं। पश्चिम भौतिकवादी होकर शोषक हो गया है और पूर्व पंडित और पुरोहितों के चक्कर में पड़कर सभ्यता की दृष्टि से पिछड़ गया है। भारत के हिन्दुओं का धर्म उनके रसोईघरों तक सीमित था।[3] विवेकानन्द ने रामकृष्ण के उपदेशों का सम्पूर्ण भारतवर्ष में घूम-घूम कर प्रचार तो किया ही यूरोप और अमेरिका में भी जाकर उन्होंने हिन्दू धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी। इससे भारतवर्ष, हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म का महत्व पश्चिमियों की दृष्टि में दृढ़ हो सका। विवेकानन्द ने अपने गुरु के सिद्धान्तों का निरूपण करने के क्रम में जो भाषण दिये उनका पुस्तक रूप My Master Gyan Yoga Ray Yoga Karun Yoga Bhaktiyoga......आदि के नाम से उपलब्ध है।[४]

रामकृष्ण मिशन में साधना करने वाले साधकों ने सेवा व्रत ग्रहण किया। वे इस व्रत का प्रचार घूम-घूम कर किया करते और इसी सेवा यज्ञ को वे मुक्ति-विधायक मानते।

संन्यासियों के इस समुदाय ने देश को यह सुझाया कि भारतवर्ष को सेवा-व्रती,

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—पृ० ४८४।
2. S. B. I. N. — A. R. Desai—P: 258.
3. "Their religion was in the kitchen, their God was the cooking pot and their religion was—Don't touch me I am holy"—
—Vivekanand and his works — P. 167.
4. B. P, I. R., Vol. X. 129.

शक्ति-सम्पन्न पुरुषार्थियों की अपेक्षा है न कि जीवन से विमुख होकर जंगलों में तपस्या करने वाले साधकों की। भगवान की लीलाओं का विस्तार, उसकी शक्ति का प्रकाश जिस लोकसमाज में होता है उससे भाग कर मुक्ति का संधान नहीं किया जा सकता।

विवेच्य काल में जैसे हिन्दुओं के बीच धार्मिक आन्दोलन खड़े हुए वैसे ही, मुसलमानों के समाज में भी थोड़ा बहुत सुधार कार्य का प्रयास करने के लिए आन्दोलन खड़े हुए। ऐसे आन्दोलनों में अहमदिया आन्दोलन मुख्य है, जिसके प्रवर्त्तक मिर्जा गुलाम अहमद माने गये हैं।[1] संन् १८८६ में इस आन्दोलन का प्रवर्तन बहुत कुछ ब्रह्म समाज के ढाँचे पर हुआ।[2] थियासाफिकल सोसाइटी तथा पाश्चात्य संस्कारों से प्रभावित होने के कारण यह आन्दोलन धार्मिक सहिष्णुता का व्रती था।

यह पहले कहा ही जा चुका है कि थियोसाफिकल सोसाइटी में मुसलमान भी सम्मिलित हुए थे। प्रायः उनकी ही प्रेरणा से यह आन्दोलन खड़ा हुआ था।



१. एस० बी० आई० एन०—ए० आर० देसाई, पृ० २६५।
२. वही

सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

भारत के इतिहास के अध्येताओं को यह देख कर हैरानी होती है कि जो देश, संसार में सभ्यता के क्षेत्र में अग्रणी रहा वही, जड़ता की इस दयनीय स्थिति को प्राप्त हो गया कि हिन्दू-राजाओं के, मुसलमानी आक्रमणों के जोर के आगे घुटने टेकने के बाद अपनी उस जीवनी शक्ति को खो बैठा जिसके बल पर कोई जाति जीवन-संघर्ष में टिकी रहती है। इतिहास का यह एक घोर सत्य है कि १२ वीं शती के बाद अगले छः सौ वर्षों तक भारतवर्ष के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में किसी प्रकार की नवीन चेतना नहीं आयी।[1] ऐसा लगता है कि इस देश की बहुसंख्यक हिन्दू-जनता का संस्कार पोषण तत्व के अभाव में ठिठुर गया था।

अपने सामने एक विरोधी, विधर्मी संस्कृति को उपस्थित देखकर भी, लगता है, हिन्दू-जन-समाज ने उसे नहीं देखा। इस्लाम, आरम्भ में भारतवर्ष के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए समस्या बन कर उपस्थित नहीं हुआ था। यह तथ्य इस बात से प्रमाणित है कि पृथ्वीराज चौहान तथा जयचन्द गढ़वाल को पराजित करने वाले मुसलमान शासक शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के सिक्कों पर नान्दी एवं लक्ष्मी की वे ही मूर्तियाँ मिलती हैं जो चौहानों और गढ़वालों के सिक्कों पर अंकित रहती थीं और जैसे देवनागरी में उन सिक्कों पर अक्षर खुदे होते थे वैसे ही गोरी के सिक्के पर भी खोदे गये।

१५ वीं शताब्दी में इस्लाम एक नये रूप में, समस्या रूप में खड़ा हुआ। कुस्तुन्तुनिया के १४५३ के अभियान के बाद इस्लाम की तलवार निकल पड़ी, भारतवर्ष को अब एक नये ही इस्लाम से पाला पड़ा। विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति का स्वर लेकर आने वाला इस्लाम भारत को प्रभावित करने में तनिक भी सक्षम नहीं हो सका। इसका कारण एक तो यह था कि इस्लाम का भारत में प्रथम प्रवेश धन-संग्रह अथवा साम्राज्य-विस्तार के लिए हुआ। बाद में उसकी मान्यताओं में ऐसा अन्तर पड़ा कि किसी भी इस्लामेतर जाति के लिए इस्लाम के साथ सम्बन्ध समन्वय करना सम्भव नहीं रह गया। इधर हिन्दू अपनी वह ग्राहिका शक्ति खो चुके थे जिसके बल पर

---

१. बी० पी० आइ० आर०—वालुम X, पृ० २१।

उन्होंने मुसलमानों से पूर्व भारत में आने वाले सभी विदेशी विधर्मियों को अपने में पचा लिया था। श्री आर० सी० मजुमदार ने उन ऊपरी कारणों को गिनाया है जिनकी बदौलत इस्लाम भारतीय हिन्दू लोकसमाज को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। वे कहते हैं : भारत के हिन्दुओं का अनेकानेक देवी-देवताओं की पूजा में विश्वास, मूर्तिपूजा, जटिल जाति-व्यवस्था जिसके परिणाम स्वरूप स्पर्श, भोजन, तथा विवाह सम्बन्धी कठोर पाबन्दियाँ बाल-विवाह, विधवा-विवाह-वर्जन, निरामिष भोजन के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आग्रह तथा गोमांस-भक्षण-विषयक कठोर निषेध—वे कारण हैं जिन्होंने हिन्दू-समाज को इस्लाम के प्रभाव से बचा कर रखा।[1]

१५ वीं शताब्दी में भारतवर्ष में विचार स्वातंत्र्य का एक प्रबल झंझावात उठा, जिसने हिन्दुओं के सोचने-विचारने की प्रकिया में एक नया मोड़ दिया जिसके परिणाम स्वरूप परम्परा की रूढ़ियों, अन्धविश्वास के प्रेत और धार्मिक कठमुल्लापन को एकबारगी ही झकझोर दिया। कहना नहीं होगा यह चेतना सन्तों की चेतना थी। लेकिन इतिहास की गवाही है कि अन्त में पुराने संस्कार ही हावी रहे। भक्तों के उदय ने कबीर के प्रचार को जैसे प्रभाव-शून्य कर दिया। सबसे विलक्षण बात तो यह हुई कि कबीर के उन्हीं विचारों की, जिनके सहारे धर्म के संघबद्ध रूप और हिन्दू समाज की विकृतियों पर प्रहार किया गया था, नई टीका दी गयी और कबीर की मान्यताओं को आत्मसात कर लिया गया। इस प्रकार कबीर जैसे क्रान्तिदूत का उदय भी हिन्दू समाज की विकृतियों को हटा नहीं पाया। अंग्रेजों के आने तक जन-जीवन की वे ही जीर्ण शीर्ण कुरीतियाँ हिन्दू जाति की प्रगति में बाधक बनी रहीं, जिनकी परम्परा १३ वीं शती से आरम्भ हो चुकी थी।

सदियों की गुलामी और विदेशी शासन तथा प्रगतिशील मान्यताओं के सम्पर्क के अभाव ने हिन्दू-समाज को पतन के गर्त में पहुँचा दिया था। जब भारतवर्ष का अंग्रेजों, फ्रांसीसियों जैसे पाश्चात्य सभ्यता के धनियों के साथ परिचय बढ़ा तब यह स्वाभाविक ही था कि उनके उन्नत विचारों का आलोक भारत पर पड़े। आगे हम यह देखेंगे कि १९ वीं शताब्दी में भारतवर्ष ने कैसे अपनी सामाजिक विकृतियों को दूर करने की चेष्टा की है।

१९ वीं शताब्दी में होने वाली वैचारिक क्रान्ति के नेताओं को जब समाज की अशिक्षा, समस्त हीनताओं का कारण दीखी। उन्हें यह देखकर बड़ी पीड़ा होती थी कि जिस देश ने सभ्यता के आदि चरण में ज्ञान-विज्ञान का प्रथम मंत्रोच्चार किया था वही कूप-मंडूक हो गया। भारतवर्ष के सम्बन्ध में बाहर की दुनिया में यह प्रवाद

---

१. बी० पी० आई० आर०—वालुम X, पृ० २१।

प्रचलित रहा है कि यह देश आध्यात्मिक साधना का देश रहा है। किन्तु ऐसा कहने वालों ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि इसी देश ने गणित, ज्योतिष, रसायन शास्त्र और चिकित्सा-विज्ञान जैसे जीवनोपयोगी विज्ञान की परम्परा भी चलायी थी। १९ वीं शती के हिन्दुओं को देख कर इस बात का विश्वास करना कठिन पड़ता था कि यह वही देश है जिसने ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की नींव डाली थी। आखिर, इसका कोई कारण होना चाहिए। यदि हम इस विषय में थोड़ी चिन्ता करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि भारत में ज्ञान-विज्ञान की भाषा संस्कृत, इतिहास के किसी युग में आकर ऐसी हो गयी थी कि उसका समझना इतना सरस नहीं रह गया था। उत्तराधिकारिणी भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान का यह संधान नहीं देखा जाता। लगता है इस दिशा में भी देश की प्रतिभा रिक्त पड़ गयी थी।

अंग्रेजों के भारत में आने के बाद देश को, उस विज्ञान से परिचय पाने का अवसर मिला जो आधुनिक विज्ञान के नाम से अभिहित है।

हिन्दू समाज की अशिक्षाजन्य जड़ता का सब से भयंकर परिणाम हिन्दू-नारियों को भुगतना पड़ रहा था।[1] हमारे देश में नारियों के साथ अत्याचार की वही परम्परा चलायी गयी जो अन्त्यजों के लिए स्वीकृत हुई थी। उन्हें शास्त्र और शस्त्र के अभ्यास से वंचित रखा गया। स्थिति कुछ ऐसी विषम हो गयी कि नारी को किसी प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा देना पुरुष समाज को भारी पड़ा। विवेच्य काल में नारियों की जो अधोगति थी उसका नीचे विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

हिन्दू समाज में नारी की अपने पति से भिन्न कोई स्थिति है—इसे स्वीकार नहीं किया जा रहा था। परिणामतः पति की मृत्यु के बाद समाज पत्नी के जिन्दा रहने का कोई अर्थ नहीं समझ रहा था। इससे एक प्रथा चल पड़ी जिसके अनुसार पति के स्वर्गीय होने पर पत्नी को उसके शव के साथ जला दिया जाता था। इसी प्रथा को 'सती प्रथा' कहा गया है। हमारे प्राचीन इतिहास में कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे विदित होता है कि अपने पति के मरणोपरान्त, स्वेच्छया पत्नी अपनी जीवन-लीला समाप्त करती थी। किन्तु विवेच्य काल तक आकर नारी अपने सभी अधिकारों से वंचित हो गयी और इससे उसकी इच्छा-अनिच्छा के विषय में जिज्ञासा का प्रश्न ही नहीं रह गया। पुरुषों को, शायद इस बात का भरोसा नहीं रहा कि विधवाएँ पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं। भारत में संयुक्त-परिवार की संस्था के आगे विधवाएँ कई प्रकार की समस्याएँ लेकर खड़ी थीं। एक प्रश्न तो उनके गुजारे का था। पति की

---

1. Nothing go forcibly illustrates the degrading character of the age as its callousness to women.—B. P. I. R., Vol X, P. 22.

मृत्यु के बाद विधवाओं के सामने वह आधार नहीं रह जाता था जिसके बल पर उनकी रोटी का प्रबन्ध हो सके। इस प्रकार वे संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों के ऊपर अपने गुजारे के लिए निर्भर होकर बोझ बन जाती थीं। ऐसी नारी परिवार की आय बढ़ाने में किसी प्रकार सहायक नहीं थी। अस्तु, परिवार उससे यथासम्भव शीघ्र मुक्त होना चाहता था। पति-वियोग में जो नारी स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करे उसके लिए इस सामाजिक सुविधा के विरुद्ध कुछ कहने के लिए रह नहीं जाता। लेकिन दुःखद बात तो यह थी कि लोग विधवाओं को जबर्दस्ती अत्यन्त क्रूरता के साथ उसके पति की लाश के साथ जला डालते।[1]

राजा राममोहन राय नई वैचारिक क्रान्ति के नेताओं के अग्रणी थे और इसलिए यह स्वाभाविक था कि इस कुत्सित प्रथा के अन्त के लिए जो भी प्रयास होता, उसकी परम्परा उनसे ही चलती। उन्होंने स्वयं अपने परिवार में इस अमानुषिक कृत्य को सम्पन्न होते हुए सन् १८११ में देखा था।[1]

भारत में ब्रिटिश-राज्य की स्थापना के बाद यदि शिक्षित समाज का ध्यान इस कुप्रथा की ओर गया तो वही शासन की प्रतिक्रिया भी इस प्रथा के सम्बन्ध में दुःख और रोष की हुई। किन्तु कम्पनी-सरकार यह निश्चय कर चुकी थी कि वह भारत की प्रजा के धर्माचरण के विषय में पूर्ण तटस्थता की नीति अपनायेगी।[2] भारत सरकार ने फरवरी १८२० को अपना एक प्रतिवेदन इङ्गलैण्ड कम्पनी के संचालकों के पास, इस विषय में, प्रेषित किया था, जिसका उत्तर प्रायः साढ़े तीन वर्षों के बाद १७ जून १८२३ को इसे प्राप्त हुआ। कम्पनी शासकों की एतद्विषयक नीति का परिचय संचालकों द्वारा स्वीकृत उस प्रस्ताव से मिल जाता है जिसमें उन्होंने यह कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा भारतवर्ष में वह चेतना क्रमशः उत्पन्न होगी जो इस कुप्रथा को अमानुषिक समझेगी और तब एक ऐसा जनमत तैयार हो जाएगा

---

1. The custom of binding down the widow with the corpses of their deceased husbands as also of using bamboos to press down those who wanted to escape from the totrure, was condemned as being nothing short of delibrate women murder.
—Ram Mohan Roy and Pogressive Movements in India—
(Introduction I, XXXI.)

1. A Century of Social Reforms in India—S. Natrajan-P. 30—31
2. Ram. P.M. India—Introduction XXIX

जिसके सहारे सरकार नियम बना कर इस कुप्रथा का अन्त करने में सहायक हो सकेगी।[१]

राजा राममोहन राय को अवश्य ही इस सरकारी रुख से निराशा हुई होगी। लेकिन, उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और घूम-घूम कर इस प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार किया। इस क्रम में उन्हें पुरातन पंथियों से संघर्ष करना पड़ा और शास्त्रों का प्रमाण लेकर अपने पक्ष का प्रतिपादन करना पड़ा। अन्त में उनके अनथक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप ४ दिसम्बर १८२६ की रेग्युलेशन संख्या १७ के अनुसार सती-प्रथा को अवैध घोषित किया गया।[२] इस प्रकार नारी समाज पर पुरुषों के द्वारा यह जो अमानुषिक अत्याचार हो रहा था उस पर कानूनी बन्धन पड़ा।

कुलीन हिन्दू स्त्रियों की दूसरी समस्या यह थी कि वे चाह कर भी पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। यदि पुनर्विवाह की सुविधा हिन्दू-विधवा को प्राप्त रहती तो वे अपने को, अपने परिवार के अनाचार और अत्याचार से, आवश्यकतानुसार बचा सकती थीं। किन्तु हिन्दू समाज उस तरह की कोई सुविधा नारियों को देने का पक्षपाती नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार और नये विचारों की प्रतिष्ठा ने इस प्रश्न पर भी गम्भीरता के साथ सोचने की प्रेरणा दी। हिन्दू समाज की विचित्रता यह थी कि पुरुष चाहता तो सैकड़ों विवाह कर सकता था। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों के घरों में बहु-विवाह करने का रोग जैसा था। एक-एक की पचास-पचास पत्नियाँ होती थीं। उन पचासों में कुछ तो ऐसी भी थीं जिनके जीवन में सौभाग्य-सूर्य कभी उदित ही नहीं हो पाता था।[3]

जो समाज पुरुषों को इस रूप में अबाध स्वच्छन्दता दे वही किसी नारी को संरक्षण रूप में भी पुनर्विवाह की स्वीकृति न दे यह एक क्रूर विधान ही कहा जायेगा। अस्तु, ब्रह्म समाज ने इस सम्बन्ध में आन्दोलन खड़ा किया। १८३७ में कलकत्ता और बम्बई में इस सम्बन्ध में उद्योग की आरम्भ हुए। इस विषय में आन्दोलन करने वालों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और शशिजय मुखर्जी जैसे लोगों के नाम स्मरण करने योग्य हैं। २६ जुलाई १८५६ को ऐक्ट सख्या १५—जिसको हिन्दू वीडो रीमैरेज ऐक्ट कहा गया है—स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार विधवा-विवाह को वैध घोषित किया गया।[४] लेकिन ऐसी समस्याओं का समाधान कानून पास करने से नहीं हो जाता है। इसी से

1. Ibid.
2. B. P. I. R.—Vol X, P. 274.
३. बी० पी० आइ० आर०—वालुम X, पृ० २२।
४. वही " पृ० २७८

इस कानून से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। यह इसलिए कि उस कानून के पीछे जनमत का समर्थन नहीं था। अपेक्षित जममत तैयार करने के लिए वाद में जाकर कुछ संस्थाएँ खड़ी की गयीं। 'वीडो रीमैरेज एसोसिएशन' नामक संस्था वम्बई में १८६६ में स्थापित हुई। १८९६ में पूना में 'वीडो होम' नामक सस्था का जन्म महर्षि डी० के० कर्वे केहाथों हुआ।[1]

हिन्दू स्त्रियाँ का पारिवारिक सम्पत्ति पर कोई कानूनी हक नहीं माना जाता था। इसका परिणाम यह देखा गया कि नारी उदर पूर्ति के लिए पुरुष पर अवलम्बित हो गयी। नारी की पराधीनता के कुछ विशिष्ट कारणों में यह भी एक कारण है। हिन्दू-समाज ने पति और पत्नी के परस्पर सहयोग और अधिकार रक्षा को विवाह का नाम दिया था। हिन्दू-समाज यह मान वैठा था कि पुरुष और नारी पति-पत्नी वन कर परस्पर विश्वासपूर्वक अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करेंगे। उसने यह सोचा ही नहीं था कि कभी समाज में ऐसी भी स्थिति आयेगी जब पति अपनी पत्नी के रक्षण के दायित्व से विमुख हो जायेगा और पत्नी को किसी न्यायालय जाकर अपनी करुण कहानी कहनी पड़ेगी और संरक्षण खोजना पड़ेगा।

विवाह की संस्था को एक धार्मिक रूपाकार देकर. हमारे समाज-विधायक, जैसे इस विषय में निश्चिन्त थे। लेकिन दुर्भाग्यवश स्थिति उनकी आशा के प्रतिकूल विपम से विषमतर होती गयी।

यहाँ से नारी जीवन की अनेकोनक समस्याएँ खड़ी होती हैं और अपना समाधान माँगती हैं।

विवेच्य काल की वैचारिक क्रान्ति ने यह सुझाया कि यदि देश को आगे वढ़ना है तो पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों में भी शिक्षा का प्रचार होना चाहिए। देश का पुरातन-पंथी-वर्ग स्त्री शिक्षा को शास्त्र-विरोधी मानता था और समाज में ऐसा कुसंस्कार फैला हुआ था कि शिक्षिता नारी विधवा हो जाती है।[2] इस देश में नारियों के वीच शिक्षा प्रचार का उद्योग करने के लिए सवसे पहले ईसाई मिशनरी आयी थी। १८१३ में एक कानून पास हुआ था जिसके अनुसार ईसाइयों को भारत में प्रचार कार्य करने की आज्ञा मिल गयी थी। अव उनके लिए प्रचार करना सहज हो गया था। लेकिन कुलीन परिवारों की वालिकाओं को उनके अभिभावकों ने ईसाइयों द्वारा चलाये जाने वाले विद्यालयों में पढ़ने का अवसर नहीं दिया। इसका फल यह हुआ कि ईसाइयों ने गरीब और उपेक्षित छोटी जातियों के वीच स्त्री शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया। ईसाई मत और संस्कार के प्रचार की दृष्टि से यह उद्योग चाहे

---

१. वही, पृ० २७८।

२. वी० पी० आई० आर०—वालुम X; पृ० २८४।

जितना भी सफल रहा हो, व्यापक रूप से इसने देश को हानि ही पहुँचाई। यह इस तरह कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रति कुलीन वर्ग में एक प्रकार की वितृष्णा का भाव पैदा हुआ। ईसाइयों ने जिन व्याधों, जिप्सियों, वैरागियों और वेश्या-पुत्रियों को शिक्षित बनाने का उद्योग किया वे भारतीय नारी समाज के लिए आदर्श नहीं हो सकीं।[1] एक दूसरी बात भी थी कि ईसाई मिशनरी वाले अपना प्रलोभन जाल फैला कर छोटी जातियों को फँसा रहे थे ताकि वे ईसाई हो जायें। नवीन वैचारिक आन्दोलन ईसाई आन्दोलन नहीं था। इसलिए नारी शिक्षा का उद्योग विफल रहा। यह इस बात से ही प्रमाणित है कि १८२१ में जब मिस कूक भारत में, यहाँ के निवासियों के बीच शिक्षा प्रचार करने आयीं तो उन्हें कुलीन परिवार की कोई भी बालिका छात्रा के रूप में प्राप्त नहीं हो सकी।[2]

१८३४ में जो एडम रिपोर्ट प्रकाशित हुई उससे विदित होता है कि नवीन शिक्षा मुख्यतः निम्न वर्ग की छात्राओं तक ही सीमित रही। मिस कूक के प्रयत्न से बालिका-विद्यालयों की संख्या धीरे-धीरे ३० तक पहुँची, जिनमें शिक्षा लाभ करने वाली छात्राओं की अधिकतम संख्या ६०० तक आ पहुँची।[3] यह अनुभव किया गया कि विद्यालयों का प्रबन्ध एक कठिन कार्य है। इससे विद्यालयों की संख्या वृद्धि से ध्यान हटा कर एक केन्द्रीय विद्यालय की स्थापना के हित प्रयास किया गया। १८३६ में ऐसा एक विद्यालय लेडी एमहर्स्ट के संरक्षण में खोला भी गया किन्तु इस विद्यालय में भी छात्राओं की संख्या संतोषजनक नहीं पाई गयी। आवश्यकता इस बात की थी कि स्त्री-शिक्षा के पक्ष में जनमत तैयार किया जाय और शास्त्र ग्रन्थों के प्रमाण पर यह सुझाया जाय कि स्त्री-शिक्षा के लिए शास्त्र की पूर्ण स्वीकृति है। इस सिलसिले में जिन लोगों ने आन्दोलन किया उनमें गौड़ मोहन विद्यालंकार का नाम विशिष्ट है जिन्होंने स्त्री-शिक्षा-विधायक शीर्षक से पुस्तिका का प्रकाशन कराया।[4] स्त्री-शिक्षा के विरोधियों को कहना था—सरकारी सेवा के लिए ही शिक्षा की अपेक्षा है और सरकार की सेवा करने के लिए पुरुष ही पर्याप्त हैं। अस्तु, नारियों की शिक्षा का कोई अर्थ नहीं। यह प्रश्न बहुत दिनों से हमारे देश के सामने है कि नारी-शिक्षा की रूप-रेखा पुरुष-शिक्षा से भिन्न हो अथवा उससे एकरूप हो। लेकिन जिन लोगों ने नारी-शिक्षा का विरोध उन दिनों किया था। उनकी रचनात्मक दृष्टि नहीं थी, वे केवल विरोध करने के लिए इस तर्क का अवलम्बन कर रहे थे। उस काल में शिक्षित स्त्रियों ने जिस तरह

---

१. बी० पी० आई० आर०—वालूम X, पृ० २८५।

२. वही „ पृ० २८६

३. वही „ „

४. बी० पी० आई० आर०—वालूम X, पृ० २८८।

अंग्रेजी फैशन को अपनाया उससे भी सामान्य जनता को असंतोष हुआ। इस क्रम में हती विद्यालंकार और रानी भवानी जैसी शिक्षिताओं के नाम लिए गये जिन्होंने शास्त्र-विरोधी आचरण किया था। विरोध की इस तीव्रता के कारण स्त्री-शिक्षा के उद्योग में बहुत मंथर गति से ही काम आगे बढ़ सकता था। १८४६ में आकर दो भारतीय उदार-पंथियों के प्रयत्न से गैर-ईसाई तत्वावधान में एक बालिका विद्यालय की स्थापना बरसेत में हुई। इस विद्यालय को मि० बेथुन के प्रयत्नों से सरकारी साहयता भी प्राप्त हुई और इस प्रकार इस दिशा में यह भारतीय प्रयत्न शासन संक्षेपित हुआ।[1] कलकत्ता में भी बेथुन के प्रयत्न से एक स्कूल की स्थापना हुई। इस स्कूल के अधिकारियों ने उच्च वर्गों के बीच जाकर स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता बतलायी। दूसरी ओर अधिकारियों ने इस बात का भी ध्यान रखा कि उस विद्यालय में केवल कुलीन परिवारों की बालिका ही पढ़ें। सबसे बड़ा बात यह हुई कि मि० बेथुन ने ईसाई मत को इस विद्यालय के पास भी फटकने नहीं दिया।

स्त्री-शिक्षा के आदि प्रचारकों में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाना चाहिए। विद्यासागर ने शिक्षा-विभाग में काम करते समय बालिका-विद्यालयों की संख्या बढ़ाई। कभी-कभी वे अपने वेतन से पैसे निकाल कर बालिका-विद्यालयों की सहायता भी किया करते थे।

देश में राष्ट्रीय जाग्रति जैसे-जैसे फैलती गयी वैसे ही वैसे यह भाव भी विकसित हुआ कि विदेशी सरकार को भारत के सामाजिक सुधार के काम में टाँग नहीं अड़ाना चाहिए। इस भाव के सबसे बड़े पोषक बाल गंगाधर तिलक थे। देश में आगे चलकर क्रमशः स्त्री-शिक्षा के प्रचार के औचित्य के प्रति अनुकूल वातावरण तैयार हुआ।

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में आरम्भिक युग में जो महत्व बेथुन विद्यालय को प्राप्त हुआ था वही महत्व १९१६ में स्थापित होने वाले दि इण्डियन वोमेन्स युनिवर्सिटी को प्राप्त हुआ। इस विश्वविद्यालय की प्रो० कर्वे द्वारा स्थापना के अगले ही वर्ष शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्राओं की संख्या बढ़ कर १२३०००० के करीब हो गई।[2] स्त्री-शिक्षा में यह जो प्रगति दीखी, उसका क्रम बना रहा। भारत की स्वराज्य-प्राप्ति के समय तक आकर इस दिशा में ऐसी प्रशंसनीय प्रगति हुई कि देश में ४ पुरुषों के मुकाबले एक नारी अवश्य ही शिक्षिता पाई जाने लगी।[3]

---

१. वही पृ० २९०।

२. एस० बी० आई० एन०—पृ० २४४।
दि पोजिशन ऑफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन्स, अल्टेकर, पृ० २६।

३. पी० डब्लू० एच० सी०—अल्टेकर, पृ० ७१।

जैसे-जैसे स्त्री समाज में शिक्षा का प्रचार होता गया वैसे ही वैसे हिन्दू स्त्रियों को अपनी हीनता का अनुभव भी होता गया।

भारतीय नारी की जटिल समस्याओं में एक दहेज की प्रथा है। देश का पुराचीन इतिहास यह सिद्ध करता है कि १९वीं शती के पहले दहेज का प्रश्न किसी भी अर्थ में जटिल नहीं था। पिता की सम्पत्ति में हिन्दू कन्या का कोई वैध अधिकार नहीं था। मां-बाप विवाहोपरान्त अपनी कन्या को अपने प्रेम और ममता के आग्रह से कुछ दे दिया करते थे।[1] किन्तु इस विषय में कहीं कोई वाध्यता नहीं थी। यह एक विचित्र बात है कि पश्चिम के उन्नत ज्ञान और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के उपरान्त यह दहेज की माँग होने लगी। जो वर्ग जितना ही अधिक शिक्षित होता, जितनी ही ऊँची कुर्सी पर सरकारी दफ्तरों में बैठता-उसकी कीमत उतनी ही बढ़ती जाती थी।[2] बात यह है कि पाश्चात्य नवीन शिक्षा ने देश में एक नये वर्ग का जन्म दिया—जो बाबू कहलाया और जिसका रङ्ग-ढङ्ग जनसामान्य से बहुत कुछ भिन्न पड़ गया। यह सामाजिक कुप्रथा धीरे-धीरे एक गम्भीर समस्या के रूप में खड़ी हुई। स्थिति इतनी भयंकर हो गयी कि हिन्दू घरों में दहेज के अभाव में विवाह योग्य कन्याएँ अविवाहित दशा में पड़ी रहीं। कुछ कन्याओं ने अपने मां-बाप को कन्या का विवाह की चिन्ता से मुक्ति देने के लिए आत्मघात भी किया।[3] इस सामाजिक प्रश्न ने जिस आर्थिक समस्या को जन्म दिया उसके परिणाम नाना रूपों में देखे गये। अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या-विक्रय आदि कुछ ऐसी सामाजिक विकृतियाँ हैं जो इस प्रश्न से सम्बद्ध है।

नारी शिक्षा का जो उद्योग हो रहा था उसमें बाधा रूप यह समस्या खड़ी हुई थी कि घर से विद्यालय तक, कुलीन परिवारों की बालिकाएँ किस तरह और कैसे जायेंगी। मि० वेथुन को इस सम्बन्ध में बहुत सतर्क होना पड़ा था। धीरे-धीरे शिक्षा जब सर्वसाधारण में फैलने लगी तब स्वभावतः वेथुन का सवारी-विषयक समाधान समस्या का हल नहीं ढूँढ़ पा रहा था। नारी शिक्षा, सम्पन्न घरों से आगे बढ़ कर मध्य वित्त वर्ग तक पहुँच रही थी। ऐसी स्थिति में पर्दे की सार्थकता के सम्बन्ध में सोचने की अपेक्षा नारी समाज को हुई।

पर्दे की इस प्रथा का इतिहास हमारे देश में कब से आरम्भ हुआ इस प्रश्न पर मतभेद के लिए अवसर यदि हो भी तब भी इस बात पर मतभेद की गुंजाइश नहीं

---

१. वही

२. ए० सी० एस० आर आई०—एस० नटराजन, पृ० १३६।

३. ए० सी० एस० आई०—एस० एन०—पृ० १३६।

होनी चाहिए कि मुसलमानी अत्याचारों के जमाने में इस प्रथा में जटिलता आयी। विकास के पथ पर बढ़ने वाली भारतीय नारियों ने इस प्रथा को अनुचित माना। शिक्षिताएँ अब सूर्य-उपमा बनी रहने के लिए तैयार नहीं थीं। इसलिए पर्दे के बाहर आने के लिए उन्होंने संघर्ष किया। देश में सुधार का जो आन्दोलन चल रहा था उसकी गति बहुत धीमी थी। सरकार सुधार कार्यों के प्रति निरुत्साह थी। सतारा में होने वाले सामाजिक कान्फ्रेंस के मंच से श्री रानाडे ने यह घोषित किया कि गुलामी की दशा में सामाजिक उन्नयन का प्रयत्न सिद्ध नहीं होता। सामाजिक उन्नयन और राष्ट्र भावना के विकास तथा राष्ट्रीय मुक्ति के बीच परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होता है। दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता।[1] नारी समाज की शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ राष्ट्रीय-भावना की लहर भी फैल रही थी। पर्दे की प्रथा नारी के, राष्ट्र यज्ञ में सम्मिलित होने की दिशा में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो रही थी। इसलिए भी नारियों ने पर्दे की गुलामी को नमस्कार किया।

१९२६ में अखिल-भारतीय-महिला-सम्मेलन की स्थापना हुई।[2] इसका उद्देश्य उस पराधीनता की परम्परा को नष्ट कर देना था जिसने हिन्दू नारी को सींकचों में बाँध रखा था।

१९०५ के बंग-विभाजन के समय ही, बंगाल का नारी-समाज पुरुषों के साथ आन्दोलन में सम्मिलित हुआ था जिसके परिणाम स्वरूप आन्दोलन बहुत फैल गया। गांधी-युग में भी नारियों को राष्ट्र यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए, आन्दोलन के कर्णधार महात्मा जी का आवाहन प्राप्त हुआ। सत्याग्रह-आन्दोलनों के जमाने में नारियों में जो जोश देखा गया वह एक गौरव गाथा है। कुलीन परिवारों की शिक्षित नारियाँ धरना देतीं और पुलिस के डंडे खातीं। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में ऐसी घटना सराहनीय होती है।

हिन्दू-समाज-व्यवस्था की एक जटिल उलझन जाति-व्यवस्था को लेकर है। अपनी सभ्यता के उषा काल में आर्यों ने जाति की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की थी। एक प्रकार से यह व्यवस्था श्रम के विभाजन की व्यवस्था थी और स्वभावतः दृढ़ और अपरिवर्तनीय नहीं थी। किन्तु, समाज में ज्ञानोपलब्धि करने वाले ब्राह्मणों के महत्व वर्द्धन के साथ क्रमशः जाति व्यवस्था गुण और कर्म पर स्थित न रह कर जन्म और पैतृक परम्परा पर अवस्थित हुई। किन्तु ब्राह्मणों का महत्व जब अपने प्रकर्ष पर पहुँचा तब प्रतिक्रिया रूप यह विचार भी बद्धमूल हुआ कि समाज

---

१. ए० सी० एस० आइ०—इण्डिया—एस० एन०, पृ० ६८।

२. वी० आइ० एन०—पृ० २४२

को जन्म को महत्व न देकर कर्म को महत्व देना चाहिए। औपनिषदिक युग में इस विषय में बड़े स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सत्यकाम जावाल का विवरण उपनिषद् में आया है। वह बताता है कि देश में स्वतंत्र विचारों का जब जन्म हुआ तब जातिवाद के इस प्रश्न पर बड़े विवेकपूर्ण ढंग से विचार आरम्भ हुआ।

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन से यह परिलक्षित होता है कि समाज में रूढ़िवद्ध और रूढ़ि-मुक्त दो वर्गों की परम्परा अक्षुण्ण रही है। जब भी वर्ण-उच्चता के अहंकार ने सिर उठा कर अनाचार किया, तभी प्रतिक्रिया भी हुई। १५ वीं शताब्दी में भारतवर्ष में जो वैचारिक क्रान्ति हुई थी उसने भी ब्राह्मणों की महत्ता का विरोध किया और तथाकथित अन्त्यजों को सामाजिक और धार्मिक अधिकारों पर प्रतिष्ठित करने का उद्योग किया।

हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का विरोध पहले तो केवल इसलिए किया गया था कि उसने एक विशेष वर्ग ब्राह्मणों को इतर वर्गों का भाग्यविधाता बना दिया था। सामाजिक और धार्मिक जीवन में आचरण के लिए संहिता बनाने का अधिकार रखने वाले ब्राह्मण वर्ग ने तथाकथित अन्त्यज वर्ग को और तो और भगवान से भी दूर कर दिया था। १५ वीं शताब्दी में जो क्रान्ति हुई उसका उद्देश्य तथाकथित छोटी जातियों को भक्तिप्रधान जीवन बिताने का अधिकार देना था। कबीर ने एक मूल प्रश्न यह भी उठाया था। बड़े लोगों की नजर में जो छोटे काम हैं उनके करने वाले छोटे थे, हीन थे। कबीर ने श्रम के महत्व का उद्‌घोष करते हुए यह कहा था कि काम कोई छोटा नहीं होता, कोई बड़ा नहीं होता। अस्तु, पेशे को प्रमाण मान कर जाति-विषयक उच्चता अथवा हीनता का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

जाति-व्यवस्था की एक बड़ी त्रुटि यह थी कि व्यक्ति अपनी पैतृक परम्परा से बाहर जाकर जीवनोद्योग करने का अधिकारी नहीं रह गया था।[1] इस व्यवस्था के अन्तर्गत योग्यता और शक्ति का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। दूसरी त्रुटि यह थी कि समाज में असमानता स्थिर होती थी। उच्चता और हीनता का प्रश्न खड़ा होता था। इस प्रश्न का उत्तर न्याय-विवेक के प्रमाण पर न देकर उच्च जातियों ने लाठी के बल पर दिया। कहना नहीं होगा कि इस व्यवस्था ने हिन्दू जाति के संघ-बल को कभी संगठित नहीं होने दिया।

इस व्यवस्था ने शोषण और अनाचार की जो परम्परा चलायी, उसके पोषण के लिए धर्म का उपयोग किया गया। धर्म विषयक व्यवस्था करने का अन्तिम अधिकारी होने का लाभ स्वार्थान्ध ब्राह्मण-वर्ग ने अबाध रूप में उठाया। छोटी जातियों के मानस

---

१. एस० वी० आइ० एन०—ए० आर०—देसाई, पृ २१३।

को इस प्रकार कुंठित कर दिया गया कि उसमें प्रतिक्रिया का कोई भाव पनप ही न सके। उनको समझाया गया कि अपने पूर्वजन्म के पाप के कारण वे अन्त्यज हुए हैं। यदि इस जन्म में ब्राह्मण और शास्त्रों का वे विरोध करेंगे तो उनका अगला जीवन भी व्यर्थ जायेगा। धर्म के इस पूँजीवाद ने समाज में एक वर्ग का जन्म दिया, जो अपने दर्द का न तो अनुभव कर पाता था और न अपनी स्थिति से ऊपर उठने की चेष्टा ही। अन्त्यजों के इस वर्ग को इतना निकृष्ट समझा गया कि उसे अछूत की संज्ञा प्राप्त हुई और उसकी छाया के स्पर्श से ही उच्च वर्गों का शरीर अशुद्ध होने लगा। इस वर्ग के लिए देव-मंदिरों के दरवाजे बन्द थे, वेद-पाठ और यज्ञ-सम्पादन की तो यह वर्ग कल्पना भी नहीं कर सकता था। छोटे-मोटे सामाजिक अधिकार जैसे कुएँ और पोखरे से पानी लेने का अधिकार भी इसे प्राप्त नहीं थे।[1] विचित्रता यह थी कि इस प्रकार दुर्दशा, अपमान और प्रताड़ना में पड़ा हुआ यह वर्ग भी हिन्दू-जाति ही कहाता था। भेदभाव की यह विषमता ऐसी हो गयी थी कि समान रूप से अपराधी होने पर भी एक सवर्ण की अपेक्षा अवर्ण को कहीं अधिक दण्ड भुगतना पड़ता था[2] और दण्ड की व्यवस्था भी सवर्ण ही किया करते थे।

१६ वीं शताब्दी में समाज की सड़ी-गली मान्यताओं पर जब धक्का लगना शुरु हुआ तो पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान स्वभावतः इस सामाजिक अन्याय की ओर गया। देश में एक नये जीवन की अरुणिमा फूट रही थी। समुन्नत अंग्रेज जाति ने भारतीयों के लिए जीवनोपयोगी सुविधाएँ बढ़ा दी थीं। हम ऐसा कह कर यह नहीं कहना चाहते कि अंग्रेज सरकार कल्याण-राज्य के पथ पर अग्रसर थी और उसी के आग्रह से उसने रेल, डाक, तार आदि की व्यवस्था की थी। इतने बड़े भौगोलिक विस्तार के देश को अपने सम्राज्यवादी पंजे के नीचे रखने के लिए ही विशेषतः उन्हें इस प्रकार की व्यवस्थाओं की अपेक्षा थी। चाहे जिस उद्देश्य से उन्होंने इन सुविधाओं का सिलसिला खड़ा किया हो, इनसे कुछ रचनात्मक कार्य भी हुए। रेलगाड़ी की व्यवस्था ने अब यातायात की सुविधा की समस्या को सुलझाया। उसके साथ ही उसने हिन्दू-समाज की जड़ता पर भी, इस मानी में प्रहार किया कि रेलगाड़ी की सवारी करने से एक अवर्ण को कोई सवर्ण उसकी जाति के प्रमाण पर रोक नहीं सकता था। जो अस्पृश्य था वह अब बगल में बैठने लगा और उसे बगल में बैठा देने की लाचारी सवर्णों को सहनी थी। यदि रेल की यात्रा कई दिनों की हो तो फिर गाड़ी में अछूत के पास बैठ कर भोजन करने की विवशता भी होने लगी। यह सही है कि आज भी

---

१. एस०वी० आइ० एन०—देसाई, पृ० २३१।

२. वही पृ० २३२।

समाज में कुछ ऐसे लोग मिलेंगे जो या तो गाड़ी में खाते ही नहीं अथवा कुछ खाते हैं तो गाड़ी से उतर कर स्टेशन पर नवीन शिक्षा के कारण जैसे-जैसे सवर्ण समाज को यह अनुभव होता गया कि सचमुच अपने ही समाज के एक अविभाज्य अंग के प्रति बड़ा अन्याय होता रहा है, वैसे इस विषय में रूढ़ि के वन्धन को विच्छिन्न होना ही था। आज तो रेल के अलावे दूसरी सवारियाँ भी आ गयी हैं और समान्यतः अछूतों से परहेज करने की प्रवृत्ति बहुत कुछ दूर हो गयी है। लेकिन आज भी हम यह दावा नहीं कर सकते कि हरिजनों के साथ समाज ने अपने दायित्व का निर्वाह कर लिया है।

अब हम यह देखें कि अन्याय वोध के उपरान्त समाज ने, अन्याय के शमन के लिए समय-समय पर क्या उद्योग किया।

कांग्रेस की स्थापना के साथ-साथ इस वात का भी अनुभव किया गया कि यदि देश को आगे वढ़ना है तो उसे सामाजिक क्रान्ति की भी अपेक्षा है। किन्तु वैसी क्रान्ति कांग्रेस के तत्वावधान में इसलिए नहीं हो सकती थी कि कांग्रेस हिन्दू-जाति की संस्था न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की संस्था थी। काग्रेस के नेताओं में रानाडे सामाजिक क्रान्ति के वहुत बड़े आग्रही थे। लेकिन उनके आदर्श मध्ययुगीन संतों के आदर्श थे। नवीन जीवन-क्रम ने जो नई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न की थीं उनके परिप्रेक्ष्य में भी समाज सुधार के प्रश्न पर विचार करना था। 'सोशल कान्फ्रेन्स' नामक एक स्वतंत्र संस्था जब स्थापित हुई तब एक ऐसा रंगमंच देश को प्राप्त हुआ जिसकी वड़ी अपेक्षा थी। १९०४ में इस संस्था वम्वई में अधिवेशन हुआ।[1]

इस अधिवेशन को कई दृष्टि से महत्वपूर्ण मानना चाहिए। एक वड़ी वात यही हुई कि उस अधिवेशन में वड़ौदा के गायकवाड ने अपने उद्‌घाटन भाषण में जाति-व्यवस्था का वड़े तीखे शब्दों में खण्डन किया।[2] यहाँ यह स्मरण रखने की वात है कि

---

१. ए० सी० एस० आर० आइ०, नटराजन, पृ० ११०।

2. The evils of castes cover the whole range of social libe....It robs us of our humanity by insisting on the degradation of someof our fellowmen who are separated from us by no more than the accident of birth....It prevents our making the most of all the uarious abilities of our diverse comunities, it diminishes all our emotional activities and intellectual resources. It is the most conservative element 'n our society and the steady emeny of all reform.—A. C. S. R.I—S. N, P. 111. पर उल्लिखित।

यद्यपि सोशियल कान्फ्रेन्स ने अछूतोद्धार के प्रश्न को बड़े जीवट के साथ उठाया तथापि उसे इस विषय में सबसे पहले आन्दोलन करने वाली संस्था नहीं कह सकेंगे। १८९८ में ही प्रार्थना समाज ने भी Depressed-Class Mission गठित कर लिया था।[1] जैसे सवर्णों के बीच अनेकानेक उपवर्ग खड़े थे वैसे ही अन्त्यजो के समाज में भी अनेकानेक वर्ग और उपवर्ग थे। सुधारकों के लिए यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य थी। यह इसलिए कि राष्ट्र की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करने के लिए ही सुधार के ये सारे कार्य हो रहे थे। Social Conference के १९०८ के अधिवेशन में शंकरन नायर ने इस प्रश्न की ओर सुधारकों का ध्यान खींचा। अछूतों की दशा के सुधारने का प्रयास मि० वी० आर ०शिन्दे द्वारा भी किया गया। उन्होंने Depressed Cloasses Mission नामक संस्था, १९०६ में बम्बई में, हरिजनों के बीच शिक्षा प्रचार के उद्देश्य से, स्थापित की।[2] बम्बई में ही Bonbay Presidency Social Roform Association नामक संस्था भी इस दिशा में प्रयत्नशील थी।

हरिजनों के उद्धार का प्रयत्न करने वाली संस्थाओं में ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज के नाम भी महत्वपूर्ण हैं। लेकिन इस विषय में वास्तविक श्रेय तो अंग्रेजों की उस साम्राज्यवादी नीति को ही मिलना चाहिए जो भारत की प्रजा के बीच में फूट डाल कर शासन करना चाहती थी और जिसके विरोध में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक व्यापक आन्दोलन छेड़ा और अखिल-भारतीय हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की।[3]

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण को स्वराज्य प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनिवार्य शर्त माना था। वह कहते थे कि छुआ-छूत की इस जटिल व्यवस्था को लेकर चलने वाला देश स्वतन्त्रता के न तो योग्य होता है और न स्वतन्त्रता की रक्षा ही कर सकता है। अस्तु, उन्होंने अपने रचनात्मक कार्य-क्रम के सूत्रों में एक आवश्यक और महत्वपूर्ण सूत्र के रूप में अस्पृश्यता निवारण को भी रखा—कांग्रेस की सदस्यता के लिए एक शर्त यह भी थी कि आवेदक को छुआ-छूत के प्रति अपनी अनास्था घोषित करनी पड़ती थी।[4] कांग्रेस जन परस्पर व्यवहार में छुआ-छूत को लेकर नहीं चल सकते थे। कांग्रेस अधिवेशनों में विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोग एकत्र होते थे और उनको साथ साथ खाना-पीना पड़ता था। इस प्रकार कांग्रेस जनों के व्यावहारिक जीवन में

---

1. Ibid, P. 112.
2. (A. C. S. R. I.) Ibid, P. 113.
३. एस० वी० आई० आर०—पृ० २३३
४. वही

छुआ-छूत के लिए गुंजाइश ही नहीं रह गयी थी।[1]

अछूतों की समस्या, हिन्दू समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या तो अवश्य थी किन्तु वह हिन्दू जाति की घरेलू समस्या थी। अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए हिन्दू समाज की इस समस्या का उपयोग करने का निश्चय किया। अंग्रेजों का भारत को मुक्त करने का कोई वास्तविक विचार नहीं था। यद्यपि वे सदा यह कहते थे कि वे तो भारत का शासन भारतीयों के हाथों में रख देने के लिए व्यग्र हैं। स्वयं भारतीय उस दायित्व को ग्रहण करने के योग्य अपने को सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं। अपने इस दावे के समर्थन के लिए उन्होंने अछूतों को हिन्दू-जाति से भिन्न एक विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में खड़ा करने की अनथक चेष्टा की। इसी नीति के कार्यान्वियन के क्रम में अंग्रेज सरकार ने मैक्डोनल के साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की। यह घोषणा गोलमेज-परिषद के दूसरे अधिवेशन के उपरान्त सिर्फ इसलिए की गयी थी कि दुनिया यह जान ले कि भारत को आजादी देना आसान काम नहीं है। साम्प्रदायिक निर्णय की इस घोषणा के अनुसार हिन्दुओं के अन्त्यज अथवा दलित वर्ग को हिन्दुओं की विशाल बिरादरी से बाहर खींच कर लाने की राजनैतिक चेष्टा हुई। दलित जातियों के लिए कौंसिलों में निश्चित संख्या में स्थान सुरक्षित रखे गये। उन निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्ग के लोग ही मतदाता बनाये गये। दलित-वर्ग के मतदाताओं को साधारण चुनाव क्षेत्रों में मत देने का अधिकार भी, इस निर्णय के अनुसार दिया गया। गांधी जी ने सरकार की इस नीति को खूब ठीक से समझा। उन्होंने यह घोपित किया कि सरकार यह चाहती है कि अस्पृश्यता का कलंक सदैव के लिए बना रहे। अस्पृश्यता को दूर करने का उपाय पृथक-निर्वाचन-मण्डल अथवा कौंसिलों में विशेप रक्षित स्थान नहीं है।[2] गांधी जी ने कहा कि अछूत यदि मुसलमान अथवा ईसाई हो जाये तो मुझे उसकी कुछ परवा नहीं। मैं वह सह लूंगा, किन्तु प्रत्येक गांव में यदि हिन्दुओं के दो भाग हो जायें तो हिन्दू-समाज की जो दशा होगी वह मुझसे सही न जा सकेगी। जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकारों की बात करते हैं वे भारत को नहीं पहचानते और हिन्दू समाज आज किस प्रकार बना हुआ है यह नहीं जानते।[3] अपना यह विरोध प्रकट करने के लिए गांधी जी ने अनशन करके अपने प्राणों की बाजी लगा दी।

गांधी जी ने सदा इस बात पर जोर दिया कि अस्पृश्यता निवारण का काम अपनी सवर्णता के अहंकार को बनाये रखकर नहीं हो सकता। वह तो एक प्रकार का

---

३. का० का० इति०—पट्टाभि सीतारमैया, पृ०—१।

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ५५७।

२. वही — "

का रचनात्मक कार्य है जिसे अपने शील और आचरण के बल पर ही पूरा किया जा सकता है। सरकार ने अम्बेडकर को दलित वर्ग के नेता के रूप में खड़ा करके उनका अपनी राजनीति की स्थिति के लिए पूरा उपयोग किया। लेकिन, कांग्रेस ने अम्बेडकर को अछूतों का नेता कभी स्वीकार नहीं किया। सदा इस प्रश्न को सामाजिक और साम्प्रदायिक प्रश्न ही समझा। उसका कोई राजनैतिक पहलू काँग्रेस के सामने मान्य नहीं हुआ।

विवेच्य काल में हिन्दू समाज की समस्याओं में एक मादक द्रव्य सेवन की समस्या भी है। सुरा का प्रचलन हाल में ही हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि शराब खोरी का विवेच्य काल में बहुत प्रचार हुआ। कारण था कि देशी शराब की कीमत बहुत थोड़ी थी। अल्प आय प्राप्त करने वाला एक व्यक्ति जितने पैसों में भोजन कर सकता था उससे कम पैसे की शराब पीकर वह भूख को भी भुला लेता था और आनन्द भी पा लेता था।

मादक-द्रव्य-सेवन के लिए अंग्रेज तिजारियों की ओर से बड़े पैमाने पर प्रचार कार्य हुआ। आरम्भ में सस्ती कीमत पर अफीम जैसी नशीली और हानिकर चीज, साधारण जनता के बीच प्रचारित की गई और बाद में जब लोगों को उस नशे की आदत हो गई तो फिर क्रमशः कीमत भी बढ़ा दी गयी। बर्मा के एक चीफ कमिश्नर मि० हाइन्ड ने अपने एक प्रतिवेदन में इस तथ्य को स्वीकार भी किया था। बंगाल में तो यह हालत थी कि जिस साल शराब की बिक्री से सरकारी आमदनी पिछले वर्षों के मुकाबले नहीं बढ़ती तो जिला अधिकारियों को अपने अधिकारियों की फटकार सुननी पड़ती। उस जमाने में शराब-बन्दी-आन्दोलन करने वालों ने मादक द्रव्य प्रचार के पीछे अंग्रेजी चाल का पर्दाफाश किया। उनका कहना था कि १८७४ से लेकर १९२० तक का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाये तो विदित होगा कि सरकार की आय प्रतिवर्ष बढ़ती ही गयी। १८७४ में प्रायः २ करोड़ ३३ लाख की आय शराब बिक्री से सरकार को हुई थी। यह आय १९०३ में प्रायः ८ करोड़ तक पहुँच गयी। कहना नहीं होगा कि जिस अनुपात में सरकार की आमदनी बढ़ रही थी उसी अनुपात में भारत की जनता लुट भी रही थी। १९२० में कांग्रेस ने जब मादक द्रव्य निषेध आन्दोलन चलाया तो अंग्रेज सरकार उसे सह न सकी। लेकिन कांग्रेस का यह आन्दोलन बहुत कुछ कारगर हुआ और सरकार को इस वर्ष, इस खाते में बड़ा घाटा हुआ।

कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम के अन्तर्गत इस आन्दोलन को भी स्थान मिला और कांग्रेस जनों ने स्वयं तो मादक-द्रव्य का बहिष्कार किया ही दूसरों को भी तदर्थ प्रेरित किया।

विवेच्य काल में देश के अभ्युत्थान के लिए सामाजिक क्षेत्र में जो प्रयत्न हुए

उनके मूल में बुद्धिजीवियों के उस वर्ग की प्रेरणा थी, जो नवीन पाश्चात्य शिक्षा और बर्क ब्राइट और मिल जैसे तत्त्वदर्शी मनीषियों के विचारों से प्रभावित था। कोई भी सुधार आन्दोलन तब तक सफल नहीं होता जब तक वह समाज में बुराइयों के प्रति विरोध का भाव पैदा न करे। सफल सुधारक अपनी परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न होकर नहीं चला करता। वे तो ऐसी शर्तें थीं जिनका पालन करना इन लोगों के लिए अनिवार्य हुआ जो देश में सुधार आन्दोलन चला रहे थे।

समाज के क्षेत्र में सुधार कार्य करने वालों ने अनुभव किया कि जो समाज खण्डशः विभक्त होकर अपना बल नष्ट कर चुका हो, उसको प्रगतिशील संसार में जीवित रहने में कठिनाई होगी। पश्चिम ने जिस सामाजिक समता को व्यवहार रूप में प्राप्त कर जन-जन को गौरव प्रदान किया था उसकी भारत को भी अपेक्षा थी किन्तु, समता के उस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देना हिन्दू समाज के लिए कठिन व्यापार था। जाति-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को इतने भागों में बाँट रखा था और उन अनेकानेक भागों की विभाजक रेखा ऐसी बुलन्द थी कि हिन्दू-समाज समानता का अनुभव कर ही नहीं सकता था। हमारे सुधारक नेताओं ने इसलिए एक ऐसे समाज के गठन का आग्रह प्रस्तुत किया जिसमें वर्ण उच्चता की स्थिति न रहे। इस नये परिप्रेक्ष्य में उस वर्ण धर्म को स्वीकार करने का आग्रह बुद्धिजीवियों के बीच नहीं रहा जो गुण और कर्म पर स्थिर न होकर जन्म पर स्थिर हो। जाति-भेद से ग्रस्त हिन्दू समाज के आगे, बड़े हिम्मत के साथ सुधार करने वाले उपस्थित हुए।

प्रेमचन्द-युग की आर्थिक परिस्थिति

प्राचीन इतिहास में भारत की प्रसिद्धि सोने की चिड़िया के रूप में थी। इस देश की अतुल सम्पत्ति के आकर्षण से विदेशी आक्रान्ताओं ने न जाने कितनी वार इस देश पर चढ़ाई की और न जाने वे कितनी सम्पत्ति लूट कर ले गये। श्री रजनी पाम दत्त ने एक बड़े पते की बात यह बतायी है कि भारतवर्ष गरीव लोगों का देश है लेकिन वह गरीव देश नहीं है।[1] प्रकृति का जो अपार वैभव भगवान ने इसे दे रखा है उसका यदि सम्यक् रूप से देश के कृषि और औद्योगिक विकास के लिए उपयोग किया जाय तो इस देश को एक वार फिर से सोने की चिड़िया का विरुद प्राप्त हो जाये।

अंग्रेजों के भारत-प्रवेश के समय भी भारत अत्यन्त समृद्ध देश था और आर्थिक विकास की दृष्टि से संसार के देशों के बीच उसकी एक सुनिश्चित जगह थी।

सन् १७५७ में जब क्लाइव मुर्शिदाबाद नगर में प्रविष्ट हुआ तब उस नगर की समृद्धि को देख कर यह भौंचक रह गया था।[2] १७वीं और १८वीं शताब्दी के टेवर-नियर और मनोची जैसे विदेशी यात्रियों ने भी इस देश की समृद्धि का उल्लेख किया है। किन्तु अपने शासन के कुल सौ वर्षों में ही ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने इस इतिहास को बदल दिया। स्थिति ऐसी बुरी हो गयी कि ऐडम स्मिथ जैसे राजनीतिक अर्थशास्त्री को अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में सन् १७७६ में ही यह लिखना पड़ा कि व्यापारियों की संस्था ईस्ट-इण्डिया ने भारत को एक बुरी सरकार दी है। ऐडम स्मिथ ने यह भी बताया है कि ऐसी व्यापारिक संस्थाएँ सुशासन दे भी नहीं सकती हैं इसलिए कि देश के शासक और व्यापारियों के हित और दायित्व समान नहीं होते।[3]

अब हम यह देखें कि अंग्रेजी शासन काल में भारत की आर्थिक व्यवस्था का क्या रूप था। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम अंग्रेजों के युग में भारतीय कृषि और भारतीय उद्योग-धन्धे की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे।

---

१. इण्डिया-टुडे—रजनी पाम दत्त, पृ० २१

२. इन्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट (१९१६-१८), पृ० २४९

३. विश्व-इतिहास की झलक—नेहरू, खण्ड २, पृ० ५८०।

भारत में भूमि का स्वत्व अंग्रजों के आने के पहले शासन में निहित नहीं था। सम्राट भूमि-कर प्राप्त करने का अधिकारी माना तो जाता था किन्तु, भूमि उसकी है यह कभी किसी ने सोचा भी नहीं।[१]

श्री राधा कमल मुखर्जी की पुस्तक 'लैन्ड प्राब्लेम्स इन डिराडया' में यह बताया गया है कि भारत में भूमि ग्राम-पंचायत के स्वत्व में थी और राजा का उसके ऊपर किसी प्रकार का स्वत्व नहीं था।[२]

शासन का अधिकार था कि वह वार्षिक फसल का एक निश्चित भाग किसानों से ग्राम-पंचायत के माध्यम से प्राप्त करे। इस व्यवस्था का परिणाम यह था कि भूमि पर व्यक्ति का स्वत्व न हो कर समुदाय का स्वत्व था। मुगलों के सुशासन के काल में जब देश की जमीन का सर्वेक्षण हुआ था तब भी इस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया गया था।

अंग्रजों के यहाँ भूमि-सम्बन्धी जो नियम प्रचलित थे वे इससे नितान्त भिन्न थे। इस देश में आने के बाद भूमि-नियम विषयक जो परिवर्तन उन्होंने किये उनका ढाँचा सामान्यतः वही था जिससे उनका अपने देश में परिचय था। इस नये युग में भूमि का स्वत्व ग्राम-सभा का नहीं रह जाता। सरकार में देश की सम्पूर्ण भूमि का स्वत्व निहित हो जाता है। अब सरकार ने भूमिधारियों का वर्ग खड़ा किया जिसे निश्चित अवधि के लिए निश्चित लगान पर भूमि विषयक अपना स्वत्व स्थानान्तरित किया। यही वर्ग जमींदारों का हुआ। देश के कुछ दूसरे भागों में सरकार ने किसान के साथ अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा। इससे वह सिलसिला चला जिसे रैयतवारी सिलसिला कहते हैं। आगे चल कर सन् १७९३ में लार्ड कार्नवालिस के शासन काल में बंगाल, बिहार और अवध क्षेत्र मे जमींदारी की यह व्यवस्था दमामी (स्थायी) हो गयी।

नवागन्तुक अंग्रेजों ने जमींदारी की प्रथा को कुछ तो इसलिये खड़ा किया कि भूमि कर उगाहने की यह सब से आसान और सबसे कम व्यय-साध्य व्यवस्था थी।

इसके अतिरिक्त उन्हें देश में एक ऐसे वर्ग को खड़ा करना था जो उनका मुँह जोहता रहे और उसके बल पर अंग्रेज उस देश में बने रहें। अंग्रजों को सामान्य जनता और अपने बीच एक ऐसा वर्ग बना लेना था जो उनके बदले में कर उगाह दे, उनके इशारे पर काश्तकारों को अपनी मुट्ठी में रखे। लार्ड विलियम बेंटिक ने जो कम्पनी

१. माडर्न इंडिया ऐन्ड दि वेस्ट, ओ० मैले और बेडेन पावेल सो० बे० इ० ने० में उल्लिखित, पृ० २७।

२. लैन्ड प्राब्लेम्स इन इण्डिया—राधा कमल मुखर्जी, पृ० १६।

के शासन काल में गवर्नर-जेनरल के पद पर सन् १८२८ से १८३७ तक प्रतिष्ठित था इसे निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है—

If security was wanting against extensive popular tumult or revolution, I should say that permanent settlement, though a failure in many other respects and in its most important essentials, has this great advantage at least, of having created a vast body of rich landed proprietors deeply interested in the continuance of the British Dominion and having complete command over the mass the people.[1]

देश के अगले इतिहास ने यह सिद्ध किया कि अंग्रेजों ने कैसी चतुराई से जमींदारों के इस वर्ग को खड़ा कर अपना हित साधन किया।

अंग्रजों के इस प्रबन्ध का परिणाम यह हुआ कि रैयतवारी बन्दोबस्ती के अन्तर्गत व्यक्ति-रूप में किसान भूमि का स्वामी हुआ जिसे लगान की नियमित रकम सरकार को दे देनी है। जमींदारी प्रथा ने जमींदार को भूमि-पति बनाया। वह अपने असामियों से लगान वसूलता था और लगान की निश्चित राशि सरकारी खजाने में पहुँचा देता था।

कम्पनी की सरकार के जमाने में किसानों पर बड़ा अत्याचार किया गया। उसकी कोशिश अधिक से अधिक लगान वसूलने की होती थी। बहुत थोड़े दिनों में भूमि कर का बोझ दूना हो गया। सन् १७६९-७० में बिहार और बंगाल में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप आबादी का तृतीयांश नष्ट हो गया। लेकिन जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरूने कहा कि कम्पनी ने लाशों तक से रुपया वसूल कर लिया।[2] उसी लूट के बाद कार्नवालिस के जमाने में दमामी बन्दोबस्ती हुई।

सरकार इन जमींदारों को तरह देने के लिए विवश थी। उसका प्रयोजन इतने से ही सध जाता था कि उसके खजाने में जमींदार निश्चित तिथि को निश्चित रकम पहुँचा दे। वह स्वयं शोषण करती थी और दूसरों को, जैसे जमींदारों को, शोषण करने के लिए स्वच्छन्द बनाती थी। जमींदार किसान से लगान पाने का न्यायत: अधिकारी है भी या नहीं, इस विषय में तत्कालीन सरकार ने कभी नहीं सोचा।

सरकार में भूमि का स्वत्व निहित था और उसे राज-काज के लिए रुपया चाहिये था। इसलिए उसका लगान पाने का हक है ऐसा तो समझ में आता है। लेकिन

---

१. सो० बे० इ० ने०—ए० आ० देसाई पृ०, २६ पर उल्लिखित
२. वि० इ० की झ०—पृ०, खं० २

भूमि के स्वत्व के जमींदार में स्थानान्तरित हो कर आने से जमींदार का भी लगान पाने का कोई अधिकार है यह न्यायोचित नहीं दीखता। भूमि के स्वत्व के ही कारण तो मुख्य रूप से सरकार को लगान मिलती थी। फिर उसी स्वत्व के नाम पर जमींदार जब लगान माँगता था तो स्पष्ट है, वह एक ही अधिकार का दुबारे किसान पर प्रयोग करता था। जमींदारों ने यदि भूमि की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाया होता, प्रजा के सामान्य जीवन को ऊँचा उठाया होता तो उसे काश्तकार से कुछ मांगने का अधिकार हो सकता था। लेकिन वह ऐसा एकदम नहीं करता था। सरकार की ओर से जो लगान निश्चित थी उससे ही उसको संतोष कहाँ होता था ?

श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'आत्म कथा' में यह लिखा है कि किसानों की दशा की जाँच करते समय उन्हें मालूम हुआ था कि जमींदारों ने काश्तकारों पर लगान का बोझ बहुत बढ़ा दिया था। वे निर्द्वन्द्व होकर नाजायज वसूली किया करते थे और बात की बात में काश्तकार को अपनी जमीन से बेदखल कर देते थे।[1]

पंडित जी ने जिस नाजायज वसूली का उल्लेख किया है उसके सम्बन्ध में पावना (बंगाल) के किसानों को भी गहरी शिकायत थी। इस शिकायत के ही कारण सन् १८७३ में पावना में किसानों का सशक्त विद्रोह हुआ था। शोषण का रूप बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में प्रायः एक जैसा था। जमींदार स्कूल-खर्च, तार-खर्च, रसद-खर्च, वारुणी-स्नान-खर्च और हाथ-बड़ा-महाप्रसाद के नाम पर बंगाल में नाजायज रकम वसूलता था।[2] तो बिहार में जमींदार किसान से 'आमदी', 'घोड़हई', 'फरिकावन' आदि के नाम पर मनमानी रकम ऐंठता था। स्थिति ऐसी हो गयी थी कि यदि वाजिब लगान चार रूपये की रकम होती तो नाजायज वसूली उसके ऊपर पाँच-सात रुपये तक जाती। जमींदारों तक अत्याचार की यह कहानी सीमित नहीं रहती थी। जमींदारों के कारिन्दे होते थे जिनकी सेवा भी किसान को करनी पड़ती थी। इस मद में किसान तहरीर और दस्तूरी देने के लिए विवश था। जमींदार का पावना किसान को अंग्रेजों के जमाने में नकदी रूप में चुकाना पड़ता था जैसा कि और तो और मुगलों के जमाने तक नहीं था।[3] कभी ऐसा होता कि किसान जमींदार को लगान नहीं दे पाता तो किसान को वह तुरत जमीन का इस्तीफा कर देने के लिए विवश करता।

---

१. एन आटोबॉयग्रफी—जवाहर लाल नेहरू, पृ० ५२
२. स्टडीज इन बंगाल रेनासा—पीजेन्ट ववेश्चन्स—शीर्षक निबन्ध लेखक नरहरि कविराज, पृ०, ५२२
३ वि० इ० की झ०, खं० २—नेहरू, पृ० ५६१

यद्यपि जमीन की बन्दोबस्ती किसान के हाथों स्थायी रूप में होती थी तथापि अपढ़, कानून-कायदे से अपरिचित गरीब किसान इस विषय में अपना अधिकार कब खोज सकते थे और जो खोजें भी तो किससे ? जमींदार के विरुद्ध सरकार सुनने वाली ही कब थी ? बेदखली का जो सिलसिला किसान के साथ था वही जमींदार के के साथ भी था। वह लाट रोडसेस निश्चित तिथि पर देने में यदि चूक जाता था तो उसकी जमींदारी को सरकार नीलाम पर चढ़ा देती थी।

भूमि पर इतना दबाव पड़ रहा था कि उसकी माँग सदा बनी रहती थी।[1] किसान जानते थे कि जमींदार लगान वसूलने में ज्यादती करता है, नाजायज रकम ऐंठता है और इन सब के ऊपर हली-हुकुमत, वस्त्र-बेगार का सिलसिला होता है जिसके अनुसार काश्तकार को अपना माल जमींदार के हाथों उसकी सुविधा की दर से बेचने की लाचारी थी, उसकी खेती के लिए हल-बैल देना पड़ता था, बेगार करनी पड़ती थी। जो जमींदार किसी कारणवश नाराज हो गया तो वह जुर्माना ठोक सकता था और डंडे के बल से उसे वसूल भी सकता था।

जैसे जमीन बन्दोबस्त लेने वाले किसान आसानी से मिल जाते थे वैसे ही जमींदारी का नीलाम खरीदने वाले लोग भी सरकारी कचहरियों में भीड़ लगा देते थे। जमींदार घर की औरतों के गहने बन्धक रख कर भी सरकारी रकम की अदायगी इस विपत्ति से बचने के लिए किया करता था। जैसे किसान जमींदार का पावना भुगतान करने के लिए अपनी जमीन कभी रेहन रखता था और कभी लाचार होकर बेच दिया करता था वैसे ही जमींदार भी अपनी जमींदारी का कोई हिस्सा रेहन पर रखता था अथवा उसे बेच देता था। इस प्रकार जमीन और जमीन का अधिकार बाजार की बिकाऊ चीजें हो गयीं। यह स्थिति अंग्रेजों के पहले इस देश में कभी नहीं आयी थी। किसान और जमींदार दोनों ही इस प्रकार अपने संकट के क्षण में किसी महाजन के शरणागत होने लगे।

राजस्व का अन्न में भुगतान न कर सकने की असुविधा ने किसानों को बड़ी हानि पहुँचायी। उन्हें अब अन्न के लिए बाजार खोजना पड़ा और इससे आगे बढ़ कर वे फसलें उगानी पड़ीं जिनकी आवश्यकता ब्रिटेन को थी। कृषि के इस व्यवसायीकरण का परिणाम किसानों के हितों में अच्छा नहीं हुआ।

अंग्रेजों के आने के पहले भारत के गाँव स्वालम्बी थे। अंग्रेजों के आने के बाद गाँव का सामुदायिक संघ जीवन नष्ट हो गया। अब ग्राम-निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला कोई समान आर्थिक-हित भी नहीं रह गया। अस्तु ग्रामीणों को

---

१. वि० इ० की भ०, खं० नेहरू, पृ० ५६३ —२

एक दूसरे के साथ परस्पर सहयोग करने की आवश्यकता नहीं रह गयी जैसी पहले थी। पहले के गाँव तो जैसे एक परिवार थे। गाँव की सारी जमीन ग्रामवासियो की सम्मिलित रूप में थी। गांव के बाहर जो दुनिया है उसके गांव वाले प्रायः तटस्थ द्रष्टा ही होते थे। आवश्यकता की सारी चीजें उन्हें अपने गाँव में ही उपलब्ध हो जाती थीं। न उनको किसी बाजार में जाने की जरूरत पड़ती थी न वे किसी दूसरे के लिए बाजार रूप थे। अंग्रेजों की अमलदारी में भूमि पर गाँव का जो यह सामुदायिक अधिकार नहीं रह गया इसके कारण वह आधार ही शेष नहीं रह गया जहां समस्त ग्राम वासियों का आर्थिक हित एक हो सके।[1] अब व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिलसिला खड़ा हुआ और सामुदायिक हित का प्रश्न विस्मृत हो गया। इस स्थिति का एक भयंकर परिणाम यह भी हुआ कि ग्रामवासियों के बीच प्रेम के स्थान पर स्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हुई।[2]

भारत के किसानों की सबसे बड़ी समस्या है उनकी निर्धनता। इस निर्धनता के बहुत सारे कारण हैं। बढ़ती हुई जन-संख्या का भरण-पोषण जमीन से ही हो सकता है। उपज लायक जमीन की वृद्धि की ओर किसी का ध्यान नहीं था। नहीं तो देश में बेकार पड़ी हुई इतनी काफी जमीन है कि यदि वैज्ञानिक विधि से अधिक खाद देकर खेती की जाती, परती जमीन को जोत में लाया जाता तो किसानों की विपन्नता को किसी हद तक दूर किया जा सकता था। बढ़ती हुई आबादी के भरण-पोषण के लिए कृषि के अतिरिक्त दूसरे धन्धे भी खड़े किये जा सकते थे। किन्तु इन बातों की चिन्ता उस शासन-व्यवस्था को क्या हो सकती थी जो कर उगाहने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझती थी, अथवा उस जमींदार को ही क्या हो सकती थी जो किसान की लाश से भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु जायज-नाजायज रकम उगाह सकता था।

संयुक्त परिवार की संस्था टूट रही थी और तदनुसार जमीन का उपविभाजन और अपखंडन का क्रम भी चल रहा था। स्थिति ऐसी हो गयी थी कि बहुत से काश्तकारों को आर्थिक जोत (इकानामिक होल्डिंग) का स्वामी होने का भी अवसर नहीं रह गया था।

अंग्रेजों ने इस देश में आकर यहाँ के कुटीर-उद्योग को चौपट कर दिया। कभी वह दिन भी था जब भारत के कारीगरों के हाथ से तैयार माल संसार की मंडी में

---

१. सो० वै० इं० ने० — देसाई, पृ० ३६

२. Competative Economic relations resulting out of private property and market replaced former co-operative Socio-Economic relations.— S. B. I. N., Page 36

विस्मय की वस्तु माने जाते थे। लंकाशायर की मिलों को आबाद रखने के लिए भारत के कुटीर उद्योग की निर्मम हत्या हुई।[1] किसान वर्ष में आठ महीने प्रायः बेकार रहता है। उसके घर में निठल्ले लोगों की अपार भीड़ खड़ी है। इस जन-शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाया जाता तो देश का नक्शा ही बदल गया होता। किन्तु इस तरह की योजना वही शासन व्यवस्था बना सकती है जिसके हृदय में जन-कल्याण का उद्वेग हो। विदेशी शासन से हम ऐसी कल्याणकारी योजनाओं की आशा भी कैसे कर सकते हैं।

भारत में किसानों का धंधा अनिश्चय का धंधा है—जुआ खेलने के समान है। सिंचाई के लिए सरकार ने किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं की और इस प्रकार उसने किसान को भगवान भरोसे छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि जमीन पर मेहनत से फसल उग ही आये यह अनिवार्य नहीं था।

राज-करों का बोझ; जमींदारों का अनाचार और कारिंदों की मनमानी ने किसानों की कमर तोड़ दी। इन उत्पातों तथा विपत्तियों से राहत पाने के लिए किसान को कर्ज लेना पड़ता। अब यह कर्ज की समस्या उसकी दूसरी मुसीबत बन कर खड़ी होती है। कोई किसान यदि यह चाहे कि वह भूखों मर जाये लेकिन कर्ज न ले तो भी वह निश्चिन्त नहीं रह सकता। उसे अपना ही कर्ज तो भरना नहीं पड़ता, अपने बाप का कर्ज भी पैत्रिक उत्तराधिकार के रूप में उस पर हावी हो जाता है।[2]

हमारा वह संस्कार भी विचित्र है जो किसान को सुझाता रहता है कि जब तक वह पितरों के कर्जे को पाट नहीं देता वे मर कर भी मुक्त नहीं होते। फिर किसान के ऊपर समाज और धर्म की मर्यादाओं का पहाड़ जो पड़ा हुआ है। अस्तु, उसे न चाहने पर भी कर्जदार बनना ही होगा। सेन्ट्रल बैंकिंग इन्कवारी कमिटी रिपोर्ट के सतहत्तरवें अनुच्छेद से यह विदित होता है कि सन् १९२९ तक आकर ब्रिटिश भारत के किसानों के ऊपर प्रायः नौ सौ करोड़ का ऋण-भार था। जथार तथा बेरी ने इस अनुमान को भी बहुत प्रामाणिक नहीं माना है।[3]

सन् १९२९ में जो भयानक आर्थिक मंदी हुई थी उसने किसानों को और अधिक कर्ज लेने के लिए विवश किया था। प्रीलिमिनरी रिपोर्ट आन एग्रीकल्चरल क्रेडिट–१९३६ की अनुच्छेद संख्या १३ में यह बताया गया है कि सन् १९२९ में कीमतों के गिर जाने के कारण जो हानि हुई थी उसका वस्तुओं के रूप में हिसाब

१. वि० इ० की झ० पृ०।
२. अवर इकानामिक प्राब्लेम—वाडिया और मर्चेन्ट, पृ० २८२
३. भारतीय अर्थशास्त्र–जथार तथा बेरी, पृ०, २८६

लगाने पर किसानों के ऋण-भार का यह ब्यौरा कहीं बढ़ जाता था, प्रायः दूना हो जाता था।

महाजनी सभ्यता के प्रसार ने किसानों को भी विपन्न कर दिया। एक तो गरीबी, दूसरी मजबूरी और तीसरी सूद की दर बेहिसाब।[1] किसान भाग कर जाये भी तो कहां? यह ठीक है कि सरकार ने ऋण की समस्या की जाँच के लिए सन् १८७८ में डेकन एग्रीकल्चरिस्ट्स बिल, सन् १८८२-८३ में तकावी लोन-ऐक्ट, सन् १८८४ में एग्रीकल्चरल बैंक स्कीम, सन् १८९७ में निकालसन कमिटी की स्थापना और सन् १९०३ में कोपरेटिव क्रेडिट सोसायटीज बिल विषयक उद्योग किया था। किन्तु इनसे किसानों का वास्तविक हित-साधन कितना हुआ यह इससे ही स्पष्ट है कि वे दिनानुदिन गरीब होते गये। अपनी ही जमीन कर्ज पाटने के लिए महाजनों को अर्पित कर अपनी उन्हीं जमीनों पर वे मजदूर बनते गये। इस प्रकार देश में एक ओर तो बड़े काश्तकारों की संख्या बढ़ी, दूसरी ओर जमीन की सेवा करने वाला किसान भू-स्वामित्व के अधिकार को खो कर खेतिहर मजदूर होने लगा।[2]

यहाँ हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस देश में लेन-देन का व्यापार चिर-काल से चलता रहा है। लेकिन तब वह मुसीबतें नहीं थीं जो आलोच्यकाल में खड़ी हो गयीं। पहले गाँव का साहूकार ही महाजन हुआ करता था और उस पर ग्राम-सभा का नियन्त्रण था। उस जमाने में 'दाम-दुपट' अथवा 'दख-दूना' का रिवाज प्रचलित था जिसके अनुसार किसी भी अवस्था में ऋण का मूलधन बढ़ कर दूने से अधिक नहीं हो सकता था।[3] इसलिए साहूकार को सूद की मनमानी दर लगाने से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता था। इसके अलावा कर्ज की रकम में किसी किसान की जमीन पर साहूकार दावा भी नहीं कर सकता था। अस्तु, किसान के कर्ज की राशि का बेहिसाब बढ़ना सम्भव नहीं था और न वह अपनी जमीन से बेदखल ही किया जा सकता था।[4] बहुत सारी जमीन किसी एक व्यक्ति के हाथ में आ जाती है तब वह उस पर पूरा ध्यान रख सकने में समर्थ नहीं होता। उसे दूसरों से खेती करानी पड़ती है और चूंकि दूसरों का जमीन के साथ कोई हित नहीं होता इससे कृषि-कर्म बाधित होता है, वाजिब फसल उगायी नहीं जा पाती और इस प्रकार राष्ट्र की हानि होती है। यही कारण है कि इस बुराई की ओर लोगों का ध्यान आगे के जमाने में गया और अंग्रे

---

१. अवर इकोनामिक प्राब्लेम-वाडिया और मर्चेन्ट, पृ० २८२
२. आवर इकानामिक प्राब्लेम वाडिया और मर्चेन्ट, पृ० २८३
३. आवर इकानामिक प्राब्लेम-वाडिया और मर्चेन्ट, पृ० २८३
४. भारतीय अर्थशास्त्र—जथार और बेरी, पृ० २८६

नियम बनाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिससे किसी व्यक्ति को निश्चित सीमा से अधिक भूमि रखने का अधिकार न हो।

कर्ज विषयक जो सुधार कानून आगे जा कर बने उनमें 'दम-दूना' के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया।

पुर्तगालियों और डचों को भारत में तिजारत करते देख कर इंगलैन्ड के कुछ व्यवसायिओं को भी भारत जाकर किस्मत आजमाने का उत्साह हुआ। उनकी प्रार्थना पर उनकी संस्था ईस्ट-इंडिया-कम्पनी को सन् १६०० में रानी एलिजबेथ की ओर से तिजारती सनद की प्राप्ति हुई थी। किन्तु इस कम्पनी को सरकार ने साफ-साफ कह दिया था कि उसे इतने भर की स्वीकृति दी जाती है कि वह ब्रिटिश माल को भारत की मण्डियों में बेचे। किन्तु भारत में बने किसी माल को ब्रिटेन की मण्डी के लिए लाने का उसे सामान्यतः अधिकार नहीं होगा।[1]

सन् १७००-२१ के बीच ब्रिटिश पार्लियामेंट के कई कानून पास हुए जिनका उद्देश्य भारतीय माल के ब्रिटेन के बाजार में प्रवेश के उपनिवेश खड़े हो गये थे। इन उपनिवेशों की उपयोगिता दो कारणों से थी। एक तो इनसे ब्रिटेन को कच्चा माल मिल सकता था और फिर तैयार माल के लिए ये ही मण्डी भी थे।

अमेरिका की स्वतन्त्रता के संग्राम ने ब्रिटेन की इस शोषण-नीति के क्रम के बाधित किया। अफ्रिका, आस्ट्रेलिया को भी ब्रिटेन ने अपनी स्वतंत्र अर्थ-नीति स्थिर करने की अनुमति दे दी।[2] अब उसके पास भारत ही एक ऐसा देश था जिसका आर्थिक शोषण वह परम स्वतन्त्र होकर कर सकता था। श्री वाडिया और मर्चेन्ट ने बताया है कि भारत को १६वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने अपने कच्चा माल का गोदाम बना दिया।[3] इस सम्बन्ध में जो स्थिति थी उसका बड़ा ही मार्मिक चित्र श्री रानाडे ने अपनी पुस्तक 'एसेज इन इंडियन इकानामिक्स' में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—

—"India became in the 19 th century a plantation, growing raw produce to be shipped by British agents in British ships, to be worked into fabrics by British skill and capital, and to be re-exported into India by British merchants to their corresponding British firms in India and else where".[4]

---

१. अवर इकानामिक प्राब्लेम–पृ०, ४१२ पर उल्लिखित लीकी (हिस्ट्री आफ इंगलेंड इन दि एटिन्थ सेन्चुरी) का मत

२. अवर इकानामिक प्राब्लेम—वाडिया और मर्चेन्ट, पृ० ४१३

३. आवर " " " " पृ०, ४१३

४. Essays in Indian Economics—Ranade, Page 106

स्वेज नहर के निर्माण ने किसी देश को अलग-अलग नहीं रहने दिया। भारत का कुटीर उद्योग अब अपने को अधिक दिन जीवित नहीं रख सकता था। पश्चिम में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और जिसके परिणामस्वरूप भारी उद्योग-धन्धे खड़े हुए थे, वे उसके प्राण-लेवा थे।

मुसीबत यह हुई कि देश का कुटीर उद्योग तो नष्ट हुआ ही उसके बदले में भारी उद्योग-धन्धों का विकास भी नहीं हुआ।[1]

अंग्रेजों ने इस देश में यातायात की सुविधा बढ़ाने के लिए रेलों की पटरी बिछाई और उन पर गाड़ियां भी दौड़ायीं। रेल के आने से स्वभावतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि देश के उद्योग-धन्धों का पर्याप्त विकास होगा। किन्तु अंग्रेजों ने रेल-व्यवस्था देश की आर्थिक-दशा के उत्थान के लिए तो की नहीं थी। इतने बड़े देश में अपनी सेना के सिपाहियों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने की परीशानी ही वह मूल कारण थी जिसके चलते भारत में रेल गाड़ियाँ चलीं। हाँ, इस धन्धे से अंग्रेजों का आर्थिक लाभ हुआ। इंगलैन्ड के लोहे और इस्पात के माल की अच्छी खपत इस बहाने हो गयी। इस रेल-व्यवस्था का दूसरा लाभ ब्रिटिश उद्योग को इस अर्थ में हुआ कि अब बड़ी आसानी से और कम व्यय में उनके माल का देश के भिन्न-भिन्न हिस्से से परि-वहन किया जा सकता था। इस प्रकार इस युग में भारत में जो कुछ हुआ उससे अंग्रेजों व्यावसायिक लाभ हुआ, न कि भारत का औद्योगिक विकास।

भारत का यह जो आर्थिक शोषण हुआ वह इस बात से ही प्रमाणित है कि सन् १८१३ तक जो भारत मुख्य रूप से निर्यात करने वाला देश था अब आयात करने लगा।[2]

श्री वेरा ऐन्स्टे ने ब्रिटिश नीति का रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

It was thought inevitabe that India should remain predominantly agricultural, whilst the Government wished to avoid both the active incouragement of industries that competed with powerful English interests and increased state expenditure [3]

इस नीति के अनुरूप ही सरकार ने तकनीकी ज्ञान देने के अतिरिक्त भारत के उद्योग के लिए कुछ नहीं किया।

---

1. our Economic Problem—Wadia and Merchant, Page 413.
2. our Economic Problem—Wadia nnd Merchant, Page 416
3. The Economic Development of India—Vera Anstey, Page 210.

सन् १६०५ में उद्योग और वाणिज्य-विभाग सरकार ने खोला। इससे यह आशा बंधी थी कि सरकार भारत को उद्योग के पथ पर ले चलेगी लेकिन वैसा कुछ हुआ नहीं।

बंग आन्दोलन ने सरकार की नीति की प्रतिक्रिया में स्वदेशी आन्दोलन का जोर बढ़ाया। देश में उद्योग के विकास के लिए जो थोड़ा बहुत हुआ उसका श्रेय बंग आन्दोलन को ही मिलना चाहिए न कि अंग्रेज शासकों को। सन् १६०० में लार्ड मार्ले से किसी प्रकार की उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। ब्रिटेन में एक बड़ा जबर्दस्त आन्दोलन खड़ा हुआ जिसने मांग की कि सरकार को भारत के औद्योगिक विकास में किसी प्रकार की रुचि नहीं लेनी चाहिए।[1]

भारत में इसकी बड़ी प्रतिक्रिया हुई और यह मांग की गयी कि सरकार को भारतीय-उद्योग-धन्धों में रुचि लेनी चाहिये।[2]

प्रथम महायुद्ध के समय भारत के उद्योग-धन्धों को विकसित होने का एक अवसर मिला। युद्ध के पहले जर्मनी और आस्ट्रिया के बने बहुतेरे माल भारत पहुँचते थे और उनके साथ भारतीय उद्योग को प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ती थी। लड़ाई के कारण अब उन देशों से माल आना बन्द हो गया था।[3] इस प्रकार स्वदेशी माल की मांग बढ़ गयी। उधर दूसरी ओर युद्ध-सामग्रियों में इस्पात, पटसन, चमड़े और ऊनी कपड़े ऐसे थे जिनमें भारत की रुचि हो सकती थी और अंग्रेजों को ये चीजें यहीं मिल भी सकती थीं। अब जीवन-मरण के संघर्ष में अंग्रेज लगे हुए थे तो परिस्थितियों के दबाव ने उन्हें विवश किया कि वे भारत य उद्योग-धन्धों के प्रति रुचि लें। किन्तु, भारत के पास वे उपस्कर कहाँ थे जिनकी आवश्यकता भारी उद्योग चलाने के लिए होती है। सन् १६१५ में भारत सरकार ने ब्रिटेन की सरकार के पास एक जोरदार प्रस्ताव भेजा जिसके परिणामस्वरूप अगले वर्ष इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन का गठन किया गया।[4] आपद् कालीन स्थिति के कारण इस कमीशन के प्रतिवेदन की प्राप्ति तक निश्चेष्ट बैठा नहीं रहा जा सकता था। अस्तु, भारत सुरक्षा-नियम के ही अन्तर्गत कुछ कार्रवाइयां

---

1. They protested that the state should not undertake any pioneering of industries; but be fully satisfied with simply inparting industrial education. The Modern Economic History of India —Arokialwari Page, 128.
2. E. D. of Indu—V. A,
3. „ „ Page 215, Page, 218
4. The Economic development of India-Vera Anstey, Page 216

की गयीं। ऐसी कार्रवाइयों में महत्वपूर्ण हैं इंडियन म्युनिसन्स बोर्ड की स्थापना[1] अब स्थिति यह थी कि सरकार भारतीय पूँजीपतियों को राजी-खुशी रख कर अपना संकट टालना चाहती थी। इंडियन म्युनिसन्स-बोर्ड की स्थापना का उद्देश्य सैनिकों के लिए आवश्यक सामग्रियों की प्राप्ति था। भारतीय माल घटिया किस्म के और अधिक महंगे होने पर भी सरकार का संरक्षण पाने लगे।[2]

सन् १९१८ इण्डियन इंडस्ट्रियल कमीशन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इसमें यह कहा गया था कि सरकार को प्रान्तीय तथा केन्द्रीय स्तर पर उद्योग-विभाग का गठन करना चाहिए, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान वितरण करना चाहिए और भारतीय उद्योग-धन्धों को साहाय्य और प्रोत्साहन देना चाहिए।[3] अब तक युद्ध समाप्त हो गया था और सरकार की गरज पूरी हो चुकी थी। अस्तु, सरकार ने उद्योग विभाग तो शासन-तंत्र में गठित कर लिया किन्तु उसके आगे कुछ नहीं किया। इस प्रकार युद्ध काल में भारत के उद्योगीकरण के लिए जो सम्भावना खड़ी हुई थी उसका कोई विशेष लाभ देश न उठा सका। युद्ध के बाद दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों के साथ भारतीय माल का संघर्ष भी बढ़ गया। जो उद्योग युद्ध काल में खड़े हुए थे उनकी अकाल मृत्यु होने लगी।[4] सरकार पर दबाव डालकर सन् १९२१ में फिस्कल कमीशन की नियुक्ति करायी गयी।[5] इस कमीशन से इतना ही लाभ हुआ कि विशेष स्थितियों में इस्पात, कपास, चीनी, कागज और दियासलाई उद्योगों को सरकार का संरक्षण प्राप्त हुआ।[6] सरकार इस विषय में फूंक-फूंक कर कदम रख रही थी। उसके आगे ब्रिटिश-उद्योग की सुरक्षा और सम्वर्द्धन की चिन्ता थी।

अप्रैल सन् १९१९ और मार्च सन् १९२० की कालावधि में भारतीय उद्योग-धंधों को भारी मुनाफा हुआ। अभियंत्रण, चीनी, तेल, चमड़े और टिम्बर उद्योग विशेष रूप से इस काल में फायदे में रहे। किन्तु उद्योगपतियों की अनुभवहीनता और उनके अनियंन्त्रित उत्साह के कारण मुनाफे का रोजगार भयानक रूप से घाटे में पड़ा। स्थिति ऐसी हो गयी कि एक जूट उद्योग को छोड़ कर शेष सभी उद्योग मारे गये।

---

1. The Economic Development of India—Vera Anstey, Page 117
2. ,, ,, ,, ,, ,, Page 218
3. The Modern Economic History of India—Arokialwari, Page 130.
4. Industrialisation Oxford Pamphlets on Indian Affairs, No. 10 Page 6,
5. M. E. H. of Indi—Arokiawari, Page-831
6 ,, ,, Page, 132

सन् १९२२-२३ में यह अनुभव किया गया कि उद्योग के क्षेत्र में कहीं कुछ भूल हो रही है, उसका मार्जन होना चाहिए। फलस्वरूप इस कालावधि में उद्योग के पुन-संगठन का प्रयत्न किया गया।

भारत की अर्थ-व्यवस्था को सरकार की मुद्रा-नीति ने भी बहुत प्रभावित किया। कहना नहीं होगा कि सरकार की मुद्रा नीति ब्रिटेन का लाभ और भारत का शोषण करती थी।

विदेशी सरकार की अर्थ नीति ने भारत का कितना नुकसान किया इसका अन्दाज यदि सपनों में किया जाय तो उल्लेख के लिए संख्या न रहे।

सरकार के विरुद्ध जब सन् १९३२ का असहयोग आन्दोलन खड़ा हुआ तो स्वभावतः उसका प्रहार ब्रिटिश औद्योगिक हितों के प्रति हुआ और उसी ने प्रकारान्तर से स्वदेशी पूँजीपतियों के साथ एक प्रकार का समझौता किया। जिस गृह-उद्योग को अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया उसके विकास का कांग्रेस ने भरपूर प्रयत्न किया। खादी और ग्रामोद्योग संघ ने इस विषय में जो कुछ किया है वह सर्वविदित है। लेकिन भारत जैसे देश की आर्थिक दशा की उन्नति मुख्यतः भारी उद्योगों के विकास पर ही निर्भर रहती है। यही कारण है कि आगे चल कर सन् १९३८ में कांग्रेस ने श्री नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया। आज की हमारी योजनाएँ भारी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दे रही है।

वरदान

सन् १९०५ से लेकर सन् १९१२ की कालावधि के मध्य प्रेमचन्द ने 'जल्वए ईसार' नामक उर्दू के जिस उपन्यास की रचना की उसी का हिन्दी रूपान्तर सन् १९२१ में 'वरदान' नाम से प्रस्तुत हुआ।[1]

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में सन् १९०५ और १९२१ दोनों का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा। मि० ह्यूम के प्रयत्न से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में ही हो चुकी थी। इस संस्था के सूत्रधारों का उद्देश्य भारत की राष्ट्रीय चेतना को उकसाना नहीं था वरन उसे संयमित और नियंत्रित करना था।

१. कलम का सिपाही, अमृत राय, पृ० ६५४।

जागृति की जो लहर दौड़ी आ रही थी उसको कगार देने की आवश्यकता का अनुभव करके ही तो तत्कालीन गवर्नर जेनरल डफरिन ने मि० ह्यूम को कांग्रेस का संगठन करने को कहा था। इस इतिहास के साथ खड़ी होने वाली संस्था अर्जियाँ ही भेज सकती थी और यह काम उसने पूरी निष्ठा के साथ अपने जीवन के आरम्भिक पन्द्रह वर्षों में किया भी। समासतः 'कांग्रेस' की स्थापना के वाद एक ऐसा मंच खड़ा हो गया जहां भारत के शिक्षित जागरूक बुद्धिजीवी तथा श्रीमान् एकत्र होकर देश-दशा का विचार कर सकते थे और यह सुझा सकते थे कि देश-सेवा का एक पवित्र दायित्व है। लेकिन देश-सेवा की दिशा क्या हो, यह कांग्रेस के तत्कालीन सूत्रधारों को विदित नहीं था। कांग्रेस के सदस्य उस समय यह नहीं सोच पाते थे कि 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार' है। देश ने ब्रिटिश शासन को एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर लिया था। उसे यह भी अनुभव नहीं हो रहा था कि अपने देश का शासन उसे ही करना चाहिए। इसलिए अंग्रेज-द्रोह का प्रश्न नहीं था। हाँ, देश की यह आकांक्षा अवश्य थी कि पढ़े-लिखे योग्य भारतीयों को ऊँची सरकारी सेवा के लिए होने वाली प्रतियोगिता में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त हो। स्पष्ट है कि एक शिक्षित भारतीय अपने जीवन की चरितार्थता 'इंडियन सिविल सर्विस' की सदस्यता समझता था। सेवा कार्य के लिए समाज और धर्म के क्षेत्र में विपुल अवसर विद्यमान था। कांग्रेस चाहती तो उन क्षेत्रों में अपनी शक्ति लगाती और देश का उन्नयन करती। लेकिन कठिनाई यह थी कि भारत में न तो एक कोई धर्म था और न एक कोई समाज। इसलिए समाज-सुधार अथवा धर्म-सुधार का नारा लगाना कांग्रेस के लिए कठिन पड़ता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि कांग्रेस देश-सेवा के उद्देश्य से खड़ी तो हो गयी थी किन्तु उसे मालूम नहीं था कि उसे करना क्या है।

सन् १९०५ में लार्ड कर्जन ने तत्कालीन वंगाल-प्रान्त के टुकड़े-टुकड़े करके न केवल वंगाल अपितु भारतवर्ष की राष्ट्र-भावना और उसके राष्ट्रीय अभिमान पर एक प्रवल कशाघात किया। लार्ड कर्जन के इस अविवेकपूर्ण कृत्य ने सारे वंगाल को भड़का दिया और शिक्षित वर्ग की राष्ट्रीय-चेतना को झकझोर दिया। वंग-विभाजन के प्रस्ताव का वंगाल में जिस उग्र रूप में विरोध हुआ उसे देखते हुए लगता है कि सन् १८५७ की क्रान्ति के वाद देश के जागरित पौरुष का वह सिंहनाद था।

युग के चारण प्रेमचन्द की इस औपन्यासिक कृति में इस सिंहनाद का प्रतिफलन कहीं नहीं देखा जाता। इसे देखकर यह स्वाभाविक ही है कि हमें विस्मय हो। किन्तु उसके भी कारण हैं। वंगाल का यह विप्लव एक तात्कालिक स्थानीय कारण से हुआ था। वंग-विप्लव के नेताओं ने वंग जाति और वंग भाषा की अखंडता के नाम पर विद्रोह का शंख फूंका था। अस्तु, उनका यह आन्दोलन अखिल-भारतीय नहीं हो

सका। दूसरी ओर बंगाल के शिक्षित समाज में अपने को शेष भारत से भिन्न मानने की प्रवृत्ति जोरदार ढंग से काम कर रही थी। इस प्रकार बंग-विभाजन के विरुद्ध होनेवाला आन्दोलन प्राय: बंगाल और बंगालियों तक ही सीमित रह गया। भारत के दूसरे भाग इस आन्दोलन के उत्सुक द्रष्टा मात्र ही हो सके। आगे चलकर जब सरकार ने बंग-विभाजन के प्रस्ताव को मंसूख कर दिया तब जैसा कि पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा 'बंगाल की राष्ट्रीयता का पारा बहुत नीचे आ गया।'[1]

प्रेमचन्द के 'जल्वए-ईसार' नामक उपन्यास की एक सीमा और भी थी। इस उपन्यास की रचना जिस भाषा में हुई वह उर्दू भाषा समग्र भारत की राष्ट्रीयता को वाणी दे सकने की स्थिति में बहुत सक्षम नहीं थी। इस प्रकार, यदि प्रेमचन्द के इस उपन्यास में सन् १९०५ की जागृति का चित्र नहीं मिलता तो उसके लिए बहुत दूर तक जिम्मेवार वह बंग-आन्दोलन है जो एकदेशीय रहा और कुछ दूर तक प्रेमचन्द की उर्दू भाषा भी रही। इसीसे अन्ततः प्रेमचन्द के सामने वही राजनैतिक परिवेश रहा जो राष्ट्रीय कांग्रेस के सामने था।

ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारत की जनता के सामने उसका राजनैतिक लक्ष्य उस समय तक स्थिर नहीं हो सका था। लक्ष्य की कल्पना के सुस्थिर न होने पर भी इतना तो समझा ही जा रहा था कि देश-सेवा करना उचित है।

'वरदान' की सुवामा के प्रमाण पर हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने तत्कालीन राष्ट्र-भावना को अपने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है।

सुवामा के कोई सन्तान नहीं है और मातृत्व की उपलब्धि के अभाव का यह दंशन उसे व्यथित भी करता है। अस्तु, वह अष्टभुजा देवी की आराधना करती है और पुत्र का वरदान चाहती है।[2] सुवामा की प्रार्थना यदि अष्टभुजा देवी को स्वीकार हो तो उसकी यह लालसा है कि उसका बेटा इन्द्र का बल लेकर अथवा सरस्वती की विद्या लेकर भले ही उत्पन्न न हो, वह सपूत जरूर हो।[3] इतने से ही वह धन्य हो जायेगी।

स्पष्ट है, प्रेमचन्द चाहते हैं कि भारत माँ की सन्तान चाहे जिस माता के गर्भ से उत्पन्न हो देशोपकारक अवश्य हो। देशोपकारक होने के लिए बल-विक्रम अथवा सरस्वती-साधना की अनिवार्य अपेक्षा है यह भी प्रेमचन्द नहीं मानते। वे तो इतना ही चाहते हैं कि मातृभूमि की पुकार उसके प्रत्येक पुत्र के कर्ण-कुहर तक पहुँच जाय। इस

---

१. विश्व इतिहास की झलक-जवाहर लाल नेहरू

२. वरदान, पृ० ४

३. वही ,,

युग में देश को ऐसे सपूतों की नितान्त आवश्यकता थी। हमें यहाँ यह भी याद आती है कि मि० ह्यूम ने देश के पढ़े-लिखे नागरिकों के नाम अपनी अपील में कुल पचास देशसेवकों की माँग की थी।[1]

वरदान में राष्ट्र-सेवक के रूप में सुवामा के पुत्र प्रतापचन्द्र की अवतारणा होती है। यद्यपि राष्ट्रसेवा विषयक उसका लक्ष्य निर्दिष्ट नहीं है तथापि यह निष्क्रिय नहीं है। शायद वह यह मानता था कि देशसेवा के पुनीत उद्देश्य से प्रेरित होकर निष्ठा-पूर्वक किया गया कोई भी कर्म देश का उपकार ही करता है। इसलिए सेवक को सच्ची निष्ठा से कुछ कार्य करते चलना चाहिए। वह कहता ही है—'यदि आप दृढ़ता से कार्य करते जायेंगे तो अवश्य एक दिन आपको अभीष्ट सिद्धि का स्वर्ण-स्तम्भ दिखायी देगा-तुम्हारी परीक्षाएँ होंगी, लगातार निराशाओं का सामना करना पड़ेगा।—दृढ़ता यदि सफल न भी हो सके तो संसार में अपना नाम छोड़ जाती है।"[2]

प्रतापचन्द्र जानता है कि राह सुगम नहीं है, कठिनाइयाँ हैं जो हर घड़ी परीक्षा लेंगी। लेकिन फिर भी हाथ पर हाथ धरे बैठना नहीं है। देश में करने के लिए इतना कुछ पड़ा हुआ है, काम की क्या कमी है।

प्रतापचन्द्र की राष्ट्र-सेवा समाज-सेवा का रूप ग्रहण करती है। कांग्रेस के आदि नेताओं ने भी राष्ट्र-सेवा और समाज-सेवा को एक दूसरे का पर्याय ही समझा था। कांग्रेस की स्थापना के पहले जिन नेताओं ने जागरण का शङ्ख फूँका था वे प्रायः सभी समाज-सेवक भी हुए।

'वरदान' में एक हिन्दुस्तानी डिपुटी कलक्टर श्यामाचरण की भी अवतारणा हुई है। उस जमाने में एक शिक्षित भारतीय जिस उच्चतम पद का सपना सँजो सकता था, वह पद श्यामाचरण को प्राप्त था। लेकिन उसका अनुभव हुआ कि उसकी ऊँची कुर्सी व्यर्थ है। यह इसलिए कि वह भारतीय है और भारत अंग्रेजों का गुलाम है फिर गुलाम की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। वर्ण-उच्चता और शासक होने का मद ऊँचे अंग्रेज अधिकारियों पर इस कदर चढ़ा हुआ था कि श्यामाचरण जैसे हिन्दुस्तानी अफ-सरों को उनके यहाँ घन्टों बैठना पड़ता था। तब कहीं जाकर साहब के दर्शन होते थे। अंग्रेज अधिकारी हिन्दुस्तानी अफसरों से सीधे मुंह बात भी नहीं करते थे।

अपने आहत अभिमान के उद्वेग के ही कारण श्यामाचरण ने अंग्रेज अधिका-रियों के यहां आना-जाना छोड़ दिया और फिर उसने नौकरी भी छोड़ दी।

श्यामाचरण की यह कथा यह सूचना देती है कि भारतीय अधिकारियों के हृदय

---

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग १

२. वरदान, पृ० १३० ।

में अपने अंग्रेज अफसरों के प्रति धीरे-धीरे विरोध का भाव पैदा हो रहा था और अपनी इस हीनता की स्थिति का वे अन्त चाहते थे। यही कारण है कि देश की राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस बात की मांग की कि शासन के उच्चत्तम पदों पर भारतीयों को भी योग्यतानुसार प्रतिष्ठित किया जाय, उनका भारतीय होना तदर्थ बाधक न हो।

प्रश्न है, डिपुटी श्यामाचरण ने पद-त्याग क्यों किया? क्या श्यामाचरण पर बंग-आन्दोलन का प्रभाव पड़ा था और उसने यह अनुभव किया कि अंग्रेजों की नौकरी करना अपने देश में उनका पंजा मजबूत करना है? अथवा वह गांधी जी के सन् १६२०-२१ वाले असहयोग आन्दोलन से प्रभावित था? यह सत्य है कि 'वरदान' का हिन्दी रूप सन् १६२१ में प्रस्तुत हुआ। किन्तु, प्रेमचन्द ने १६०५-२१ में लिखित 'जलवए-ईसार, को ही वरदान के रूप में उस वर्ष प्रस्तुत किया था, उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन भी किया, ऐसा संकेत नहीं मिलता। अस्तु, १६२१ का युग-सत्य 'वरदान' में प्रतिफलित नहीं हो पाया।

प्रेमचन्द की अनुभूति बड़ी गहन थी। यद्यपि १६०५ के बंग-आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने जो दमन-चक्र चलाया था उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्रेमचन्द को नहीं हुआ था तथापि उन्होंने तद्विषयक सूचनाएं तो पायी ही होंगी और उन्हें यह विदित हुआ ही होगा कि ब्रिटिश राज्य भारत में दारोगा और पुलिस के बल पर चलता था। पुलिस को इसी से तो सरकार ने तरह दे रखा था और वह अपने ही देशवासियों का दमन कर रही थी। पुलिस का थानेदार एक ऐसा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इसलिए तो समझा जाता है कि वह नये-नये अभियोग बनाने और उनके समर्थन के लिए अपेक्षित प्रमाण गढ़ने में कुशल होता था।[1]

विदेशी शासन को भारत के लोगों को अपने पैरों के नीचे रखने में पुलिस की सहायता की अपेक्षा थी ही।

प्रेमचन्द के सामने पुलिस के आतंक की यह समस्या बराबर विद्यमान रही। आगे चलकर 'गबन' में पुलिस का यह रूप अत्यन्त मुखर होता है।

---

१. वरदान—पृ० ८३।

सेवासदन

'सेवासदन' प्रमुखतः एक सामाजिक उपन्यास है। किन्तु इस उपन्यास में देश की तत्कालीन राजनीति का भी थोड़ा-बहुत चित्रण हुआ है। वकील पद्म सिंह नगर से वेश्याओं को बाहर हटाने के लिए प्रयत्नशील हैं। लेकिन म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों में कुछ ऐसे भी लोग थे जिनकी ओर से विरोध होने का भय था।[1] म्युनिसिपैलिटी में कुल १८ सभासद थे जिनमें १० हिन्दू और ८ मुसलमान थे। मुसलमानों के नेता हाजी साहब और उनके साथी पद्मसिंह की इस अच्छी योजना का भी इसलिए विरोध करते हैं कि नगर से वेश्याओं के हट जाने पर नगर की मुसलमान आबादी में कमी हो जायेगी। यह इसलिए कि वेश्याओं में ६० फी सदी मुसलमान हैं।[2] ये नेता वेश्याओं को समाज के लिए हानिकर नहीं समझते हों, यह बात नहीं है। लेकिन उनकी फिक्र सिर्फ संख्या लेकर है।[3]

'सेवासदन' की रचना के समय आगा खां के नेतृत्व में मुसलमानों ने अपने को हिन्दुओं से भिन्न एक स्वतन्त्र राष्ट्र मान कर स्वायत्त संस्थायों में अपनी संख्या के अनुपात से जो सदस्य संख्या सुरक्षित कराना चाहा था 'सेवासदन' के लेखक के ध्यान में वही बैठा हुआ था।

उचित तो यह था कि एक सामाजिक कुप्रथा के सुधार के लिए होने वाले प्रयत्न को हिन्दू-मुस्लिम-राजनीति का प्रश्न नहीं बनाया जाता। किन्तु आगा खां और अलीगढ़ आन्दोलन ने मुसलमानों के हृदय में भिन्नता का जो संस्कार पैदा किया उसकी अभिव्यक्ति तो होनी ही थी।

इस उपन्यास में डाक्टर श्यामाचरण के रूप में एक नरमपंथी राजनीतिक नेता को उपस्थित किया गया है। यह सूबे की सलाहकार सभा का सभासद भी है।[4] जब इसके समक्ष पद्मसिंह का वेश्या सम्बन्धी प्रस्ताव आता है तब वह सलाहकार सभा के सामने प्रश्नोतरी भेजने में ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है।[5]

इन नरमपंथी नेताओं से देश का कुछ भी लाभ नहीं हो रहा था। 'सेवासदन'

---

१. सेवासदन – पृ० १६३
२. वही १६४
३. वही १६५
४. वही पृ० १०३।
५. वही पृ० १०४।

के विट्ठल दास को भी डा० श्यामाचरण से घोर निराशा हुई। उसके मन में तो डा० साहब को आड़े हाथों लेने का विचार भी हो आया।[1]

स्पष्ट है कि 'सेवासदन' के रचना-काल तक नरम-पंथी राजनीति लचर सिद्ध हो चुकी थी।

प्रेमाश्रम

'प्रेमाश्रम' की रचना प्रेमचन्द ने सन् १६१८ से लेकर १६२१ के मध्य की थी। यह वह काल है जब भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया आयाम ग्रहण कर रहा था। मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने प्रवासी भारतीयों की ओर से दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के अन्याय का विरोध कर यह दिखा दिया था कि सक्रिय प्रतिरोध की शक्ति कितनी प्रबल होती है। भारत वापस आने पर चम्पारण (बिहार) में उनको अपने उस अस्त्र को अमोघ सिद्ध करने का एक और अवसर उस समय प्राप्त हुआ जब निलहे कोठीवाल साहबों के अत्याचार और शोषण से प्रपीड़ित चम्पारण के किसानों ने सब ओर से निराश होकर उनको अपने त्राता के रूप में पुकारा। सन् १६१७ और उसके आगे गांधी जी ने चम्पारण में जो कुछ किया उसका इतिहास सर्वविदित है। चम्पारण-आन्दोलन ने कांग्रेस के नेताओं को रुक कर यह सोचने को प्रेरित किया कि राष्ट्रीय आन्दोलन के लक्ष्य और उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के विषय में अब तक जो उन्होंने सोचा है—क्या वह सही है। कहना नहीं होगा कि इसी आन्दोलन के साथ गांधी जी का कांग्रेस की राजनीति में भी प्रवेश हुआ। जिस समय देश के बड़े-बड़े नेता प्रस्तावों और निवेदनों के बल पर स्वतन्त्र होने का रंगीन सपना सँजो रहे थे उस समय चम्पारण के अंग्रेज कोठीवाल साहबों के अमानुषिक अत्याचार से वहां के किसानों की रक्षा के लिए गांधी जी का कूद पड़ना सचमुच राजनैतिक आन्दोलन के इतिहास का एक सर्वथा नवीन अध्याय था।

फिर अगले वर्ष अर्थात् सन् १६१८ में गुजरात के खेड़ा नामक स्थान में चंपारण के किसान-आन्दोलन जैसा ही एक और आन्दोलन खड़ा हुआ। खेड़ा का यह आन्दोलन लगानबन्दी का आन्दोलन था। वहाँ के किसानों के पास अकाल के कारण लगान की रकम सरकार को दे सकने की शक्ति नहीं रह गयी थी। लेकिन सरकार को नय-

१. सेवासदन—पृ० १०४

लगान चाहिए ही था। खेड़ा के विवश किसानों की प्रार्थना की कहीं जब कोई सुनाई नहीं हुई तब गांधी जी ने वहाँ एक नये युग का श्रीगणेश किया।[1] उन्होंने किसानों को सरकार की हठधर्मिता के विरोध में सत्याग्रह करने की सम्मति दी और तदर्थ स्वयं-सेवक इकट्ठे किये। इन स्वयं-सेवक सत्याग्रहियों के सरदार हुए—वल्लभ भाई पटेल। खेड़ा के इस सत्याग्रह ने किसानों को यह सुझाया कि वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचार का प्रतिरोध भी कर सकते हैं, लगान का विरोध भी कर सकते हैं, सरकार को अपनी दशा सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिऐ बाध्य भी कर सकते हैं। गांधी जी ने वहां के किसानों को इतना सक्रिय बनाया कि वे अपने स्वत्व अर्थात् अपनी जमीन पर उगायी फसल की सरकारी जब्ती की अवमानना करते हुए काटकर घर लाने लगे।[2] सरकार की ओर से गिरफ्तारियाँ भी हुईं। लेकिन किसान जेल से डरे नहीं और इस प्रकार सर्वत्र एक नए उत्साह, नयी आशा की किरणें विकीर्ण हो गयीं।[3]

किसानों की समस्याओं को लेकर चलने वाले इन दो आन्दोलनों ने समग्र देश का ध्यान किसानों की समस्या, उनकी विपन्नता तथा असहायता की ओर आकृष्ट किया। इनका महत्व इस बात को लेकर है कि देश के नेताओं को पहली बार यह सूझ पड़ा कि राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन को चाहिए कि वह अपने संघर्ष के आयाम का विस्तार करे और यह अनुभव करे कि भारत किसानों का देश है और इसलिए भारत में वह स्वराज्य भी व्यर्थ होगा जो किसानों को सुराज न दे सके।[4]

हम यह तो नहीं कह सकेंगे कि चम्पारण और खेड़ा के आन्दोलनों से किसानों की सारी मुसीबतों का अन्त हो गया, उनकी समस्याओं का हल निकल आया। लेकिन यह तो सत्य ही है कि इनके कारण सारे देश का ध्यान किसानों की ओर खिंच आया। इन आन्दोलनों ने देश को नयी शक्ति का भी ज्ञान कराया। इन्होंने ही मुक्ति आन्दोलन को दो नयी शानदार तलवारें भी दीं। बिहार के चम्पारण सत्याग्रह ने स्वातन्त्र्य-समर के उस अमर सेनानी डा० राजेन्द्र प्रसाद को कर्म-पथ की ओर प्रेरित किया जिसने स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति-पद को गौरवान्वित करके गांधी जी की उस

---

१. कांग्रेस का इतिहास, पृ० १६६-६७
२. कांग्रेस का इतिहास पृ०, १६६
३. वही " पृ०, १६६-६७
४. स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक्त अब नहीं क्योंकि आने वाला जमाना अब जनता का है। और वह लोग पछताएंगे जो जनता के साथ कदम से कदम मिला कर न चलेंगे।—जमाना, फरवरी, १६१८ विविध प्रसंग—अमृत राय, पृ० २६८ पर उल्लिखित।

भविष्यवाणी को सिद्ध किया कि स्वतन्त्र भारत का पहला राष्ट्रपति किसान का ही बेटा होगा। इधर खेड़ा के आन्दोलन ने भारत के लौहपुरुष बारदोली के सरदार बल्लभ भाई पटेल को राष्ट्र सेवा के लिए अर्पित किया।

इन उपरिलिखित घटनाओं ने तत्कालीन जनमानस को जो विस्तार-फलक दिया प्रेमाश्रम में उसी की प्रस्तुति हुई है। प्रेमचन्द गरीब थे और इसलिए अन्तर से किसान थे। भारतीय कृषक वर्ग के प्रति उनकी सहज-स्वाभाविक सहानुभूति थी। प्रेमचन्द ने अनुभव किया था कि देश का यह वर्ग भिन्न स्वार्थों के संघर्ष का शिकार हो गया है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने पोषण और रक्षण के निमित्त जमींदारों का एक ऐसा वर्ग खड़ा कर लिया था जिसके द्वारा वह भारत को बहुसंख्यक जनता को कब्जे में रख सकता था। इस जमींदार वर्ग से उसका अपना हित-साधन होता था, बिना मिहनत और खर्च उठाये भूमिकर की सुनिश्चित राशि सरकारी खजाने में निश्चित तिथि पर पहुँच जाती थी। ये जमींदार कर उगाहते थे, वैसे सारे काम करते थे जिनके कारण शासन लोकप्रियता से वंचित होता है, बदनाम होता है और शासित वर्ग का विरोध झेलता है। ब्रिटिश कूट-नीति ने इस देश को इस प्रकार परस्पर सघर्ष की आग में झोंक दिया था। इस व्यवस्था से उसकी शोषण नीति तो सिद्ध होती ही थी, जनता से उसका प्रत्यक्ष संघर्ष भी नहीं होता था। जमींदारों को सरकार ने जो कठिन धन्धा दे रखा था उनका स्मरण कर वह उनके हितों की संरक्षा किया करती थी और उनको तरह-तरह से तरह भी दिये हुए थी। इधर किसान पिस रहे थे और उनकी दुःख गाथा सुनने वाला भी कोई नहीं था।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में किसान वर्ग की नानाविध समस्याओं को उभाड़ कर प्रस्तुत किया है। इसी उपन्यास में पहली बार उनकी समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। प्रेमचन्द का उद्देश्य समग्र रूप से भारत के कृषक वर्ग की समस्याओं को मुखरित करना था। इसी से इस उपन्यास में किसी विशिष्ट व्यक्ति को नायक रूप में उपस्थित नहीं करके उन्होंने सारे गाँव को ही उपन्यास का नायक बना दिया है। इसी कारण 'प्रेमाश्रम' हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक नयी दिशा का सूचक हो जाता है। कहना नहीं होगा कि प्रेमचन्द को गांवों की ओर जाने की, किसानो की समस्या को चित्रित करने की प्रेरणा चम्पारण और खेड़ा आन्दोलन के उस संदेश से प्राप्त हुई जिसमें बताया गया था कि देश के कल्याण के निमित्त छेड़े जाने वाले आन्दोलनों का केन्द्र गाँव को ही होना होगा। महात्माजी की प्रेरणा पर देश.. डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा सरदार पटेल जैसे वकील नेताओं ने अपनी चलती हुई वकालत पर लात मारी जो उनके घर में सोना बरसाती थी अथवा जिसमें यह थी कि उन्हें हाईकोर्ट के न्यायाधीश के उच्च पद पर प्रतिष्ठित ..दे

के 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर अमेरिका से वापस लौटकर ऊँची सरकारी कुर्सी के आकर्षण के प्रति पूर्ण निरपेक्षता बरतते हुए देश के किसानों के जीवन की साधारणता को अंगीकार कर लेता है और किसान बन जाता है। यदि वह चाहता तो अपने भाई ज्ञानशंकर से जमींदारी के अपने स्वत्व का भाग ले सकता था। लेकिन उसने त्याग, तपस्या और सेवा का जो पथ ग्रहण किया है उसके परिप्रेक्ष्य में जमींदारी का अधिकार नितान्त उपेक्षणीय है।

'प्रेमाश्रम' में जिस लखनपुर गाँव के किसानों की कथा आयी है उनपर जमींदार और सरकार के वैसे ही अत्याचार हो रहे हैं जैसे चम्पारण अथवा खेड़ा के किसानों पर हो रहे थे और जिनके विरुद्ध उन स्थानों में संघर्ष किया गया था। इससे हमें सहज ही यह सोचने का अवसर मिलता है कि जैसे चम्पारण और खेड़ा में हमारे राष्ट्र नेताओं ने सक्रिय प्रतिरोध आन्दोलन चलाया था वैसे ही प्रेमशंकर लखनपुर के किसानों के बीच बैठकर उन्हें अन्याय का विरोध करना सिखायेगा, उनको अपने स्वत्व पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देगा और जमींदार तथा सरकार का विरोध झेल लेगा। लेकिन प्रेमशंकर ऐसा कुछ नहीं करता। वह उस मानी में बहुत सक्रिय नहीं होता। प्रश्न है, ऐसा निष्क्रिय वह क्यों है।

हमें ऐसा दीखता है कि प्रेमचन्द के ध्यान में प्रश्न की तात्कालिकता नहीं है। वे प्रश्न की गहराई में बैठना चाहते थे और किसान-समस्या के विविध पहलुओं को प्रत्यक्ष करके उनका समाधान खोज रहे थे। चम्पारण और खेड़ा के किसान-आन्दोलन के पीछे एक निश्चित समस्या थी जिसका समाधान भी प्राप्त हुआ। लेकिन उस समाधान के बाद भी किसानों की विपन्नता तो नहीं मिटी, उनकी दशा का सुधार तो नहीं हुआ। प्रेमचन्द इसलिए 'प्रेमाश्रम' में उन मुख्य कारणों को ही प्रत्यक्ष करते हैं जिनके परिणाम-स्वरूप किसान मिट रहे हैं, बर्बाद हो रहे हैं।

अब हम 'प्रेमाश्रम' के प्रमाण पर कृषक-वर्ग की कठिनाइयों का अनुभव करें। ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारत के किसानों का शोषण अकेले न तो जमींदार करता था और न सरकार करती थी। प्रेमचन्द ने अनुभव किया कि इस देश के मुट्ठी भर अंग्रेज शासकों ने शोषकों की एक विशाल फौज खड़ी कर ली है और उनके निहित स्वार्थ की तलवार किसानों की गर्दन पर सीधे पड़ी हुई है। एडवर्ड माल्कॉम ने बताया ही है कि ब्रिटिश शासन काल में कभी चालीस हजार से अधिक की संख्या में अंग्रेज भारतवर्ष में नहीं रहे।[1] स्पष्ट है ऐसी स्थिति में भारतीय जनता का शोषण इतनी नगण्य संख्या वाले अंग्रेज चाहकर भी अकेले नहीं कर सकते थे। यह भी स्पष्ट है कि भारतीय ही अपने स्वदेश-बन्धुओं का शोषण कर रहे थे। प्रश्न है—यह शोषक समाज

१. दि लास्ट ईयर्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया—एडवर्ड माल्कॉम, पृ० ५०।

कौन है ? उत्तर सीधा है—नौकर शाही । इसी नौकरशाही के नानाविध शोषण का इतिवृत्त 'प्रेमाश्रम' में सुरक्षित है । प्रेमचन्द लिखते हैं—'कार्तिक का आरम्भ होते ही एक अन्य प्रकार के जन्तु देहातों में निकल पड़ते हैं और अपने खेमों तथा छोलदारियों से समस्त ग्राम मंडल को उज्ज्वल कर देते हैं । वर्षा के प्रारम्भ में राजसिक कीट और पतंग का उद्भव होता है, उसके अन्त में तामसिक कीट और पतंग का ।[1]

प्रेमचन्द ने जिन तामसिक कीट-पतंगों का ऊपर उल्लेख किया है वे हैं सरकारी मुलाजिम जो नियुक्त तो हैं जनता की सेवा और भलाई के निमित्त लेकिन वे फसल के समय जोंक बनकर किसान का खून चूसने देहातों में पहुँच जाते हैं । प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द ने इसी नौकरशाही के अनाचार-अत्याचार की पृष्ठभूमि में किसान वर्ग की मुसीबतों का विवरण प्रस्तुत किया है । कहना नहीं होगा कि यही वह नौकरशाही है जिसके बल पर भारत में ब्रिटिश शासन टिका हुआ था ।

'प्रेमाश्रम' के लखनपुर गांव में हाकिम का दौरा होने वाला है । प्रेमचन्द के शब्दों में दौरा करने वाला हाकिम-कीट कोई अंग्रेज साहब बहादुर नहीं है, ज्वालासिंह नामक हिन्दुस्तानी डिप्टी है । यह हाकिम अपने लाव-लश्कर के साथ देहात के मुकदमों की तहकीकात करने आया है । गरीबों को घर बैठे न्यायसुलभ करने आया है । लेकिन गाँव वालों को पूरा पता है कि ज्वालासिंह जैसे सरकारी हाकिमों के हाथों न्याय पाना कितना महँगा पड़ता है । 'प्रेमाश्रम' का कादिर कहता ही है—'हाकिमों का दौरा क्या है, हमारी मौत है ।'[2] गांव के दूसरे किसान मनोहर का कहना है कि दौरे के लिए आने वाले हाकिम बड़ा अन्धेर मचाते हैं । इन्तजाम करने, इन्साफ करने के लिए आने वाले ये हाकिम किसानों के गले पर ही छुरी चलाते हैं ।[3] हाकिमों के जुल्म की यह कहानी आकस्मिक घटना नहीं है । हर साल ऐसा ही होता है । पिछले ही वर्ष डिपटी सिंह को पूरे तीन सौ की चपत पड़ी थी ।[4] इसी से तो मनोहर कहता है—'इससे तो कहीं अच्छा यह था कि दौरे बन्द हो जाते ।'[5] इन दौरों के न होने से गाँव के लोगों को मुकदमे के लिए शहर दौड़ना पड़ता लेकिन वह भी बुरा कहीं होता । जो मुकदमा लड़ना चाहे, वह चाहे जैसे भुगतान दे । यहां तो उनकी भी जान सांसत में है जो मुकदमे के पास फटकना भी नहीं चाहते । प्रेमचन्द के कहने का आशय यह है कि दौरों से लाभ

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० ५२-५३
१. प्रेमाश्रम पृ० ५४
२. वही ,, ,,
३. वही ,, ,,
४. वही ,, ,,

कुछ होता नहीं, उल्टे किसानों पर बोझ पड़ता है। हाकिम एक है तो उसके अमले हजार-हजार। इनके शोषण से कृषक वर्ग बेहाल है। ब्रिटिश-शासन का अत्यन्त कुरूप पक्ष यह था कि देश का अधिपति रहता था सात समुद्र पार। इससे प्रजा के दुःख-दर्द उस तक पहुँच नहीं पाते थे। इधर राज्य चलाते थे सरकारी मुलाजिम जो जनता का शोषण करने के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हो गये थे, उन पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था। प्रेमचन्द इशारा करते हैं कि भारतीय किसानों की इस परवशता, विवशता की ओर ध्यान देना ही होगा।

लखनपुर में ज्वालासिंह न्याय करने आया है। लेकिन प्रजा को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह न्यायकर्ता तक पहुँच भी सके। नीचे के अधिकारी इस विषय में ऐसी मोर्चेबन्दी कर लेते हैं कि किसी का उनकी मर्जी के विरुद्ध हाकिम के पास पहुँचना असम्भव व्यापार जैसा है। फिर, युगों की परतंत्रता और शोषण की परम्परा ने किसानों के स्वाभिमान को इस प्रकार कुण्ठित कर रखा है कि अपने न्यायोचित अधिकार के प्रति सजगता भी उनमें नहीं रह गयी है, अपनी पीड़ा की कहानी को जबान पर ले आने का आत्मबल भी उनके पास नहीं रह गया है। प्रेमचन्द की दृष्टि में यह स्थिति असह्य है। शासक और शासित वर्गों का यह सम्बन्ध ऐसा है जिसका समर्थन किसी न्याय के प्रमाण पर नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में राष्ट्रकर्मियों का यह दायित्व हो ही जाता है कि किसानों के बीच आत्म-विश्वास पैदा करावें, उनको समझावें कि अन्याय का प्रतिरोध करना उनका सहज धर्म है।

'प्रेमाश्रम' में बलराज के रूप में एक ऐसे ही चरित्र की अवतारणा प्रेमचन्द की है जो दुनिया का हाल जानने लगा है। उसे अपनी और अपने ग्राम-वासियों की बेबसी का रंज है। उससे मुलाजिमों का अन्याय देखा नहीं जाता। किसी जबरे को किसी गरीब का गला दबाते देखकर उसके शरीर में आग लग जाती है।[1] इसी से वह डिप्टी साहब के पास पहुँच कर कुछ कह सुनाने की हिम्मत करता है। एक साधारण भारतीय किसान को ऐसे अवसर पर जैसा भयमिश्रित संकोच हुआ करता है वैसा ही इस प्रबुद्ध किसान बलराज को भी होता है। लेकिन जैसे-तैसे वह हाकिम के पास पहुँच ही जाता है। हाकिम उसकी बातें ध्यान से सुनता भी है। किन्तु, हाकिम कर भी क्या सकता है? अन्याय और शोषण के यंत्र के परिचालन और नियन्त्रण करने की क्षमता उसमें थोड़े ही है। वह तो उसका एक पुर्जा मात्र है जिसके लिये कुछ होने को नहीं है। इसी से तो बलराज को यह अनुभव हुआ कि अभागों का सहायक परमात्मा के सिवा और कोई नहीं।[2]

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ६४
२. वही पृ० ६३

हाकिम के पास जाकर बलराज के कुछ कहने-सुनने का अंजाम इधर यह होता है कि वह जमींदार के कारिन्दे गौस खां की नजर पर चढ़ जाता है।[1] जमींदार का कारिन्दा सरकार के अमलों के साथ किसी भी क्षण मिलीभगत कर सकने की स्थिति में है—ऐसा बताकर प्रेमचन्द यही कहना चाहते हैं कि किसानों का शोषण करने वाले जमींदारों को अनायास ही सरकारी शासन-तन्त्र की सहायता सुलभ हो जाती थी।

गाँव के भोले-भाले किसान दीन-दुनिया की खबर नहीं रखते, कानून का अधिकार नहीं जानते। उनके अपने बीच एका नहीं है, वह संघ बल नहीं है कि वे अन्याय का प्रतिकार कर सकें। अस्तु, वे बड़ी आसानी से जमींदार और सरकार के मुलाजिमों के द्वारा बिछाये हुए जाल में फँस जाते हैं। उनके विरुद्ध जो शोषण की शक्तियाँ खड़ी हैं उनके हजार हाथ हैं जिनसे किसानों का बच जाना प्रायः असम्भव है।

लेकिन युग नयी अंगड़ाई ले रहा है। पीड़ितों की पुकार भी कभी तीखी तलवार बनती है—रूस की क्रान्ति ने इसे प्रमाणित कर दिया है। बलराज इस नयी चेतना को थोड़ा बहुत जानने-पहचानने लगा है। वह कहता है—मेरे पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है कि इस देश में कास्तकारों का राज है। वह जो चाहते हैं, करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।[2] स्पष्ट है, किसानों में अब यह विश्वास उत्पन्न हो रहा है कि वे चाहें तो अपनी दशा का सुधार कर सकते हैं। उनकी जो दशा है उसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण 'प्रेमाश्रम' में उपस्थित किया गया है।

गाँव में सुक्खू चौधरी को छोड़ कर और किसी के घर दोनों बेला चूल्हा नहीं जलता। किसी को एक जून चबेना मिलता है, कोई चुटकी भर सत्तू फाँक कर रह जाता है।[3] ऐसी ही गरीबी तो क्रान्ति का आह्वान करती है। प्रेमचन्द यह देख रहे हैं कि भारत में भी क्रान्ति की भूमिका तैयार खड़ी है। भारत के किसानों में भी जाग्रति आ रही है। बलराज जैसे नये विचारों से प्रभावित किसान अब अन्याय को चुपचाप सहते रहने के लिए तैयार नहीं हैं। बलराज रुष्ट होकर कहता ही है—जमींदार कोई बादशाह नहीं है कि चाहे जितनी जबर्दस्ती करे, हम मुँह न खोलें।[4] शोषकों के समाज

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ६०-६१
२. " ५१-५२
३ वही पृ० ५१
४. वही पृ० ५०

ने अपनी अनीति पर कभी शर्म नहीं किया, कभी उनको आत्मा ने शायद उनको धिक्कारा भी नहीं। लेकिन अब तो किसान जाग रहे हैं। वे उनके सामने अन्याय का विरोध करने के लिए खड़े होंगे, उनसे अनुनय-विनय की भाषा में कहेंगे कि उनको अपना रास्ता बदल देना चाहिए। यदि शोषकों पर इस अनुनय-विनय का कोई प्रभाव नहीं होगा तो वे भी चुप बैठे नहीं रहेंगे। बलराज कहता है—कचहरी दरबार में कहीं सुनाई नहीं होगी तो उसकी लाठी उसकी सहायता करेगी।[1] स्पष्ट है, भारत के किसान इस नये युग में अपने अन्याय की कथा की परिसमाप्ति के निमित्त शक्ति प्रयोग करने में भी पीछे नहीं रहेंगे। प्रेमचन्द इसी तूफान की ओर इंगित करके जमींदारों को प्रेरित करते हैं कि वे समय के लिपि-चिह्न को पहचान लें। किन्तु, ज्ञानशंकर जैसे जमींदार को युग-चेतना की कोई चिन्ता नहीं है। उसे ब्रिटिश सिंह का भरोसा जो है।

इसी से उसका किसानों के साथ संघर्ष होता है। बलराज गैरमजरूआ जमीन पर मवेशी चराना अपना अधिकार समझता है। इधर जमींदार गैरमजरूआ आम को गैरमजरूआ खास बनाना चाहता है। इसी संघर्ष में बलराज की मां का अपमान गौस खां के हाथों होता है और बलराज तथा मनोहर के हाथों गौस खां की हत्या होती है।[2]

अपने कारिन्दे की इस हत्या से ज्ञानशंकर क्रोधोन्मत्त हो जाता है। उसे लगता है, उसके असामी सिर उठा रहे हैं और यह बड़े खतरे की बात है। वह गौस खां की हत्या से उतना चिन्तित नहीं है जितना किसानों के बीच जाग्रति के आने से है।[3] यदि यह बात नहीं रहती तो उसको पुलिस के आगे गौस खां के हत्यारे मनोहर के आत्म-समर्पण से सन्तोष होना चाहिए था। हत्यारा जब हत्या कबूल कर चुका है तब कानून अपने रास्ते चलेगा ही। लेकिन इससे ज्ञानशंकर का खतरा तो दूर नहीं होता। इसीसे वह सरकार की पुलिस की सहायता से सारी विरोधी शक्तियों को ही कुचल देने का निश्चय करता है। ज्ञानशंकर के सहायतार्थ पुलिस बिसेसर को मुखबिर बनाकर सारे गांव को सर करने आ जाती है। सारे लखनपुर गांव को ही एक तरह से हिरासत में ले लिया जाता है।[2] जमींदार का दबदबा ऐसा है कि कचहरी में किसानों पर जब मुकदमा चलता है, उनकी पैरवी करने के लिये वकील नहीं मिलता। वकीलों की संख्या इसी तो इसलिए गयी है कि न्यायाधिकरण के समक्ष मामलों का दूसरा पहलू भी उपस्थित

१. प्रेमाश्रम—पृ० ५०
२. वही पृ० १६८
३. वही पृ० २०६
४. वही पृ० २०७

हो सके। लेकिन मुसीबत यह है कि इर्फान अली जैसा व्यक्ति भी किसानों की ओर से उनकी निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए खड़ा नहीं हो पाता। ज़मींदार ज्ञानशंकर उसे पैसे देकर खरीद लेता है।[1] डाक्टर प्रियनाथ चोपड़ा यह खूब ठीक से समझता है कि पुलिस ने किसानों के विरुद्ध झूठे मुकदमे का जाल खड़ा किया है। न्याय की माँग है कि उसको सत्य का पक्ष लेना चाहिए। लेकिन वह करे भी तो क्या? एकाधिक बार वह कचहरी में सच्ची गवाही देकर फजीहती में पड़ चुका है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अंग्रेजी अमलदारी में किसानों को न्याय नहीं मिल सकता, कानून का संरक्षण नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में किसान सब तरह से निरुपाय हैं। लेकिन न्याय विधान के इस खोखलेपन और किसान वर्ग की निरीह विवशता का चित्र स्पष्ट कर ही प्रेमचन्द अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर लेते।

उनके आगे प्रश्न है कि किसानों की समस्याओं का समाधान कैसे किया जाय। उनके बलराज के पास लाठी की ताकत तो है। लेकिन प्रेमचन्द को भी हम यह मानते हुए नहीं देखते कि किसान वर्ग की नानाविध समस्याओं का समाधान इसी क्रान्ति जैसी किसी हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा संभव है। गांधी जी ने हिंसा के स्थान पर अहिंसा को प्रतिष्ठित करके एक नये ही इतिहास का समारंभ किया था।

महात्मा जी का जो प्रभाव तत्कालीन युग पर पड़ रहा था उसने प्रेमचन्द के हृदय में भी नवीन आशा और आस्था का संचार किया। इसी से प्रेमचन्द ने एक ओर डा० प्रियनाथ चोपड़ा, इर्फान अली और उनके साथ ही मुखबिर बिसेसर का हृदय-परिवर्तन कराया है और उसके कारण सत्य की विजय होती है और परिणामतः लखन-पुर के किसान अपील में मुकदमा जीतते हैं।

दूसरी ओर वे यह भी विश्वास रखते दीखते हैं कि जमींदारों से भी सर्वथा निराश होने की जरूरत नहीं है। उनकी आशा है कि जमींदारों का भी हृदय-परिवर्तन होगा और वे अपना इतिहास बदल देंगे। प्रेमचन्द का यही आशावाद मायाशंकर के रूप में जमींदारों की नयी परम्परा की कल्पना कर जाता है।

किसानों के स्वत्व के विषय में प्रेमचन्द की निश्चित धारणा है जिसे उन्होंने जमींदार मायाशंकर के मुँह से कहलाया है। मायाशंकर अपनी जमींदारी का स्वत्व-भार ग्रहण करते समय घोषित करता है कि भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने इसकी सृष्टि की है अथवा उस किसान की है जो उसकी सेवा करता है। ईश्वर की इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है, अतः भूमि पर जमींदार का स्वत्व नहीं हो सकता। जमींदार की स्थिति मात्र रक्षक की है। वह किसान की रक्षा करता है

---

१. वही, पृ० २५०

और इसलिए कर प्राप्त करने का अधिकारी है। लेकिन इसके आगे कुछ नहीं। मायाशंकर मौरास मिल्कियत, जायदाद, अथवा अधिकार के नाम पर जमींदार को इस बात की स्वीकृति नहीं दे सकता कि वह किसान का शोषण करे। साथ ही वह जमींदारी-प्रथा को वर्तमान समाज-प्रथा का कलंक-चिह्न भी मानता है। उसकी आकांक्षा है कि कर उगाहने के लिए जमींदारी की संस्था के बदले किसी अन्य व्यवस्था की कल्पना भी की जाय।[1]

प्रेमचन्द यह भी चाहते हैं कि किसानों को न्याय सुलभ हो, उनको अपना पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा हो और इसलिए वे चाहते हैं कि अदालत से ही सरकार के प्रतिपक्ष के वकील को भी नियुक्ति की जाय। पुलिस के कारण किसान की जो तबाही है उसका अन्त तो तभी हो सकता है जब पुलिस की नौकरी में सेवा भाव से प्रेरित सच्चरित्र व्यक्तियों को नियुक्ति की जाय। सरकार जब तक पुलिस में चुन-चुनकर ऐसे लोगों को बहाल करती रहेगी जो जनता को अधिक से अधिक दबा सकें तब तक पुलिस से जनता का लाभ नहीं हो सकता है। लेकिन यह तो तब होगा जब शासन पुलिस को रक्षक की स्थिति में रखने के न्याय का अनुभव करे।

ऊपर कहा जा चुका है कि देश इस बात का अनुभव 'प्रेमाश्रम' के रचनाकाल तक आकर करने लगा था कि राजनैतिक आन्दोलनों का केन्द्र गाँव को ही होना चाहिए। 'प्रेमाश्रम' के अन्त में इसी कारण उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र गाँव की ओर चल पड़ते हैं। गाँव पहुँच कर ये एक नवीन चेतना फैलाते हैं और अन्त में कौंसिल के चुनाव यज्ञ में विजयी होते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि उनको ग्रामीण जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त है और वे उनके सच्चे अर्थ में प्रतिनिधि हैं।

रंगभूमि

'रंगभूमि' की मूल उर्दू पांडुलिपि पर उसका लेखन काल १ अक्टूबर १९२२ से १ अप्रेल सन् १९२४ अंकित है। 'कलम का सिपाही' के लेखक ने यह भी, सूचना दी है कि उसी पांडुलिपि पर मुंशी प्रेमचन्द के अपने अक्षरों में यह भी टँका हुआ है-ह्विटो फिनिश्ड डेटेड, अगस्त १२,१९२४।[2]

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० ४०३।

२. कलम का सिपाही—अमृत राय, पृ० ६५५

अस्तु, सन् १६२२ से १६२४ की अवधि में भारतीय राजनीति की जो स्थिति थी उसका प्रतिफलन रंगभूमि में हो यह सर्वथा स्वाभाविक है। आलोचकों ने यह बताया है कि रंगभूमिकार प्रेमचन्द की मानसिक पृष्ठभूमि गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन की विचारधारा से ओत-प्रोत है।[1] श्री रामदीन गुप्त ने गांधी जी के जिस सत्याग्रह आन्दोलन की ओर संकेत किया है, वह सन् १६२०-२१ का ही असहयोग आन्दोलन है। किन्तु, हमें तो ऐसा लगता है कि रंगभूमि के रचयिता के सामने जो काल का आयाम है वह बहुत विस्तृत है। रचयिता के मानस को प्रभावित और आन्दोलित करने वाली कुछ घटनाओं का उल्लेख किये बिना 'रंगभूमि' में प्रतिफलित राजनीतिक परिस्थितियों को समझना सम्भव नहीं होगा।

२० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में घटित होने वाली सर्वाधिक मुख्य घटना है-प्रथम विश्वयुद्ध। यह युद्ध सन् १६१४-१८ की काल सीमा के बीच हुआ था। प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटेन को जैसी राजनैतिक और सामरिक मर्यादा दी वैसी उसके इतिहास में उसे कभी प्राप्त नहीं हुई थी। इस महायुद्ध के बाद ब्रिटेन का साम्राज्य खड़ा हुआ, उसके उपनिवेश खड़े हुए और उनके साथ ब्रिटेन को व्यापार के लिए बहु-विस्तृत बाजार भी प्राप्त हुआ। संक्षेप में, इस प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटेन को एक प्रबल शक्ति-। शाली साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शक्ति के रूप में दुनिया के रंगमंच पर खड़ कर दिया।

ब्रिटिश शक्ति और पूंजी का यह विकास उसके साम्राज्यवादी जुए के नीचे पड़े हुए देशों के लिए एक समस्या बन कर उपस्थित हुआ।

'रंगभूमि' की रचना के पूर्व महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन सन् १६२०-२१ की अवधि में चलकर शेषप्राय हो गया था। भारतीय-राजनीति में गांधी जी का प्रवेश ऐतिहासिक महत्व की घटना अवश्य है। उन्होंने राष्ट्र को जो जागरुकता दी उसका भी अपना एक गौरवपूर्ण स्थान है। किन्तु गांधी जी की कार्य-प्रणाली से देश के सभी राष्ट्रसेवकों को संतोष हो ही रहा था, ऐसा नहीं है।

सत्याग्रह आन्दोलन की समाप्ति के बाद राष्ट्र-नेता यह सोचने लगे कि राष्ट्रीय आन्दोलन को क्योंकर दृढ़ बनाया जाय कि देश का राजनीतिक लक्ष्य पूरा हो जाये।

देश की तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति दो रूपों में हुई। सन् १६२२ में कांग्रेस महाधिवेशन के अवसर पर स्वयं कांग्रेसकर्मियों के बीच दो वर्ग बड़े स्पष्ट रूप से खड़े हो गये। एक वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा के बदलने के पक्ष में नहीं था और दूसरा संवैधानिक संघर्ष के द्वारा ब्रिटिश शक्ति को क्षीण करने के लिए नया

१. प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० १८७।

मोर्चा खड़ा करना चाहता था। इसी दूसरे वर्ग ने पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजन दास के नेतृत्व में 'स्वराज्य दल' खड़ा किया। आगे चलकर सन् १९२०-२१ के आन्दोलन की समाप्ति के बाद कांग्रेस में गांधी जी के नेतृत्व के विरुद्ध एक वातावरण जैसा तैयार हुआ। गांधी जी की सहमति स्वराज्य दल के नेताओं के साथ नहीं थी। फिर भी गांधी जी ने उनके लिए स्थान खाली कर दिया। देशबन्धु के साथ महात्मा जी का एक समझौता भी हुआ जिसके अनुसार गांधी जी रचनात्मक कार्य-क्रम में लगे और कांग्रेस की सक्रिय राजनीति स्वराजियों के नियंत्रण में आयी।

राष्ट्रीय चेतना की दूसरी अभिव्यक्ति आतंकवाद के रूप में हुई। महायुद्ध के समय अंग्रेजों ने बहुत से राष्ट्रकर्मियों को आतंकवादी कह कर कैद कर लिया था। युद्ध के समय कुछ लोगों ने विदेशी सहायता से भारत को मुक्त करने की चेष्टा भी की। ऐसे लोगों ने युद्धोपरान्त जिस तरह की राजनीति का सिलसिला खड़ा किया उसे सामान्यतः आतंकवाद के नाम से पुकारा जाता है।

इस बीच सन् १९२१ में १७ नवम्बर को युवराज का भारत आगमन हुआ।[1] युवराज के प्रति भारत में किसी के हृदय में अवज्ञा का भाव नहीं था। इस देश की जनता की यही तो पीड़ा थी कि शासनाधिकारी सात समुद्र पार रहता है। यदि युवराज सामान्य स्थिति में इस देश में पधारते तो यहाँ उनका हार्दिक स्वागत होता। किन्तु, युवराज तो भारत की उस नौकरशाही के बुलावे पर उसकी स्थिति को दृढ़ से दृढ़तर करने आये थे जिससे भारतीय जनता का संघर्ष चल रहा था। अस्तु, राष्ट्रीय कांग्रेस ने युवराज का बहिष्कार किया। ब्रिटिश भारत में यह बहिष्कार आन्दोलन पूर्णतः सफल रहा। लेकिन देशी रजवाड़ों ने युवराज के स्वागत में पलक-पांवड़े बिछा दिये। इस घटना ने यह दिखा दिया कि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों की स्थिति बहुत भिन्न है।

'रंगभूमि' का अध्ययन यदि देश की राजनीति के इसी वृहत् परिप्रेक्ष्य में किया जाये तभी प्रेमचन्द पर युग-चेतना के प्रभाव का आकलन सम्यक् रूप से किया जा सकता है।

सन् १९२० में गांधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन चलाया तब भारतीय जनता को ऐसी आशा बंधी कि देश अंग्रेजों के चंगुल से निकल कर स्वतंत्र हो जायगा। गांधी जी ने बड़ी आस्था के साथ देश को यह भरोसा दिलाया था कि जनता के सहयोग से वे एक साल में देश को स्वराज्य दिला कर रहेंगे।[2] इतिहास ने यह सिद्ध किया कि गांधी जी जैसा नेता भी देश को उस निश्चित अवधि के बीच स्वतंत्र नहीं करा सका।

---

१. दि इंडियन स्ट्रगल, एस० सी० बोस, पृष्ठ ६४।

२. कांग्रेस का इतिहास, पृ० १८२।

अस्तु, यह स्वाभाविक ही था कि उनके नेतृत्व की सार्थकता के विषय में संदेह-शंका उत्पन्न हो। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि उन्होंने राष्ट्र को जगा दिया। सन् १८५७ के विप्लव के बाद राष्ट्रीय जाग्रति का प्रथम मंत्रोच्चार १९२० के असहयोग आन्दोलन के रूप में हुआ। जाग्रत राष्ट्र अपने अधिकारों के प्रति सन्नद्ध हुआ।

'रंगभूमि' के सूरदास का पूंजीपति जानसेवक के साथ जमीन के मामले को लेकर संघर्ष होता है। इस संघर्ष को किसी भी स्थिति में अंग्रेज विरोधी संघर्ष नहीं कह सकते। फिर भी यह तो सत्य ही है कि सूरदास अपने अधिकार और स्वत्व के प्रति वैसे ही तत्पर और सन्नद्ध है जैसे सारा राष्ट्र स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध है।

श्री रामदीन गुप्त ने सूरदास को गांधी जी का प्रतिरूप और उनका लघु साहित्यिक संस्करण कहा है।[1]

'रंगभूमि' का कुंवर विनय सिंह वह दूसरा पात्र है जिसका उल्लेख आलोचकों ने गांधी जी के क्रम में किया है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने इन दोनों पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह बताया है कि सूरदास, विनय सिंह की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ गांधीवाद को मूर्त करता है।[2]

सूरदास के सत्याग्रह का कोई महत् उद्देश्य नहीं है। अपने पुरखों की जमीन की रक्षा के लिए वह प्राणपन से भिड़ा हुआ है। वह जानता है कि वह शक्तिहीन है, दुर्बल है, गरीब है, अपने विरोधियों से लड़ सकने की स्थिति में नहीं है। फिर भी वह कमान रख नहीं देता। ईश्वर पर पूर्ण आस्था रखकर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए सत्याग्रह करता है। सूरदास का यह सत्याग्रह असहयोग आन्दोलन का इस अर्थ में प्रतिरूप है कि प्रबल ब्रिटिश राजसत्ता के विरुद्ध गांधी जी केवल आत्म-बल के सहारे लड़नें के लिए खड़े हुए थे। सूरदास यह जानता है कि आज की दुनिया में रुपये वाले सब कुछ कर सकते हैं। उसे यह भी अच्छी तरह मालूम है कि उसकी जमीन उसके न देनें पर भीं उसके हाथ से निकल जायेगी।[3] लेकिन इससे निराश होकर वह अन्याय और शोषण को सह ले यह भी तो अधर्म है। अन्याय करना और अन्याय सहना दोनों से अन्याय को ही पोषण मिलता है। गांधी जी के युग का सूरदास परिणाम के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रह कर अपनी शक्ति भर अन्याय का विरोध करता है। सूरदास ने अन्याय का विरोध करने के लिए जो प्रणाली अपनायी है वह वही है जिसे लेकर गांधी जी उपस्थित हुए थे। सूरदास कहता है कि उसकी लड़ाई है। ऐसी लड़ाई में ई

---

१. प्रेमचन्द और गांधीवाद—रामदीन गुप्त, पृ० १९१

२. प्रेमचन्द, चिन्तन और कला, पृ० ५१

३. कांग्रेस का इतिहास, रंगभूमि, २६

के लिए स्थान नहीं होता। कुछ लोग लाठियां लेकर जब सूरदार की जमीन पर पहुँच कर हिंसात्मक कार्रवाई करने के लिए उतारू होते हैं तो सूरदास एक सच्चे सत्याग्रही की तरह आपत्ति करता है।[1]

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने सूरदास की अहिंसा के प्रति इस निष्ठा को पहचानने में किंचित् प्रमाद किया है जिसके फलस्वरूप उन्होंने यह कहा कि सूरदास को अहिंसक इसलिए होना था कि वह अंधा-अपाहिज था।[2] सूरदास शरीर से शक्तिहीन भले ही रहा हो, उसका आत्मबल प्रबल तूफानों को भी चुनौती देने वाला था।

'रंगभूमि' के जिस दूसरे पात्र को गांधी से प्रभावित बताया गया है वह है कुंवर विनय सिंह। विनय सिंह को गांधी जी से प्रभावित इसलिए बताया जाता है कि वह जिस बात को ठीक समझता है उस पर अड़ने का उसके पास मनोबल है। उसकी इस वृत्ति का प्रमाण 'रंगभूमि' में उस जगह प्राप्त होता है जहां वह डाकिये की रक्षा में तत्पर होकर अन्यायी का विरोध करता है।[3] विनय सिंह को गांधीवादी आदर्शों का अनुयायी इसलिए भी कहा गया होगा कि वह वीरपाल सिंह की सहायता से जेल से भागने से इन्कार करता है।[4] गांधी जी ने भी अंग्रेजों का विरोध करने के बाद भी उनके दिये हुए दण्ड को सदा स्वीकार किया था।

किन्तु, ये तो ऊपरी बातें हैं। विनयसिंह गांधीवाद को मूर्त करता है यह मानते भी नहीं बनता। विनयसिंह समाज की सेवा करना अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझता है।[5] किसी लोभ अथवा लाभ के कारण अपने इस व्रत को भंग करने में वह असमर्थ है। वह यह भी जानता है कि रियासतों में बड़ी अव्यवस्था है, कुशासन है। फिर भी वह वीरपाल सिंह की तरह उसके विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करना नहीं चाहता। क्योंकि आग से आग की शान्ति नहीं होती। अग्नि के शमन के लिए जल की आवश्यकता होती है।[6] स्पष्ट है कि विनयसिंह आतंकवाद में विश्वास नहीं रखता। लेकिन इतने से ही उसे गांधीवादी कह दिया जाय यह भी ठीक नहीं दीखता। विनयसिंह की कार्य प्रणाली में भी हिंसा के लिए स्थान नहीं है। लेकिन सूरदास और विनयसिंह में अहिंसा के प्रति आस्था को लेकर स्पष्ट अन्तर है। सूरदास अहिंसा को विश्वास के

---

१. रंगभूमि, पृ० २३४
२. प्रेमचन्द, चिन्तन और कला, पृ० ४६
३. रंगभूमि, पृ० २०४
४. वही पृ० २१२-२१३
५. वही पृ० २१७
६. रंगभूमि — पृ० २०६

रूप में ग्रहण करता है और उसे वीरों का अस्त्र मानता है अपाहिजों अन्धों के लिए सहारे की लाठी मात्र नहीं। इधर विनयसिंह अहिंसा को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन मात्र समझता है, इस साधन की, इस अस्त्र की चिन्ता उसे बराबर बनी रहे ऐसा नहीं है। उसका अगला इतिहास इस विषय में प्रमाण है।[1]

श्री रामदीन गुप्त कुंवर ने विनयसिंह के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— 'विनय प्रकृत्या एक दुर्बल एवं अस्थिर चित्त उच्चवर्गी युवक है जो राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के देशव्यापी आन्दोलन के वातावरण से प्रभावित होकर अपने संकुचित नीड़ का त्याग कर जनप्रांगण में आता है। किन्तु अपने वर्गगत संस्कारों और दुर्बलताओं के कारण जनवाद और सामन्तवाद के मध्य इतस्ततः करता रहता है।[2]

संस्कार की दृष्टि से विनयसिंह और सूरदास में बहुत अन्तर है। यह अन्तर प्रायः वही है जो गांधी जी और उनके सहयोगी कांग्रेसकर्मियों के बीच, उस समय था। कांग्रेस ने सन् १९२०-२१ के असहयोग के सूत्रधार के रूप में गांधी जी को प्रतिष्ठित तो कर दिया था किन्तु उक्त असहयोग आन्दोलन के अस्त्र अहिंसा के प्रश्न पर गांधी जी और उनके साथियों का दृष्टिकोण एक जैसा नहीं था। गांधी जी का विश्वास था कि अकेला एक अहिंसक व्यक्ति पूरे राष्ट्र को बन्धन मुक्त कर सकने में समर्थ सिद्ध हो सकता है। किन्तु उनके साथी अहिंसा के इस उच्चादर्श के प्रति बहुत आस्थावान नहीं थे। आन्दोलन गांधी जी को चलाना था। इसलिए उनके अस्त्र-अहिंसा को कांग्रेस ने भी एक तात्कालिक अनिवर्यता के रूप में स्वीकार किया था। सन् १९२१ में इस विषय में कांग्रेस के महाधिवेशन में जो प्रस्ताव पारित हुआ था वह यह प्रमाणित करता है कि कांग्रेस ने अहिंसा को सिर्फ इसलिए स्वीकार किया था कि उसका आधार लेकर चलने वाले आन्दोलन ने सरकार के सम्मान को बहुत धक्का पहुँचाया था।[3] उसी वर्ष २३ नवम्बर को कांग्रेस सदस्यों के लिए एक प्रतिज्ञा पत्र तैयार किया गया, जिसमें अहिंसा के विषय में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है :—

जब तक मैं सदस्य रहूँगा तब तक, वचन और कर्म में अहिंसात्मक रहूँगा और इस बात का प्रयत्न करूँगा कि मन से भी अहिंसात्मक रहूँ—क्योंकि मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में अहिंसा से ही खिलाफत और पंजाब की रक्षा हो सकती है।[4]

---

१. वही

२. प्रेमचन्द और गांधीवाद—रामदीन गुप्त, पृ०, २

३. कांग्रेस का इतिहास — पृ० १८४

४. वही पृ० १

इनसे यह विदित होता है कि कांग्रेस ने किस रूप में अहिंसा को ग्रहण किया था। किन्तु गांधी जी की बुद्धि में अहिंसा आचरण का स्थूल नियम मात्र नहीं है बल्कि मन की वृत्ति है जिस वृत्ति में कहीं द्वेष की गंध तक न होने वह अहिंसा है।[1]

अहिंसा की जो परिभाषा 'गांधी विचार दोहन' के प्रमाण से प्राप्त है उसकी कसौटी पर सूरदास तो खरा उतर जाता है लेकिन कुंवर विनय सिंह अहिंसक सिद्ध नहीं हो पाता। उसने अहिंसा को कांग्रेसियों की तरह ही तात्कालिक अनिवार्यता के रूप में आवश्यकतानुसार स्वीकार किया था।

ऊपर कहा जा चुका है कि सन् १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन के उत्तरवर्ती काल में कांग्रेस में ऐसे लोगों का जोर बढ़ा जो संस्था के कार्य-क्रम में परिवर्तन चाहते थे। ऐसे ही लोगों ने स्वराज्य पार्टी करके एक नया दल भी खड़ा किया था। यह दल कौंसिल प्रवेश का पक्षपाती था और चाहता था कि कौंसिलों के भीतर पहुँच कर संवैधानिक जिच पैदाकर सरकार की शक्ति को क्षीण किया जाय। गया कांग्रेस अधिवेशन में इन परिवर्तनवादियों के दृष्टिकोण को संस्था की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। फिर भी आपस में एक ऐसा समझौता कर लिया गया जिसके अन्तर्गत यह नया दल कांग्रेस संस्था का अंग रह कर भी अपनी योजना के अनुसार कौंसिलों में आजादी का मोर्चा खड़ा कर सकता था।[2]

नया संविधान सन् १९२१ में ही कार्यान्वित हो गया था। किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया था। परिणाम स्वरूप कौंसिलों में जीवनी शक्ति का अभाव देखा गया। स्वराज्य दल के कौंसिल संघर्ष के मैदान में सन् १९२३ में आ जाने से देश में एक नई लहर दौड़ गयी। स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवारों को कौंसिलों के चुनाव में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। उसके विरोधियों की करारी हार हुई। अब कौंसिलों में ऐसे लोग पहुँचे जिन्होंने सरकार से डरना नहीं जाना था। वे लाभ और लोभ के विचार से अथवा नामवरी के लिए कौंसिल-सदस्य नहीं बने थे। इसलिए उन्हें सरकार की आलोचना करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं था।

'रंगभूमि' में कौंसिल चुनाव और उसके भीतर लिए गये मोर्चे का पर्याप्त चित्रण प्राप्त होता है।

'रंगभूमि' में मिस्टर क्लार्क नामक एक सरकारी अधिकारी का वृत्तान्त आता है, जिसको कौंसिल सदस्यों की आलोचना पर अपेक्षया निम्न-पद पर पदस्थापित कर

---

1. गांधी विचार दोहन — पृ० ४
2. आइ० एम० एन०—एन० एस० बोस, पृ० ७१–७२

स्थानान्तरित कर दिया गया।[1] डा० गांगुली इसे देख कर संतुष्ट हैं कि अब सरकार प्रजा-मत की उपेक्षा नहीं कर सकती।[2]

स्वराजियों का कौंसिलों में जो बहुमत हो गया था और उसके कारण जो नई परिस्थिति पैदा हुई थी उसकी ओर 'रंगभूमि' के मि० क्लार्क ने भी संकेत किया है। हिन्दुस्तानियों के बहुमत के कारण गवर्नर का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया था। फिर भी यह कोई बहुत बड़ी प्राप्ति नहीं थी। इसलिए कि कौंसिल के निर्णय को अपने विशेषाधिकार के प्रयोग द्वारा गवर्नर रद्द कर सकता था।[3] तत्कालीन कौंसिलों के महत्त्व और अधिकार को सीमा के सम्बन्ध में मि० क्लार्क का यह कथन इतिहास के सत्य को व्यंजित करता है।[4] कौंसिलों में जिच उत्पन्न करने से स्वराज्य की लड़ाई को बहुत बल मिला हो ऐसी बात नहीं है। बाद में चल कर यह अनुभव किया गया कि कौंसिलों का यह मोर्चा श्रम का अपव्यय है। 'रंगभूमि' के डा० गांगुली का भी अनुभव है कि कौंसिल से किसी प्रकार की आशा रखना आत्मवंचना के सिवा और कुछ नहीं है।[5] सदस्यों ने मि० क्लार्क के विरुद्ध बड़ा शोर मचाया था। महीनों वाद-विवाद, प्रश्नोत्तरी आदि का सिलसिला चला। लेकिन अन्त में यह सब अरण्यरोदन सिद्ध हुआ। वही सरकार जिसने कुछ दिन पहले मि० क्लार्क को सदस्यों के आरोप पर निम्नतर पद पर बदल कर दिया था उसी ने फिर मि० क्लार्क की पदवृद्धि की।[6] डा० गांगुली जैसे सरकार की ईमानदारी और निष्ठा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति का अब मोह टूट जाता है। उसे लगता है कि यह शासन व्यवस्था भारत को अनन्तकाल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए कृतसंकल्प है।[7] ऐसी सरकार से किसी प्रकार की उम्मीद रखना आकाश कुसुम प्राप्त करने की चेष्टा है। स्पष्ट है, 'रंगभूमि' तक आकर प्रेमचन्द का युग कौंसिल-प्रवेश की व्यर्थता का अनुभव कर चुका है। अंग्रेज सरकार न्याय बल और प्रजातन्त्र को जो दुहाई दिया करती थी उसकी कलई अब खुल गई।

राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में श्रीमती एनी बेसेन्ट का एक विशिष्ट स्थान

---

१. रंगभूमि, पृ० २८८

२. वही ,,

३. रंगभूमि, पृ० २७७ और ३८८

४. दि इण्डियन स्ट्रगल — एस० सी० बोस, १४८

५. रंगभूमि — पृ० ५८५

६. वही ,, ,,

७. वही पृ० ५८६

सुरक्षित है। 'रंगभूमि' में डाक्टर गांगुली, श्रीमती वेसेन्ट का उल्लेख रिपन और ह्यूम के साथ-साथ करता है।

स्वयं प्रेमचन्द की श्रीमती वेसेन्ट के प्रति बड़ी श्रद्धा भावना थी।[1] किन्तु, रंगभूमि में उसका उल्लेख जिस रूप में होता है वह उस श्रद्धा का सूचक नहीं है। डा० गांगुली श्रीमती वेसेन्ट को भी अंग्रेज शासक वर्ग की ही परम्परा में रखता है।[2] प्रेमचन्द ने ऐसा शायद इसलिए किया है कि इतिहास में एक समय ऐसा भी आया था जब भारत के राजनीतिक जगत में श्रीमती एनी वेसेन्ट की लोकप्रियता घट गयी थी। श्रीमती वेसेन्ट के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने देश की राजनीति की छोटी से छोटी ऊर्मि को भी अपने दृष्टिपथ से वाहर नहीं जाने दिया है।

प्रथम महायुद्ध के समय भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने वाले राष्ट्रवादियों को आतंकवादी कह कर सरकार ने उन पर दमन करने के उद्देश्य से सन् १६१५ में भारत सुरक्षा कानून वनाया था।[3] जीवन-मरण के संघर्ष में पड़ी हुई अंग्रेज सरकार स्वभावतः आतंकवाद के प्रभाव को नियंत्रित और नष्ट करने का प्रयास करती हो। देश ने राजनीतिक मुक्ति के लिए असहयोग आन्दोलन का जो कार्य-क्रम रखा उसके सफल न होने पर यह भी स्वाभाविक था कि स्वराज्य-प्राप्ति के भिन्न साधनों के विषय में सोच-विचार किया जाता। इसी सोच-विचार के क्रम में आतंकवाद एक वार फिर सक्रिय हो उठा। अव 'अनुशीलन' और 'युगान्तर' जैसी संस्थाओं का जोर वढ़ा। धीरे-धीरे यह आन्दोलन अर्थात् सशस्त्र क्रान्ति द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति का आन्दोलन इतना वढ़ा कि सन् १६२४ में आतंकवादियों का एक विधिवत् सम्मेलन हुआ और 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना भी की गयी।[4]

'रंगभूमि' के वीरपाल सिंह और उसके साथियों के दल को प्रेमचन्द ने क्रान्तिकारियों का दल कहा है।[5] वीरपाल सिंह जसवन्त नगर रियासत में एक डाकू के रूप में कुख्यात है। लेकिन उसकी यह भी विशेषता है कि वह रियासत के अधिपति की कायरता और इसके दब्बूपन की भर्त्सना करता है, उसे ब्रिटिश पालिटिकल एजेन्ट के इशारों पर नाचने वाला काठ का उल्लू कहता है।[6]

---

१. प्रेमचन्द : घर में—शिवरानी देवी, पृ० ३०
२. रंगभूमि, पृ० ५८६
३. एस० बी० आई० एन०—पृ० ३०३
४. आई० एन० एम०—एन० एस० वोस, पृ० ८५
५. रंगभूमि, पृ० ३५५
६. वही पृ० २०५

यह वीरपाल सिंह राजपुरुषों के बीच भले ही डाकू के रूप में कुख्यात हो, सामान्य-जनता का हित साधन करने के कारण वह जनता की दृष्टि में डाकू नहीं था। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने उसे डाकू के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। वीरपाल सिंह के चरित्र में आतंकवादियों की एक क्षीण झलक हमें प्राप्त होती है। रियासत के अधिकारी जब निर्दोष विनय सिंह को कैद कर लेते हैं, वीरपाल सिंह अपने वीर साथियों के साथ जेलखाने में पहुँच कर कैद से उसका उद्धार करना चाहता है।[1] जैसे आतंकवादी अपने किसी साथी को अंग्रेजों के कैदखाने से मुक्त करने का प्रयास करते थे वैसा ही कुछ विनय सिंह को मुक्त करने के लिए वीरपाल सिंह भी करने आया है।

जसवन्त नगर रियासत के पोलिटिकल एजेन्ट मि० क्लार्क की गाड़ी के नीचे दब जाने से एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्ति की मृत्यु हुई उसने सड़क के प्रचलित नियम का उल्लंघन नहीं किया था। अस्तु, उसकी मृत्यु क्लार्क के प्रमाद से हुई। ऐसे अवसर पर उचित यह होता है कि आहत व्यक्ति को आवश्यक सहायता पहुँचाई जाये। लेकिन क्लार्क तो दोहरे मद में शराबोर है—एक ओर राजसत्ता का मद है और दूसरी ओर सुरापान का असर।[2] वह क्यों कर एक गरीब आदमी के पिस जाने की परवा करे। उत्तेजित जनता जब उसकी गाड़ी रोकना चाहती है तब वह पिस्तौल चलाता है।[3] इस प्रकार वह जनता के विरोध की उपेक्षा करता हुआ अपने बंगले पर आता है। वीरपाल सिंह उसके इस अमानुषिक कर्म और उसकी इस ऐंठ को सह नहीं पाता। उसके दल के लोग विरोध करने के लिए चले आते हैं। स्वयं क्लार्क तो नशे में बेहोश है। किन्तु उसकी राजसत्ता तो जगी हुई है। उसका वीरपाल सिंह से विरोध होता है। संघर्ष में कई निरपराध लोगों की मृत्यु होती है। वीरपाल सिंह का दल मि० क्लार्क की मंगेतर सोफिया को उठा कर ले जाता है।[4] इस दुर्घटना से रियासत में तहलका मच गया। भला पोलिटिकल एजेन्ट की मंगेतर को इस तरह उठा कर ले जाना कोई मजाक है! सरकार की ओर से ऐसा दमन-कार्य हुआ कि संदेह मात्र पर लोगों को गिरफ्तार किया जाने लगा। कैदियों को कठोरतम यातनाएँ दी गईं। दमन इस प्रकर्ष पर पहुँचा कि किसी अभियुक्त को प्राण दण्ड देने के लिए एक मामूली सिपाही की शहादत पर्याप्त समझी गई।[5]

---

१. रंगभूमि २१४
२. वही ३३०
३. वही ”
४. वही पृ० ३३२–३३३
५. वही पृ० ३३६

स्पष्ट है, वीरपाल सिंह के दल ने जो किया उसका भुगतान करना पड़ा रियासत की निरीह जनता को।

जसवन्त नगर रियासत के अधिकारियों के द्वारा सोफिया के वीरपाल सिंह के साथियों द्वारा अपहरण के बाद जनता पर जो भीषण अत्याचार हुआ उसका विवरण प्रेमचन्द ने एक विशेष प्रयोजन से प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द के युग के सामने एक जटिल प्रश्न यह खड़ा हो गया था कि स्वतंत्रता के युद्ध का साधन हिंसा हो अथवा अहिंसा। महात्मा जी अहिंसा के व्रती थे और आतंकवादियों की अहिंसा के प्रति थोड़ी भी आस्था नहीं थी। प्रेमचन्द के युग ने यह भी देखा था कि अहिंसक संग्राम की सफलता हिंसा के कारण बाधित हो जाती है। कांग्रेस आन्दोलनों के समय जब सरकार नेताओं को कैद कर लेती थी जनता को नेतृत्व देने वाला कोई रहता नहीं था। ऐसे अवसर पर जनता में हिंसा की उत्तेजना बढ़ती थी। सरकार को बस यहीं दमन के लिए अवसर भी मिल जाता था। स्वयं ब्रिटिश राज्य इस देश में आतंक के बल पर टिका हुआ था। उसे जनता की हिंसा के प्रत्युत्तर में दमन-चक्र चला कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कहने का मनचाहा अवसर जब मिल जाता था तब वह जोश के साथ मौके का लाभ उठाता था। कहना नहीं होगा कि हिंसा से आन्दोलन पीछे पड़ता था।

प्रेमचन्द इसीलिए आतंकवाद के समर्थक नहीं थे। वीरपाल सिंह के दल द्वारा सोफिया के अपहरण से सिद्ध कुछ नहीं हुआ बदले में जनता को यातनाएँ भोगनी पड़ीं। अस्तु, यह स्वाभाविक है कि प्रेमचन्द वीरपाल सिंह के काम का समर्थन न करें, लेकिन इतना ही नहीं है। राष्ट्रीय कांग्रेस ने मुक्ति-आन्दोलन के लिए जिस अहिंसा को साधन-रूप स्वीकार किया था प्रेमचन्द को उसे प्रतिष्ठा देनी ही थी। कहना नहीं होगा कि 'रंगभूमि' में इस प्रकार अहिंसा विषयक कांग्रेस की नीति को ही प्रतिफलित किया गया है। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' प्रेमचन्द के ऐसे दो उपन्यास हैं जिनमें रियासती भारत के सम्बन्ध में उन्होंने विचार किया है। अंग्रेजों के शासन काल में भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त था। एक को ब्रिटिश भारत कहते थे जिसपर अंग्रेजों की प्रत्यक्ष अमलदारी थी—दूसरा भाग रियासती भारत (इण्डियन स्टेट्स) कहाता था। इस भाग में सैकड़ों छोटे-बड़े देशी-नरेश थे। ब्रिटिश सरकार के साथ सम्पन्न संधि नियमों के अनुसार रियासत विशेष का भारत के ब्रिटिश शासन के साथ सम्बन्ध का नियमन होता था।

सन् १८५८ में जब रानी विक्टोरिया ने कम्पनी बहादुर के हाथ से भारत का शासन तंत्र अपने प्रत्यक्ष अधिकार में लिया तब उन्होंने देशी नरेशों को यह आश्वासन दिया था कि उनकी मान-मर्यादा एवं उनके अधिकारों के [illegible] ब्रिटिश-शासन [illegible]

निष्ठा के साथ करेगा।[1] साम्राज्ञी के इस घोषणा-पत्र के अनुसार भारतीय नरेशों की प्रजा ब्रिटेन की प्रजा नहीं थी।

आगे चल कर सन् १८६० में लार्ड केनिंग ने देशी नरेशों की शक्ति को व्यावहारिक रूप में बहुत ही क्षीण कर दिया। देशी नरेश भोग-विलास में डूबे रहते और शासन-तंत्र की बागडोर परदे की ओट में उस अंग्रेज अधिकारी के हाथ रहती जिसे पोलिटिकल एजेन्ट की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। सन् १९१८ तक स्थिति ऐसी हो गयी कि सारे देश में कुल ५ ऐसे नरेश बच गये जो भारत सरकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध-सूत्र में आबद्ध थे। ब्रिटिश भारत में बड़े-बड़े जमींदार, राजा, महाराजाओं के यहाँ जो काम उनके अंग्रेज मैनेजर किया करते थे देशी रजवाड़ों में वही काम पोलिटिकल एजेन्ट करने लगे।

ब्रिटिश भारत में जब राष्ट्रीय जाग्रति फैली और स्वराज्य की मांग खड़ी हुई उस समय देशी रजवाड़ों के सम्बन्ध में नेताओं के ध्यान में कोई बात नहीं थी। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन केवल ब्रिटिश भारत की मुक्ति के अर्थ प्रेरित था।

देशी रजवाड़ों में प्रजा की दशा ब्रिटिश भारत की प्रजा से कुछ अधिक उन्नत थी ऐसा भी नहीं था। वहाँ की जनता तो कुशासन और कुव्यवस्था का और भी अधिक दुःख झेल रही थी। ब्रिटिश भारत में प्रजा को विकास के लिए एक विदेशी शासन के अन्तर्गत जो सुविधाएँ प्राप्त थीं वे देशी नरेशों के स्वदेशी शासन में भी रियासती प्रजा को प्राप्त नहीं थी। इस प्रकार कहने भर को भारत की रियासतें स्वतंत्र थीं, वस्तुतः उनकी दशा ब्रिटिश भारत से भी बदतर थी। प्रश्न है, फिर रियासतों में बन्धन-मोचन की क्रान्ति क्यों नहीं खड़ी हुई। इसका उत्तर स्पष्ट है—ब्रिटिश भारत में अंग्रेज शासक जो कुछ करते थे उसके लिए वे भारतीय जनता के आगे जवाबदेह नहीं भी थे तो जागरूक ब्रिटिश जनता के आगे तो थे ही। रियासतों में उनका स्वेच्छाचार मूर्ख राजाओं की टट्टी की ओट में चलता था और उसके लिए उन्हें किसी के आगे उत्तर भी नहीं देना था।

शिक्षा का संस्कार, रियासती प्रजा में जो प्रायः नहीं था उसके भी कारण जाग्रति वहाँ पनप नहीं रही थी।

---

1. We shall respect the rights, degnity and honour of Native Pri- that nces as our own and we desire they as well as our own subjcts should enjoy that prosperity and that social adomement, which can only be secured by internal peaca and good Govern. ment'' The Story of he Integration of the Indian States—V. P. Menon—P; 9.

ब्रिटेन के युवराज के नवम्बर १९०१ में भारत आगमन के अवसर पर देश को यह स्पष्ट विदित हुआ कि अंग्रेजों ने राजनीतिक दृष्टि से भारत के जो दो टुकड़े कर रखे हैं वे और तो और, भावना की दृष्टि से भी परस्पर बहुत भिन्न हो गये हैं। वह राष्ट्रीय आन्दोलन निश्चित रूप से व्यर्थ होता जिसके प्रति रियासतों की सहानुभूति नहीं होती। अंग्रेज चाहते तो इन दोनों टुकड़ों को परस्पर टकरा कर अपना फौलादी पंजा सम्पूर्ण देश पर बनाये रख सकते थे। अस्तु, यह स्वाभाविक ही था कि रियासती प्रजा को जगाया जाय। उसे अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने की प्रेरणा दी जाय।

प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में यह बताया है कि देशी रजवाड़ों की प्रजा की क्या दशा थी।

जसवन्त नगर रियासत की प्रजा को रियासत के हाकिम-हुक्काम दिन दहाड़े दोनों हाथों से लूटते हैं।[1] किसी ने जरा सा साफ कपड़े पहन लिए तो हाकिमों ने समझ लिया कि यह आसामी मालदार है और फिर वे उसके पीछे पड़ गए।[2] प्रजा के स्वत्व की गैरजिम्मेदारी इससे स्पष्ट है कि चोरी करने, डाके डालने और गरीबों के घरों में आग लगाने के लिए आततायी निर्द्वन्द्व थे। कर्मचारियों की मुट्ठी गरमा देने से कहीं कोई रोकने टोकने वाला नहीं रहता। दिन दहाड़े खून कीजिए, और पुलिस की पूजा कर दीजिए। पुलिस फाँसी चढ़ाने के लिए किसी बेकसूर को ढूँढ़ ही लेगी।[3] राजा जो शरीर से हिन्दुस्तानी है और सब कुछ से विलायती। अंग्रेज अधिकारियों की जी-हुजूरी से उसे फुरसत नहीं जो वह प्रजा का हितचिंतन करे। ऐसे काठ के उल्लुओं के विरुद्ध द्रोह करना सच्चे अर्थ में धर्माचरण है। जसवन्त नगर के नरेश जैसे देशी नरेश अंग्रेजों की चाटुकारिता इसलिए करते हैं कि वे ब्रिटिश-सरकार की रक्षा में मनमाने कर वसूल सकें, मनमाने कानून बना सकें और मनमाने ढङ्ग से जुर्माने कर सकें।[4] यही कारण है कि रियासतों में रेजिडेन्ट अथवा पोलिटिकल एजेन्ट की इच्छा के विरुद्ध तिनका भी नहीं डोल सकता था।[5]

इन रियासतों की स्थिति यह है कि वहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुजर नहीं हो सकता।[6]

---

१. रंगभूमि—पृ० २०५
२. वही
३. वही
४. वही, पृ० २१८
५. वही ,,
६. वही २१७

जसवन्त नगर रियासत के दीवान ने एक बड़े अच्छे महलसरा का प्रयोग रियासतों के लिए किया है।[1] काठ के उल्लू नरेशों की रियासतें सचमुच अंग्रेजों के अनाचार, अत्याचार के लिए जनानखाने ही तो बन गयी थीं। इस अंतःपुर में कुंवर विनय सिंह हतभाग्य प्रजा के सेवा-कार्य के लिए अपनी सेवा समिति के कुछ सदस्यों के साथ पहुँचता है। विनय सिंह के इस जत्थे के सम्बन्ध में अधिकारियों को भाँति-भाँति की शंकाएँ हो रही हैं। ब्रिटिश भारत से आने वाले ऐसे जत्थे रियासत के अधिकारियों की नींद हराम कर रहे हैं।[2] कोटे में कोई दल किसानों की सभाएँ बनाता फिरता है तो दूसरा बीकानेर में बेगार की जड़ खोद रहा है।[3] फिर कोई दल मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है जिनकी सनातन काल से वहाँ वसूली की जाती रही है।[4] सेवा-समिति वाले साम्यवाद का डंका बजाते फिरते हैं। रियासत के अधिकारी यह सुनकर हैरान हैं कि ये लोग प्रचारित करते हैं कि प्राणी मात्र को खाने, पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान अधिकार है।[5] पालिटिकल एजेन्ट साहब के भी कान इन सेवा समिति वालों के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। उनके पीछे गुप्तचरों को लगा दिया जाता है।[6] अधिकारी इस दल को ऐसा कुछ अपने भरसक करने न देंगे जिससे रियासत के विरुद्ध अंग्रेजों की बदगुमानी का अनुभव हो। वह इसलिए कि यदि उनकी आँखें फिर गयीं तो फिर राजा का संसार में कहीं ठिकाना न रह जायेगा।[7]

सन् १९२२ में कांग्रेस की सत्याग्रह कमिटी ने सारे देश का दौरा करके जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था उसमें अदालतों का बहिष्कार करने को कहा गया था। सेवा-समिति, जसवन्त नगर की प्रजा के बीच यह संदेश पहुँचाती है और वहाँ मुकदमे पंचायत द्वारा तय पाने लगते हैं।[8]

ब्रिटिश भारत के कारावासों में राजनीतिक बंदियों ने जेल-सुधार का जो आन्दोलन खड़ा किया था[9] उसी की छाया 'रंगभूमि' में भी प्राप्त होती है।[10]

१. रंगभूमि—पृ० २१७
२. वही ,,
३. वही ,,
४-५ वही ,,
६. वही पृ० २०२
७. वही २१८
८. वही २०२
९. कांग्रेस का इतिहास-भाग १, पृ० २०६
१०. रंगभूमि—२९८

'प्रेमचन्द और गांधीवाद' के लेखक श्री रामदीन गुप्त ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि संपूर्ण भारत के दरिद्र नारायण के प्रतिनिधि कहलाने वाले महात्मा गांधी ने और अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था होने का दावा करने वाली कांग्रेस संस्था ने देशी रियासतों की आठ सौ लाख जनता की आशा-आकांक्षा की चिन्ता नहीं की।[1] उनका यह आक्षेप उचित नहीं है। यह इसलिए कि गांधी जी ने सन् १६१६ में ही काशी विश्वविद्यालय के प्रांगण में भाषण करते हुए देशी नरेशों से कहा था—नरेशों जाओ और अपने जवाहरातों को बेच डालो।[2] गांधी जी का यह संकेत बहुत ही सारगर्भित है। वैभव और विलास में मदहोश देशी राजे प्रजा-हित के प्रति इसीलिए तो निरपेक्ष रहते थे कि उनको अपनी अतुल संपत्ति का बल था।

इन्हीं देशी नरेशों के सगोत्रिय थे ब्रिटिश भारत के बड़े-बड़े राजे-महाराजे और तालुकेदार। राजा महेन्द्र सिंह इसी वंश परिवार से 'रंगभूमि' में अवतरित हुआ है। राजा महेन्द्रसिंह के पास जो सम्पत्ति थी उसके बल पर वह उन अंग्रेज अधिकारियों को अपने यहाँ नौकर रख सकता था जिनके डर के मारे उसकी बोलती मारी जाती है। यह सिर्फ इसलिए कि उसकी एक शिकायत से राजा साहब की सारी आबरू खाक में मिल जा सकती थी।[3] यह आबरू उसे अंग्रेजों से ही तो मिली थी। ऐसे लोगों की इज्जत स्वायत्त-संस्थाओं की चेयरमैनी से बढ़ती थी और वह प्राप्त होती थी सरकार की चाटुकारिता से।

कुंवर विनय सिंह जो कुछ कर रहा है उसे सरकार आपत्ति जनक समझ कर उसके पिता कुंवर भरत सिंह पर दबाव डालती है कि या तो वह अपने पुत्र को इस बात के लिए राजी करे कि वह सेवा समिति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले और उसकी सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दे अथवा वह भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से उसे वंचित कर दे।[4]

इससे स्पष्ट है कि सरकार विरोधी प्रकृतियों को किस प्रकार नष्ट करने के लिए कृतसंकल्प थी और राजा भरत सिंह जैसे ताल्लुकेदारों की कैसी निरीह विवशता थी। संतोष की बात यही थी कि देश के इस वर्ग में भी चेतना फैल रही थी। कुंवर विनय सिंह का उदाहरण इसका प्रमाण है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सन् १६२२ से लेकर १६२४ की अवधि में

---

१. प्रेमचन्द और गांधीवाद—पृ० २१५
२. गा० रा० आ०—पृ० १५२ पर उल्लिखित।
३. रंगभूमि—पृ० १६६
४. वही, पृ० ५२६

भारत की राजनीति ने जो भिन्न-भिन्न पहल लिए उनका प्रतिफलन 'रंगभूमि' में हुआ है।

कायाकल्प

प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' नामक उपन्यास की रचना के समय देश में साम्प्रदायिक दंगों का जोर बढ़ गया था। इन दंगों के पीछे विदेशी सरकार का शह काम करता था। अंग्रेज इस देश में बने रहने के लिए फूट डाल कर राज्य करने की नीति का आश्रयण सन् १८८८ से ही कर रहे थे।[1] बंग विभाजन के प्रतिरोध में बंगाल में जब आन्दोलन चला और अंग्रेजी सरकार के पैर लड़खड़ा उठे तब लार्ड कर्जन ढाका के नवाब को अपने पक्ष में लाने के लिए प्रयत्नवान हुआ ही था।[2]

किन्तु 'कायाकल्प' की रचना की तात्कालिक प्रेरणा सन् १९२४ के ९ और १० सितम्बर में होने वाले कोहाट के दंगे से 'कायाकल्प' के लेखक को प्राप्त हुई। कोहाट का दंगा था भी अत्यन्त भयानक।[3]

साम्प्रदायिक विद्वेष की आग जब भड़कती थी तब सारे नाते-रिश्ते समाप्त हो जाते थे। 'कायाकल्प' के पं० यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद परस्पर बाल-सखा हैं। साम्प्रदायिक आवेश में आकर ख्वाजा, यशोदानन्दन का कट्टर और जानी दुश्मन बन जाता है। लेकिन जब बाबू यशोदानन्दन से हिन्दू-मुस्लिम दंगे में भेंट हो जाती है तब वही ख्वाजा अश्रुपूरित नेत्रों से कहता है—हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे, पर हमारी मरजी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमें लड़ाती रहती थी।[4]

स्पष्ट है, इस देश के हिन्दू और मुसलमान आपसी मेल के साथ रहना चाहते थे और यदि उनको अपने ऊपर छोड़ दिया गया होता तो वे अच्छे पड़ोसियों की तरह रह भी लेते। लेकिन उनके ऊपर वह गैबी ताकत हावी थी जो उनको आपस में लड़ाती रहती थी। प्रश्न है, वह गैबी ताकत कौन सी है ? भारत की जनता अपने भोलेपन में इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं पाती थी और आपसी संघर्ष में पड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करा रही थी। भारत के राष्ट्रीय नेता चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान इस तीसरी

---

१. कांग्रेस का इतिहास-भाग १, पृ० ४१

२. वही ,,

३. वही, पृ० २२२

४. कायाकल्प—पृ० २७३

ताकत को अच्छी तरह पहचान रहे थे और इसीसे खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन को एक साथ मिल-जुलकर चलाने का जब वह निश्चय करते हैं, उस तीसरी गैबी ताकत का आसन हिल जाता है। भारतीय राष्ट्रवाद की इस लहर को रोकने के लिए इसी गैबी ताकत ने साम्प्रदायिकता का अवरोध खड़ा किया।

कायाकल्प में आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच होने वाले जिस साम्प्रदायिक दंगे का वर्णन आया है—उसके पीछे भी सरकारी शह ही है। प्रेमचन्द ने बताया है कि हाकिम जिला को दोनों सम्प्रदायों के नेता अर्थात् ख्वाजा महमूद और प० यशोदानन्दन सलाम बजाने जाया करते थे और उसके समक्ष अपनी-अपनी राजभक्ति का राग भी अलापते थे।[1]

इस दंगे में प० यशोदानन्दन की मृत्यु तो होती ही है उनके घर में भी विधर्मियों द्वारा आग लगा दी जाती है। उनकी पालिता पुत्री अहल्या का अपहरण भी ख्वाजा महमूद के पुत्र द्वारा होता है।[2] इसी में अहल्या के हाथों उसके अपहरणकर्त्ता की भी हत्या होती है।[3] जैसा कि लेखक ने कहा—वैमनस्य का भूत दो नेताओं का बलिदान पाकर शान्त हो गया।[4] प्रेमचन्द की पैनी आँखें यह देख रही थीं कि साम्प्रदायिक दंगों का यह सिलसिला तब तक चलता रहेगा जबतक दोनों संघर्षरत सम्प्रदाय अपने पागलपन का दण्ड नहीं भुगत लेंगे। 'कायाकल्प' के चक्रधर ने ठीक ही कहा है कि—"मुश्किल यह है कि जिन महान पुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढ़कर उद्दंड हो जाते हैं।"[5] स्पष्ट है साम्प्रदायिक दंगे इसलिए नहीं होते कि साधारण हिन्दू-जनता साधारण मुस्लिम-जनता के साथ लड़ना चाहती है। दंगे नेताओं के स्वार्थ-साधन का अस्त्र है। ये नेता ही घृणा और विद्वेष का वातावरण तैयार करते हैं और उत्तेजना फैला कर दंगे कराते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों के लिए पृथक चुनाव की व्यवस्था कर संवैधानिक रूप से उन्हें हिन्दुओं से अलग कर दिया।

'कायाकल्प' में साम्प्रदायिक दंगे का जो अन्तिम परिणाम दिखाया गया है वह संकेत करता है कि सरकार की ओर से शह पाकर भिन्न सम्प्रदायों के नेताओं ने परस्पर द्वेष, घृणा और उत्तेजना का भयंकर, विषाक्त वातावरण बना रखा था। सर-

---

१. कायाकल्प— पृ० २६६
२. वही, २७२
३. वही
४. वही, २८५
५. वही, पृ० २३८

कार ने स्वार्थी साम्प्रदायिक नेताओं को प्रोत्साहन देकर जो विषवृक्ष खड़ा किया था उसका नाशकारी प्रभाव प्रत्यक्ष होता ही।

जिस देश में आये दिन भिन्न-सम्प्रदाय के लोगों के बीच छोटी-छोटी घटनाओं पर संघर्ष होता हो उस देश का वातावरण विषाक्त तो हो ही जाता है।

'कायाकल्प' की रचना के थोड़े ही दिन बाद एक मुसलमान अब्दुलरशीद के हाथों छल से स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या हुई। स्वामी जी की हत्या के बाद गांधीजी ने कांग्रेस के एक प्रस्ताव में कहा था—"मैं तो उसे (अब्दुल रशीद) स्वामी जी की हत्या का दोषी नहीं ठहराता। दोषी तो असल में वे हैं जिन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध घृणा को उत्तेजित किया।"[1] कहना नहीं होगा कि दोषियों में पहला नम्बर अंग्रेज-सरकार का ही है जिसने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत के भिन्न सम्प्रदायों के बीच संघर्ष और घृणा की उत्तेजना फैलायी।

प्रेमचन्द यह समझ रहे थे कि साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि-शिखा तभी शमित होगी जब उसे किसी बड़े नेता का रक्त प्राप्त हो। प्रेमचन्द का यह सोचना कितना सही था! स्वयं राष्ट्रपिता इसी साम्प्रदायिक घृणा के हाथों शहीद हुए।

साम्प्रदायिक दंगे के अनुभव ने सरकार को भी रुक कर कुछ सोचने के लिए विवश किया। शायद उसके आगे यह स्थिति स्पष्ट हो गयी थी कि बबूल के पेड़ के रोपने से आम का फल प्राप्त नहीं होता। जब इन दंगों पर सरकार की शक्ति का अपव्यय होने लगा, शान्ति व्यवस्था में बाधा होने लगी तो सरकार को सन् १९२७ में एसेम्बली में इस विषय में एक बिल पारित करना पड़ा। उस बिल में यह कहा गया कि जो कोई व्यक्ति सम्राट की प्रजा के किसी वर्ग की धार्मिक भावनाओं पर चोट पहुँचाने का प्रयत्न करेगा वह दण्डित होगा।[2] राष्ट्र के नेताओं के आगे भी ये दंगे भयानक समस्या बन कर खड़े थे। २७ अक्टूबर १९२७ को कांग्रेस महासमिति ने एक प्रस्ताव साम्प्रदायिक दंगों के सम्बन्ध में पारित किया और देश के हिन्दुओं और मुसलमानों से अपील की गयी कि वे आपसी व्यवहार में सहिष्णुता बरतें।[3]

'कायाकल्प' की रचना के समय देश का राजनीतिक जीवन प्रायः निस्पन्द पड़ा हुआ था। लगता है, नेताओं की चिन्ता का एकमात्र विषय यह साम्प्रदायिक समस्या ही है। इसी समय गांधी जी भारतीय जनता के बीच महात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुए।[4]

१. कांग्रेस का इतिहास, पृ० २४४
२. वही, पृ० २५२
३. वही पृ० २५२-५३
४. दि इंडियन स्ट्रगल—बोस, पृ० १६१

हमें तो ऐसा दीखता है कि गांधी जी ने त्यागी महात्मा का यह बाना इसलिए भी धारण किया कि वे भारत की जनता की क्षुद्र साम्प्रदायिक भावना से हटा कर धर्म के सच्चे संदेश को उसके समक्ष लाना चाहते थे । उसे बताना चाहते थे कि हिन्दुओं के भगवान और मुसलमानों के खुदा में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । राम और रहीम एक हैं । उनके ही शब्दों को जैसे चक्रधर दुहराते हुए 'कायाकल्प' में कहता है—बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू । देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि वह किस धर्म का आदमी है ।[1]

रियासती प्रजा की दशा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' की रचना के पूर्व 'रंगभूमि' में प्रकाश डाला था । 'रंगभूमि' में प्रजा की सेवा-सहायता के लिए सेवा-समिति नामक संस्था की भी प्रस्तुति की गयी है । 'कायाकल्प' में एक बार फिर से प्रेमचन्द देशी रियासतों के विषय में विचार करते हैं । इस उपन्यास का चक्रधर अपनी सेवा समिति द्वारा रियासती प्रजा में जागरण संदेश फैलाता है, उनके बीच शिक्षा का प्रचार करता है, स्वार्थान्ध अमलों के फंदों से उनको बचाने का उपाय करता है और इस प्रकार उन्हें उपदेश देता है कि वे अपने को मनुष्य बनावें, मनुष्य समझें और किसी स्वार्थ के वशीभूत अत्याचारी राज्यकर्मचारियों की चिरौरी न करें ।[2]

'रंगभूमि' से ही हमें यह भी पता चलता है कि ताल्लुकेदारों के परिवारों में भी जागरण-संदेश पहुँच चुका है । कुंवर विनय सिंह इस विषय में प्रमाण है । 'काया-कल्प' का विशाल सिंह भी एक ऐसा ही पात्र है जो प्रजा की तबाही से दुखी होता है ।[3] लेकिन यही विशाल सिंह जब रियासत का राजा बनता है उसके सारे भाव तिरोहित हो जाते हैं । चक्रधर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में उसके प्रति यह शिकायत की है—"अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि राजा साहब के विचार मेरे विचारों से पूरे-पूरे मिलते थे । उन्हें अपने विचारों को बदलने के नये कारण हो गये हों, मेरे लिए कोई कारण नहीं ।"[4]

विशाल सिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर [illegible] प्रजा से रिया-सत को प्रथा के अनुसार वसूलने का निश्चय होता है । चक्रधर सेवा-समिति के सेवकों के साथ इस वसूली के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करने के लिए गाँव का दौरा करता है ।[5]

---

१ दि इंडियन स्ट्रगल—बोस, पृ० २३८
२. वही ,, पृ० १५६-६०
३. कायाकल्प, पृ० ५१
४. वही, पृ० १६० ।
५. वही, १३६

यहीं से उसका राजसत्ता से संघर्ष आरम्भ हो जाता है। चक्रधर को इस बात की पीड़ा है कि पढ़े-लिखे लोग ऐसे पशु हो गये हैं कि वे उनकी गर्दन दबाते हैं—जिनको गले लगाना चाहिए था और इतने जड़ हो गये हैं कि जिनसे लड़ना चाहिए उनके तलुए चाटते हैं।[1] राजा विशाल सिंह से उसके प्रगतिशील विचारों के कारण बड़ी आशा के लिए संभावना थी लेकिन गद्दी पर बैठने के छः महीने के भीतर ही उसने पुराना ढङ्ग अख्तियार कर लिया।[2] पराधीनता की परम्परा जिनकी नस-नस में व्याप्त है सद्वृत्तियां और सद्गुण उनके पास या तो पहुँच नहीं पाते, जो भूले-भटके आ भी गये तो रह नहीं पाते। राजा विशाल सिंह इस बात का प्रमाण है। लेकिन अब प्रजा जग चुकी है। चौधरी ने ठीक ही कहा है—'जब लात खाते थे तब खाते थे अब न खायेंगे।'[3] स्पष्ट है सेवा-समिति ने रियासती प्रजा को अपने अपमान और अपने प्रति होने वाले अनाचार के विरुद्ध सिर उठाना सिखला दिया है।[4]

किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संघर्ष करने के पूर्व जैसे गांधी जी और दूसरे कांग्रेस नेता अन्यायी को अन्याय करने से रोकने का प्रयास करते थे वैसे ही 'कायाकल्प' का चक्रधर राजा विशाल सिंह के पास जाकर उसे समझाता-बुझाता है।[5] लेकिन सम्पत्ति और वैभव के घटाटोप में राजा विशाल सिंह का सारा विवेक नष्ट हो चुका है। इसका परिणाम होता है—संघर्ष। रियासतों में जन-संगठन का कार्य जोर पकड़ता जा रहा था। सन् १९२७ में तो जाकर अखिल-भारतीय-रियासती-जन-सम्मेलन (आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेन्स) नामक संस्था का विधिवत प्रथम अधिवेशन भी हुआ।[6] इस संस्था ने रियासती प्रजा में जागरण-संदेश फैलाया। अब रियासतों की जनता भी जगने लगी, अपने अधिकारों को पहचनने लगी और यह अनुभव करने लगी कि ब्रिटिश भारत की पराधीन जनता से उसकी स्थिति किसी भी रूप में अच्छी नहीं है। जैसे-जैसे रियासती प्रजा में यह चेतना फैली वैसे ही वैसे वह ब्रिटिश भारत की जनता के साथ एकमेल होती गयी। इस प्रकार राष्ट्रीय मुक्ति का आन्दोलन अब केवल ब्रिटिश-भारत तक ही सीमित नहीं रह सकता था। रियासती जन-सम्मेलन धीरे-धीरे

---

१. कायाकल्प, पृ० १३८
२. वही ,,
३. वही १४५
४. वही १४५-१४६
अब तो सेवा सम्मती हमारी पीठ पर है।
५. वही—पृ० १४७
६. भा० रा० आ०—पं० शरण, पृ० १५३

भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस के निकट आता गया और अन्त में तो ऐसी भी स्थिति आयी जब ब्रिटिश भारत के जवाहरलाल जी रियासती जन-सम्मेलन के अध्यक्ष भी चुने गये।[1]

हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रियासतों में जागरण का संदेश ब्रिटिश भारत से ही गया था। अस्तु, रियासतों में जो आन्दोलन खड़े हुए वे ब्रिटिश-भारत में होने वाले आन्दोलन के प्रतिरूप ही थे।

'कायाकल्प' के रचना-काल में देश की सक्रिय राजनीति का नियमन देशबन्धु चित्तरंजन दास कर रहे थे। वे कौंसिलों में सरकार की नीति के विरुद्ध अड़ंगा लगा कर गतिरोध की स्थिति उत्पन्न करने में लगे हुए थे। गांधी जी उस राजनीति से तटस्थ होकर भारत की कोटि-कोटि अपढ़ जनता के निकट आने का उद्योग कर रहे थे। इस क्रम में गांधी जी के ध्यान में भारत के गाँव बस गये।[2]

'कायाकल्प' का चक्रधर कहता है कि नेताओं में बड़ा ऐब यही है कि वे भारत के गाँव की परिस्थितियों से अनभिज्ञ हैं। शहर में रहने वाले इन नेताओं का भारत की जनता पर इसी कारण प्रभाव नहीं पड़ता।[3] आवश्यकता इस बात की थी कि पढ़े-लिखे लोग गाँव की ओर मुड़ें और राष्ट्र का संदेश वहाँ पहुँचायें। 'कायाकल्प' का चक्रधर युनिवर्सिटी की एम० ए० डिग्री लेकर भी नौकरी नहीं करता, देहातों में जाकर जागरण-संदेश फैलाता है।

सन १९२४ से १९२६ तक का काल जिसके बीच 'कायाकल्प' की रचना हुई राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से शिथिलता का काल है। यह स्वीकार किया ही गया है कि असहयोग का जो पत्थर गया में ऊँचाई से ढलकना शुरू हुआ वह १९२६ के आरम्भ में साबरमती में करीब-करीब नीचे आ गया।[4]

प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' में भी देश की राजनीति की यह शिथिलता परिलक्षित है। चक्रधर के जीवन में भी वही शैथिल्य और अनिश्चय है जो देश के बड़े-बड़े नेताओं के जीवन में था। उपन्यास के अन्त में चक्रधर साधु हो जाता है। यद्यपि वह सेवा-कार्य में लगा हुआ है तथापि उसका यह सेवा-कार्य एक प्रकार से निष्क्रिय ही है। पक्षियों से प्रेम बढ़ाकर तो वह सक्रिय प्रतिरोधिनी-राजनीति से प्राय: पलायन ही कर जाता है।[5]

---

१. आइ० एन० एम०—एन० एस० बोस, पृ० ९४
२. कांग्रेस का इतिहास-भाग १, पृ० २३०
३. कायाकल्प, पृ० २६५
४. कांग्रेस का इतिहास, पृ० २४१
५. कायाकल्प, पृ० ४६६

निर्मला

'निर्मला' उपन्यास का प्रकाशन नवम्बर सन् १९२५ से नवम्बर १९२६ तक 'चांद' में धारावाहिक रूप में हुआ था।[1] इस युग तक आकर देश के राजनीतिक जीवन में एक प्रकार के गतिरोध की स्थिति आ गयी थी। श्री चितरंजन दास के स्वर्गवासी होने के कारण 'स्वराज्य पार्टी' का संगठन ढीला पड़ गया। स्वराज्य पार्टी के कई सदस्यों ने सरकार के साथ सहयोग किया जिसके कारण उन्हें स्वराज्य पार्टी से निकलना पड़ा। सन् १९२५–२६ के चुनाव में स्वराज्य पार्टी की हानि तो हुई ही, उसकी सदस्य-संख्या भी बहुत कम हो गयी।[2] सन् १९२६ तक आते-आते कांग्रेस में इतनी अव्यवस्था हो गयी कि उसकी स्थिति ठीक हो भी सकेगी, इसकी आशंका होने लगी।[3]

कांग्रेस की स्थिति यह थी कि गाधी जी को सक्रिय राजनीति से हटने का निश्चय करना पड़ा और परिणाम-स्वरूप उनका चितरंजन दास के साथ एक तरह का समझौता सन् १९२४ में ही हो गया था कि वे सक्रिय राजनीति से हटकर रचनात्मक कार्यों में लग जाएँगे।

इस समझौते के अनुसार महात्मा गांधी कांग्रेस से स्वतंत्र होकर खादी के काम में लग गये थे। अखिल-भारतीय-चर्खा और ग्रामोद्योग-संघ (All India Spiners Association) के नाम से चलने वाली संस्था को अब गांधी जी का पथ-निर्देशन प्राप्त हुआ। यह संस्था कांग्रेस से स्वतंत्र एक संस्था थी जिसका अपना कोष था और अपनी व्यवस्था भी थी।

सन् १९२६ में देश में एक भयानक निष्क्रियता, गतिरोध की स्थिति देखी गयी। एक प्रकार की जड़ता की सी स्थिति थी। उस समय गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाली यही संस्था-अखिल भारतीय चर्खा और ग्रामोद्योग संघ—अंधेरे बादल में रोशनी की झलक दिखलाने वाली सिद्ध हुई।[4]

देश के राजनीतिक जीवन में जो निष्क्रियता थी, उसके परिणाम-स्वरूप प्रेम-

---

१. कलम का सिपाही, पृ० ६५६
२. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ० ११४
3. The Indian Struggle—S. C. Bose, P. 175
4. Ibid, P. 176

चन्द भी निष्क्रिय हो गये हों ऐसी बात नहीं है। अंधेरे में रोशनी का जो छोटा-सा दीप टिमटिमा रहा था प्रेमचन्द ने उसका ही सम्बल ग्रहण किया और अपने सामाजिक उपन्यास 'निर्मला' में अवसर निकालकर देश-दशा को प्रतिफलित किया।

कृष्णा का भावी पति खद्दर पहनता है, खद्दर पीठ पर लाद कर देहातों में ले जाकर बेचता है, स्वयं चर्खा से सूत कातता है।[1] इससे प्रेरित होकर कृष्णा भी अपने आपको अपने होने वाले पति के अनुरूप ढाल लेना चाहती है। वह भी रात में सबके सो जाने पर चर्खा से सूत निकालती है—इसलिए कि वह अपने ही हाथ से तैयार खादी का साफा अपने होने वाले पति को उपहार-स्वरूप देना चाहती है।[2]

देश के इस कुटीर उद्योग खादी का महत्त्व अर्थ की दृष्टि से भी होता है। खादी गरीबों को रोजी-रोटी देती है और वस्त्र-विषयक हमारी परवशता की स्थिति को हटाती है, स्वावलम्बी बनाती है।

किन्तु निर्मला उपन्यास में यह प्रसंग किसी आर्थिक-समस्या के समाधान के रूप में नहीं आता। इस प्रसंग की अवतारणा यह दिखाने के लिए होती है कि गांधी जी की प्रेरणा से रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का एक दल देश में तैयार हो रहा है और खादी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू हो गयी है।

'निर्मला' की कृष्णा के व्याज से प्रेमचन्द ने यह भी दिखाया है कि भारत का नारी-समाज भी इस खादी आन्दोलन को बल देने के लिए खड़ा हो रहा है। खादी के पीछे जो पवित्र प्रेरणा थी उसे जिस दिन हमारा नारी-समाज अंगीकार कर ले उसी दिन लंकाशायर की मिलों में ताले लग जायें और भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव की पकी-पकायी ईंट भी खिसक उठे।

प्रेमचन्द को सन्तोष है कि भारत का नारी-समाज भी जग चुका है और वह पुरुष-वर्ग के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर राष्ट्र-यज्ञ में आहुति देने के लिए तैयार खड़ा है। 'निर्मला' में राष्ट्रीय चेतना का यही रूप प्रतिफलित है।

---

१. निर्मला, पृ० १३०

२. वही, पृ० १३१

गबन

प्रेमचन्द के 'गबन' का प्रकाशन सन् १९३१ के आरम्भ में हुआ[1] यद्यपि उसका लेखन-कार्य १९२९ से ही आरम्भ हो चुका था।[2] भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में सन् १९२९ से लेकर १९३१ तक का समय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय चेतना के आलोड़न-विलोड़न के इस महत्वपूर्ण काल का प्रेमचन्द जैसे कलाकार पर प्रभाव पड़ना सहज है।

मूल रूप में मध्यवर्गीय जीवन की एक समस्या को लेकर चलने वाला यह उपन्यास आगे चलकर सामाजिक उपन्यास मात्र नहीं रह जाता। सामाजिक उपन्यास के वृत्त से आगे निकल कर नयी राष्ट्रीय चेतना का दिग्दर्शक भी हो जाता है। उपन्यास का नायक रमानाथ उस मध्यवर्ग से आया है जिसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु साधन जुटाने ही पड़ते हैं। यह साधन प्रायः ऋण है और उससे हटकर न्यास का गबन। रमानाथ गबन के सिलसिले में भागकर कलकत्ता जाता है जहाँ केवल सन्देह पर उसे पुलिस गिरफ्तार कर लेती है। और वहीं से लेखक को पुलिस के हथकंडों और उसके मनमाने अत्याचार का पर्दाफाश करने का सुयोग मिल जाता है। इस तरह गबन के कथानक के दो हिस्से हो जाते हैं। पूर्वार्द्ध तक तो वह एक पारिवारिक सामाजिक उपन्यास है और उत्तरार्द्ध में एक प्रकार का राजनैतिक उपन्यास।

कुछ आलोचकों ने 'गबन' के उत्तरार्द्ध की कथा पर सन् १९२९ में चलने वाले मेरठ षड्यन्त्र केस का प्रभाव बतलाया है। अस्तु, हमें यह देखना होगा कि यह कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है? क्या सचमुच 'गबन' के उत्तरार्द्ध की रचना मेरठ-षड्यन्त्र केस की पृष्ठभूमि में हुई है?

इन प्रश्नों के विषय में अपनी धारणा स्थिर करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उक्त मेरठ-षड्यन्त्र केस का संक्षेप में विचार किया जाय।

मार्च सन् १९२९ में सरकार ने मजदूरों के बीच काम करने वाले कुल मिला कर ३१ व्यक्तियों को गिरफ्तार किया था।[3] इन व्यक्तियों में जो लोग थे वे देश के नाना भागों से आये थे लेकिन उन सब को गिरफ्तार करके एक ही जगह मेरठ जेल में रखा गया था। इसी से मुकदमे का नाम मेरठ केस हुआ। इन व्यक्तियों में कुछ ऐसे

१. कलम का सिपाही, पृ० ६५५
२. वही पृ० ४१०
३. प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० २३६—कहना न होगा कि गबन के इस मुकदमे में सन् १९२९-३० में सुख्यात मेरठ षड्यंत्र केस की अत्यन्त स्पष्ट गूंज है। तथा कलम के सिपाही।

लोग थे जो भारत की आजादी की लड़ाई और पूंजीवादियों के विरुद्ध चलने वाले मजदूर-आन्दोलन के अग्रणी के रूप में ख्यात हुए। इनमें तीन अभियुक्त भारत-प्रेमी अंग्रेज भी थे। यह मुकदमा भारतीय दण्ड संहिता की १२१ ए नामक धारा के अन्तर्गत चलाया गया था।

देश में उस समय आजादी की माँग जोर पर थी। जितनी तत्परता से मांग की जा रही थी उतनी ही तेजी से ब्रिटिश-सरकार का दमन-चक्र भी चल रहा था। डा० पट्टाभिसीता रमैया ने सन् १६२६ और ३० की अवधि में होने वाली राष्ट्रीय जागृति के काल को तैयारी का काल कहा है। उन दिनों मेरठ केस के अलावा कई अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। अनुदार-दलीय ब्रिटिश-सरकार द्वारा गठित साइमन कमीशन उन्ही दिनों भारत का दौरा कर रहा था। यद्यपि देश भर में इस कमीशन का उग्र विरोध हुआ था फिर भी येनकेन प्रकारेण कमीशन ने १४ अप्रैल १६२६ को अपना काम समाप्त कर लिया। उन्हीं दिनों डा० सदरलैन्ड की पुस्तक 'इण्डिया इन बॉडेज' भी जब्त हुई और उसके प्रकाशक बाबू रामानन्द चटर्जी को ऐसी उत्तेजना फैलाने वाली पुस्तक के प्रकाशक होने के दंड-स्वरूप गिरफ्तार किया गया।[3] सन् १६२६ में ही लाहौर षड्यन्त्र केस भी हुआ था जिसके अभियुक्तों की सुरक्षा के लिए धन एकत्र करने वाले सात युवकों को पुलिस ने स्वयं जिला मैजिस्ट्रेट की उपस्थिति में इसलिए पीटा कि उन्होंने साम्राज्यवाद का नाश हो और क्रान्ति अमर हो जैसे नारे लगाये थे। यही नहीं, इससे आगे बढ़ कर अभियुक्तों को भी न्यायाधीश के सामने खुली अदालत में पीटा गया। कलकत्ते में एक सामूहिक अभियोग भी उन्हीं दिनों चल रहा था जिनके अभियुक्तों में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य श्री सुभाषचन्द्र बोस भी थे। सन् १६२६ में ही भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने एसेम्बली में बम फेंके थे। ६४ दिनों के उपवास के बाद यतीनदास की मृत्यु भी १३ सितम्बर १६२६ को हुई थी।

इस तरह इस काल में एक मेरठ केस ही नहीं बल्कि ऐसी कई घटनाएँ घटीं जिन्होंने जनमानस को आन्दोलित किया।

प्रेमचन्द यदि चाहते तो इन सारी घटनाओं को अपनी रचना के लिए विषय बना सकते थे लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। यह भी इसलिए कि प्रेमचन्द ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक तो थे नहीं कि इन घटनाओं के इतिवृत्तात्मक आख्यान का प्रयास करते।

प्रेमचन्द सही मानों में सामाजिक जागृति के सन्देशवाहक थे, राजनीतिक या धार्मिक आन्दोलन उनके उपन्यासों में समाज के माध्यम से ही आते हैं, स्वतंत्र रूप में

१. कांग्रेस का इतिहास—पृ० २७१
वही पृ० २७५

नहीं। इसलिये मेरठ केस को पटभूमि के रूप में ही वह ले सकते थे। अब हम यह देखें कि मेरठ केस को किसी भी रूप में ग्रहण करने की आखिर प्रेमचन्द को क्या आवश्यकता पड़ गयी ?

मैं तो ऐसा अनुभव करती हूं कि प्रेमचन्द के ध्यान में मेरठ केस उतना नहीं है जितना सितम्बर १६२८ का वह पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट है जिसके द्वारा पुलिस को अबाध अधिकार मिल गये थे। अधिकार भी ऐसे कि वह जब और जैसे चाहती जिसके भी विरुद्ध चाहती जाल रच कर मुकदमे खड़ा कर सकती थी। भारतीय जनता का सबसे बड़ा शत्रु यह पुलिस-वर्ग है इसका अनुभव प्रेमचन्द ने बहुत पहले ही कर लिया था।[1] वे जानते थे कि पुलिस नागरिकों की सम्मान-रक्षा या सुरक्षा के लिए नहीं बनी है वरन् वह ब्रिटिश साम्राज्य का आतंक फैलाने वाला सिद्ध हथियार है।

ब्रिटिश शासन में पुलिस की सत्ता पहले से ही सर्वोपरि थी। उस पर करैला और वह भी नीम चढ़ा को चरितार्थ करने के लिए पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट के रूप में उसको और भी शक्तिसम्पन्न करने का उद्योग एक ऐसी सरकार ही कर सकती थी जिसकी नियत देश में संवैधानिक शासन कायम करने की स्वल्प भी न हो।

स्वयं उक्त बिल का कानून बनना भारत में उत्तरदायी शासन-व्यवस्था की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले आन्दोलन के प्रति एक करारा व्यंग्य था। जिस प्रस्ताव को धारा सभा ने एक नहीं दो-दो बार अजेय बहुमत से ठुकरा दिया हो उसे कानून की शक्ल देना[2] भारत में संवैधानिक शासन की स्थापना के लिए प्रतिश्रुत ब्रिटिश शासन का फूटा हुआ ढोल पीटना ही था। लेकिन उस सरकार से हम शिकायत भी क्या कर सकते थे जो एक मुँह से दुनिया को सुझाने, सुनाने के लिए उच्च आदर्शों की दुहाई देती थी और दूसरे से पुलिस को घोर दमन के लिए उत्साहित करती थी।

इधर भारत की जनता भी जो मेरठ और लाहौर केसों जैसी घटनाओं को भारतीय स्वतंत्राकांक्षा के ज्वालामुखी का विस्फोट मानती थी और इस बात की बहुत चिन्ता नहीं करती थी कि वैसे आन्दोलनों से आतंकवाद और हिंसा को अनुचित बल मिलता है—वह बड़ी उत्सुकता के साथ यह देख रही थी कि सरकार भारत की आजादी की इस लड़ाई को किस तरह दबाती है, दबा पाती है या नहीं।

इस पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट ने जनता के नागरिक अधिकार को कितना पंगु बना दिया यही 'गबन' के उत्तरार्द्ध में चित्रित किया गया है। इसी तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए 'गबन' के कथानक में एक मोड़ भी आ गया है।

---

१. वरदान—पृ० ६०

२. कांग्रेस का इतिहास—पृ० २७५

पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट द्वारा प्रदत्त अबाध अधिकारों के कारगर हथियारों से लैस पुलिस की नादिरशाही अब खुलकर प्रकट हुई। अब राष्ट्र-सेवकों को झूठे इलजामों में पकड़ा जा सकता था, उनके विरुद्ध मुकद्दमों का जाल खड़ा किया जा सकता था, सरकारी पक्ष का समर्थन करने वाले मुखबिरों को कानूनी ढंग से संरक्षण देकर राष्ट्र-सेवकों की उन कोशिश को नकामयाब किया जा सकता था जिनसे वे अपना बचाव कर सकें और फिर न्यायाधिकरण को भी पंगु बनाया जा सकता था।

'गबन' के उत्तरार्द्ध में पुलिस के ऐसे ही हथकंडों का भंडाफोड़ किया गया है।

'गबन' का रमानाथ म्युनिसिपल बोर्ड के रुपयों का गबन करके घर से अपराधबोध की स्थिति में निकल भागा था। कलकत्ते में सौभाग्यवश देवीदीन खटिक और उसकी पत्नी जग्गो जैसी उदार दम्पति के वात्सल्य की छाया उसे प्राप्त हो जाती है और लिखने का काम कर जीविका का अर्जन भी वह करने लगता है। इस प्रकार अपने कलकत्ता-प्रवास में रमानाथ सत्संगति में है और मेहनत-मजदूरी करके कालक्षेप कर रहा है। वह समाज या सरकार के विरुद्ध कोई आचरण नहीं कर रहा है। इससे पुलिस से डरने का उसके लिए कोई कारण नहीं है। फिर भी गबन के अपराध-बोध का खटका उसके मन में तो है ही। इसके कारण वह सहज ही पुलिस के चंगुल में फँस जाता है।

कहना न होगा कि अंग्रेजों की पुलिस १०० में ९९ अवसरों पर अनुमान के भरोसे ही अपराधी को अपने पंजे में गिरफ्तार किया करती थी। पुलिस के आतंक के कारण भारत के नागरिक अपने मौलिक अधिकारों की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अंग्रेजों का राज्य सही मानो में पुलिस राज्य था। इससे उस जमाने में किसी में पुलिस विरोध करने की हिम्मत ही नहीं थी। ऐसे ही परिप्रेक्ष्य में गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय रङ्गमंच पर अवतीर्ण होकर प्रजा के मौलिक अधिकारों की मांग प्रस्तुत की और भय के उस भूत को हटाने का उद्योग किया जिसके कारण भारतीय जनता मूक पशु की दशा में पड़ी हुई थी।

परिणाम हुआ कि अब भारत में ऐसे लोग भी नजर आने लगे जो अपने अधिकारों के प्रति सजग थे और स्वयं कानून की मर्यादा निभाते हुए इस बात की भी अपेक्षा रखते थे कि शासन भी कानून का पालन करे। 'गबन' में इसी की अभिव्यक्ति वहाँ प्राप्त होती है जहाँ राह चलते जब रमानाथ पुलिस की नजर से अपने को बचाने के लिए आड़ खोजता है तब पुलिस की सतर्क आँखें यह देख लेती हैं कि यह उससे किसी काम आ सकता है।[1] रमानाथ सिपाही के हाथ पकड़ने पर आपत्ति करता है और कहता है—वारंट लाओ तब हम चलेंगे।[2]

१. गबन
२. वही, पृ० २७७

रमानाथ आपत्ति करते हुए कहता है कि वह एक सम्भ्रान्त नागरिक है और उसे अपना अधिकार विदित है। वह कोई देहाती नहीं जो नागरिक अधिकार के प्रति अनजान हो।[1] लेकिन अंग्रेजों की पुलिस नागरिकों के अधिकार की चिन्ता कहाँ किया करती थी?[2]

राष्ट्रभक्तों के विरुद्ध जो राजद्रोह के मुकदमे गढ़कर चलाये जाते थे न्यायालय में उनकी सफलता के लिए पुलिस को मुखबिर खड़ा करना पड़ता था। मुखबिर मामले से सम्बद्ध हों ही यह एकदम जरूरी नहीं था। पुलिस अपने पक्ष-समर्थन के हेतु झूठे मुखबिर खड़ा करती थी और उनकी झूठी शहादत के बल पर सरकारी मुकदमों का फैसला सरकार के पक्ष में हुआ करता था। 'गबन' में रमानाथ को जिस तरह मुखबिर बनाया गया है उससे मुखबिरों की असलियत का पर्दाफाश होता है।

'गबन' में रमानाथ को किसी डकैती के मामले में मुखबिर बनाया गया। सामान्यतः डकैती जैसे साधारण मामलों में मुखबिर का प्रयोग पुलिस वाले नहीं करते। इससे प्रेमचन्द को अपने आलोचकों को सन्तुष्ट करने के लिए यह बताना पड़ा है कि डकैती का वह मामला एक विशेष महत्त्व का हो गया था। उसके अपराधियों का पता नहीं चल रहा था और इससे पुलिस कप्तान के आगे छोटे पुलिस कर्मचारियों की अकर्मण्यता सिद्ध हो रही थी। अस्तु, पुलिस के निम्न पदस्थ कर्मचारी बड़ी तत्परता के साथ उस डकैती के असली अभियुक्तों के बदले में चाहे जिस किसी निरपराध को फँसाकर मुकदमा चलाना चाहते थे। पुलिस के ऐसे मुकदमों में अक्सर निर्दोष आदमी ही दंडित होते थे। 'गबन' का दिनेश एक ऐसा ही पात्र है जिसको पुलिस के प्रपंच और रमानाथ की झूठी गवाही के प्रमाण पर डकैती के उस मामले में फाँसी की सजा दी गयी और दूसरे पाँच को दस-दस साल तथा अन्य आठ अभियुक्तों को पाँच-पाँच साल की कैद की सजा मिली।[3]

प्रेमचन्द इस व्याज से यह बताना चाहते थे कि पुलिस की चाल न्याय पर किस प्रकार हावी हो गयी थी।

उस जमाने में मुखबिर को अपने जाल में फँसाने के लिए पुलिस हर सम्भव अस्त्र का प्रयोग करती थी। 'गबन' में जौहरा नाम की वेश्या को पुलिस ने मुखबिर रमानाथ के मनुहार[4] के लिए नियुक्त कर रखा था। रमानाथ को जाने क्या-क्या प्रलोभन दिये गये थे।[5]

---

१. गबन, पृ० २७०

२. वही—पकड़ लोजी इनका हाथ। वहीं थाने पर वारंट लिखाया जायगा।

३. वही, पृ० ३४७

४. वही, पृ० ३६३

५. वही, पृ० २७६

प्रेमचन्द ने पुलिस के हथकंडों का विवरण प्रस्तुत करने के साथ-साथ अंग्रेजी न्याय-विधान के दोषों की ओर भी संकेत किया है। अंग्रेजों का न्याय विधान झूठ पर टिका हुआ था। कचहरी में जज के आगे मुकदमे का रूप क्या होगा यह उसी दिन सोच लिया जाता था जिस दिन मुकदमा थाना में दर्ज होने के लिए आता था। सचाई के ऊपर जितने भी वैठन लगाये जा सकते थे लगाये जाते थे। एक तरह से मुकदमों का पूर्ण नियमन पुलिस के हाथों होता था।

इस प्रकार 'गबन' के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों के पुलिस राज्य की कुरूपताओं का चित्रण किया गया है। जनता की सुरक्षा के नाम पर बनने वाले पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट से जनता की जो सुरक्षा और भलाई हो रही थी—'गबन' की इस कहानी से ज़ाहिर है।

प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन को अत्यन्त निकट से देखा था। वे अपने संस्कारों से एक सच्चे देहाती थे और यह भी जानते थे कि पुलिस का सबसे अधिक आतंक देहात के लोगों पर ही होता है। शरद बाबू भी बहुत बड़े विस्तार-फलक लेकर उपन्यास की रचना करते थे। उनका "पल्लि समाज" इसका प्रमाण है। लेकिन प्रेमचन्द का अनुभव उनसे भी बड़ा था। इसलिए कि 'पल्लि समाज' में जहाँ सब कुछ है—पुलिस नहीं है, वहीं प्रेमचन्द के एकाधिक उपन्यासों में पुलिस है जिसके आतंक, अनाचार और प्रपंच के चित्रण करने में प्रेमचन्द को बड़ी दक्षता प्राप्त थी।

प्रेमचन्द गांधी-युग की उपज तो थे ही 'कांग्रेस मैन'[1] भी थे और गांधीवाद का उनके जीवन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा था।

गांधी-दर्शन एक आस्तिक दर्शन है। उसे मनुष्य के प्रति बड़ी ही आस्था है। प्रेमचन्द गांधी जी के विचारों से ऐसे प्रभावित हुए थे कि वे यह मानते थे कि आदमी न सर्वथा भला होता है और न नितान्त बुरा ही। वह एक ऐसा प्राणी है जिसमें देवत्व भी है और दानवत्व भी। इसीसे वह मनुष्य है—न देवता, न राक्षस। मनुष्य की परिस्थितियाँ उसके जीवन का सूत्र संचालन करती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में आदमी के हृदय के सिंहासन पर बैठा हुआ देवता अपदस्थ हो जाता है और उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ उभड़ उठती हैं। लेकिन यदि किसी तरह उसके देवत्व को जगा दिया जाय तो उसका कायाकल्प हो सकता है। संक्षेप में प्रेमचन्द गांधी जी के इस मत में विश्वास करते थे कि आदमी का हृदय-परिवर्तन सम्भव है और इसलिए मनुष्य से निराश होने की जरूरत नहीं है।

'गबन' में प्रेमचन्द ने इसी कारण यह बताया है कि सरकार की ओर से पु[illegible]

---

1. विविध प्रसंग पृ० ४५०

गवाही देने वाले मुखबिरों की आत्मा भी अपने कृत्य का स्मरण कर तड़प उठती थी और वे अपनी स्थिति से विद्रोह कर उठते थे और उनकी ऐसी प्रतिक्रिया के कारण पुलिस को बड़ी परेशानी उठानी पड़ती थी।[1]

पुलिस ने 'गबन' के मुखबिर रमानाथ की दिलबस्तगी के लिए जोहरा नामक जिस वेश्या का प्रयोग किया है वह सरकारी कार्य सिद्ध करने के लिए अपना शरीर बेचती है लेकिन अपने हृदय के देवता के जगने पर वह क्या से क्या हो जाती है![2]

राष्ट्रीय-कांग्रेस का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि महात्मा गांधी के राष्ट्रीय मुक्ति-यज्ञ के होता रूप में आविर्भूत होने के पूर्व कांग्रेस संस्था पर उच्च वर्ग अथवा उससे नीचे उतर कर उच्च मध्य वर्ग का प्रभाव था। देश के बड़े-बड़े नेता जो राष्ट्र को बन्धन-मुक्त करने के लिए कांग्रेस के मंच से आन्दोलन कर रहे थे समाज के उपरले स्तर के थे। उनका जैसा रहन-सहन था, उससे भारत की साधारण जनता को यह आश्वासन नहीं हो पा रहा था कि वैसे नेताओं के प्रयत्न से मिलने वाले स्वराज्य से जनता की किस्मत बदलेगी, उसकी दुर्दशा के दिन टल जायेंगे और उसके शोषण की कथा का अन्त हो जायगा। सच तो यह है कि यह विश्वास, यह आश्वासन उसे होता भी कैसे? कांग्रेस समग्र देश की सही अर्थ में प्रतिनिधि संस्था तब तक नहीं बन पायी थी। सम्पूर्ण राष्ट्र की ओर से बोलने का उसका अधिकार यदि कुछ था तो यही कि पूरा देश अंग्रेजों की गुलामी का जुआ उतार कर फेंकने के लिए व्यग्र हो उठा था और और बन्धन-मोचन का यह आन्दोलन कांग्रेस के मंच से ही चलाया जा रहा था। जनता के नेता जनता से दूर थे। वे जैसे रहते-बरतते थे, उससे जनता के मन में उनके प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता था। जनता की शिकायत थी कि बड़े-बड़े देशभक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता—दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर के और सब सामान विलायती हैं ''उस पर दावा यह कि देश का उद्धार करेंगे।[3]

ऐसे ही नेताओं को लक्ष्य करके गबन का देवीदीन कहता है—अभी तो तुम्हारा राज नहीं है तब तो तुमलोग भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे।[4]

गांधी जी ने अनुभव किया कि देश के किसान और मजदूर यह ठीक ही समझ रहे थे कि कांग्रेस संस्था पर उसी उच्च वर्ग अथवा उच्च-मध्य वर्ग का प्रभाव बद्धमूल

---

१. गबन—पृ० ३६५-७

२. वही पृ० ४००

३. वही पृ० २१८

४. वही पृ० २१६

है जिनके बीच से वे लोग निकल कर आते रहे हैं जो जनता का शोषण करते हैं जैसे-दारोगा, वकील, डिपुटी ।

यह स्वाभाविक था कि कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करते समय गांधी जी यह अनुभव करें कि यदि देश को स्वातंत्र्य-आन्दोलन में सफलता पानी है तो कांग्रेस को अपना कलेवर बदलना होगा । किसानों और मजदूरों अर्थात् भारत की विपन्न और शोषित जनता का सही मानी में प्रतिनिधित्व करके जन संस्था बनना होगा । जनता के इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा कि क्या स्वराज्य मिलने पर दस-दस, पाँच-पाँच हजार पाने वाले सरकारी मुलाजिम नहीं रहेंगे, क्या वकीलों की लूट बन्द हो जायेगी और पुलिस का अनाचार रुक जायगा ?[1]

स्वयं महात्मा गाँधी भारत के पुराचीन निस्पृह सन्तों की परम्परा के थे । इस देश में उसी की बात सुनी जाती है जो त्यागी, तपस्वी होता है, कुटिया में रहता है और जनता के साथ साधारणता के धरातल पर एकमेव हो सकता है ।[2]

इंगलैन्ड से वैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त कर आने वाले मिस्टर मोहन दास करमचन्द गांधी साबरमती के संत होकर ही देश में महात्मा के नाम से विख्यात हुए और फिर सारे देश ने उनको बापू करके जाना । अस्तु, गांधी जी जनता के हृदय के प्रत्येक स्पन्दन को सही मानी में समझ सकते थे । यही कारण है कि उन्होंने कांग्रेस जनों के लिए त्याग और तपस्या का आदर्श स्थिर किया, कांग्रेस को जन-संस्था बनाया ।

'गबन' में जिस देवीदीन का वृतान्त आता है वह निम्न वर्ग का है, मेहनत-मजदूरी करता है, खद्दर पहनता है, राष्ट्रीय यज्ञ में उसने अपने दो बेटों की आहुति दी है ।[3]

कांग्रेस को ऐसे ही लोगों की संस्था के रूप में खड़ा होना होगा । तभी उसकी आवाज देश की आवाज समझी जायेगी ।

कर्मभूमि

प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास की रचना भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के उस दौर के समय हुई जब राष्ट्र ने स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगा दी थी ।

---

१. गबन—पृ०२१८

२. दि इण्डियन स्ट्रगल—पृ० १६१

३. गबन—पृ० २१६

सन् १६२८ में सर्वदल सम्मेलन के तत्त्वावधान में तैयार होने वाले भारत के संविधान के प्रारूप में भारत का राजनीतिक लक्ष्य ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के अन्तर्गत औपनिवेषिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति निर्धारित किया गया था।[1] सर्वदल-सम्मेलन ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया था कि भारत की इस राष्ट्रीय मांग को वह अविलम्ब स्वीकार कर ले।

लार्ड इरविन ने ब्रिटिश सरकार की ओर से यह घोषित किया कि सन् १६१७ के शासन-सुधार की घोषणा में ही ब्रिटिश सरकार की ओर से यह स्वीकार किया गया था कि भारत की राजनीतिक आकांक्षा औपनिवेषिक स्वराज्य की प्राप्ति है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकार भी सचेष्ट है और उसकी सचेष्टता का परिणाम गोलमेज कान्फ्रेंस का आयोजन है। किन्तु, गांधीजी सरकार की चिकनी-चुपड़ी बातों में अब फँसने को तैयार नहीं थे। उन्होंने वायसराय से स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करने के लिए कहा कि ब्रिटिश सरकार भी भारत में औपनिवेषिक स्वराज्य की अविलम्ब स्थापना करना चाहती है। वायसराय ऐसी कोई घोषणा न कर सके और इस प्रकार उनके और उनकी सरकार के मन का चोर प्रकट हो गया।[2]

देश अब अधिक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। देश के एकमात्र नेता महात्मा गांधी ने बड़ी आस्था और जिम्मेवारी के साथ यह घोषित किया था कि वे अंग्रेजी राज्य के इसलिए विरोधी हैं कि उसने भारत को नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह से बर्बाद कर दिया है।[3] ब्रिटिश राज्य भारत के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ है। अस्तु, उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना सर्वथा उचित है।[4] गांधी जी ने यह भी बताया कि 'भिक्षां देहि' की राजनीति से उनका विश्वास अब उठ गया है। अब राजद्रोह उनका धर्म हो गया है। ब्रिटेन के सत्यानाशी शासन का अन्त कर देने के लिए गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस कृतसंकल्प हो चुकी है। अस्तु, 'कर्मभूमि की रचना उस युग में होती है जब स्वतंत्रताकांक्षी भारत, अनीति, अनाचार और' अत्याचार पर टिकी हुई ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के विरुद्ध जन-आन्दोलन छेड़े हुए था।

ऊपर यह बताया गया कि इस समय तक आकर देश को यह अनुभव हो गया कि ब्रिटिश शासन ही भारत के नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी था। ऐसे शासन के विरुद्ध देश को जो आन्दोलन

---

१. दि० आई० एन० एम०—एन० एस० बोस, पृ० ७४
२. वही पृ० ७६-७७
३. कांग्रेस का इतिहास—पृ० २८८-८६
४. वही भाग १—पृ० ३०६।

चलाना था उसकी अवश्य ही कोई एक विशेष दिशा नहीं होती, उसे बहुमुखी होना ही था।

प्रेमचन्द जैसे युग के प्रत्येक स्पन्दन के पारखी के लिए इसी से, यह स्वाभाविक ही था कि वे राष्ट्र के इस सक्रिय प्रतिरोध के बहुमुखी रूप का अनुभव करते। उनका 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास सन् १९३०-३२ के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में रचित तो है ही यह अपने नाम से ही इस बात की ओर भी संकेत करता है कि अर्जियाँ भेजने का, चिरौरी करने का युग अब भारत में लद चुका है और राष्ट्र कर्मभूमि में अवतीर्ण होकर अपने न्यायोचित अधिकार की प्राप्ति के लिए संघर्ष-रत है। 'कर्मभूमि' में इस बहुमुखी संघर्ष का रूप बड़ा ही स्पष्ट है।

कर्मभूमि' में आन्दोलन की सक्रियता, अछूतों के मंदिर प्रवेश के प्रश्न को लेकर प्रकट हुई है। धनी-मानी सेठों के मन्दिर के प्रांगण में कथा सुनने का उत्साह लेकर आने वाले अंत्यजों को हिन्दू धर्म के रक्षक जब जूते मार कर मन्दिर से बाहर कर देते हैं तब डाक्टर शान्तिकुमार के मन में विद्रोह-भाव उत्पन्न होता है।[1] वह यह देखकर हैरान है कि घी में चरबी मिला कर बेचने-वाले सेठों और रिश्वतें खाने वाले मुलाजिमों के लिए तो मन्दिर का दरवाजा खुला हुआ है लेकिन सच्ची निष्ठा लेकर आने वाले हरिजनों के लिए भगवान के मन्दिर का दरवाजा बन्द है।[2] शान्तिकुमार जानता है कि धनियों के इस अत्याचार का अन्त तभी हो सकता है जब अछूत यह समझ लें कि मन्दिर किसी एक आदमी या सम्प्रदाय की चीज नहीं है। यह हिन्दू-मात्र की चीज है और ऐसी स्थिति में अछूतों को मन्दिर-प्रवेश के अपने अधिकार पर आत्मोत्सर्ग का सजीव संदेश प्रचारित कर उन्हें संगठित करता है और मन्दिर प्रवेशार्थ मन्दिर के द्वार पर उन्हें ले जाता है। शान्तिकुमार जानता है कि अछूतों के इस संगठन को भङ्ग करने के लिए दमन हो सकता है, धनियों के इशारे पर गोलियों की वर्षा भी हो सकती है। लेकिन धर्म की रक्षा सदा प्राण देकर की गई है। इसलिए इसके लिए अछूतों को तैयार रहना ही होगा।[3] स्पष्ट है, शान्तिकुमार न्यायोचित अधिकार के लिए अहिंसक आन्दोलन छेड़ता है। शान्तिकुमार का उद्देश्य जोर-जबर्दस्ती करने का नहीं है। वह इतना ही चाहता है कि भगवान के भक्तों को भगवान के मन्दिर में जाकर उनके दर्शन की सुविधा मिलती रहे। सवर्ण भी हिन्दू होने के नाते अछूत भी

---

१. कर्मभूमि—२००
२. वही पृ० २०१
३. वही पृ० २०४-५
४. वही पृ० २०५

पहुँचने का उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। इस अधिकार को अछूत अपने अज्ञान के कारण भूल बैठे थे। लेकिन यह भी तो सही है कि जब जग जायें तभी सवेरा है। लेकिन हमारा अनुदार उच्चवर्ग अछूतों को हिन्दू ही कहाँ समझता है जो उन्हें मन्दिर में घुसने दे ? सेठों और धनियों को तो शान्तिकुमार के नेतृत्व में अछूतों की भीड़ को मन्दिर के द्वार पर देखकर ऐसा लगा होगा जैसे वह भीड़ उनके स्वत्व, उनकी तिजोरी छीन लेने के लिए बढ़ आयी है। इसी से वे भीड़ का मुकाबला करने के लिए शक्ति-प्रयोग करते हैं। बस, अछूतों की भीड़ के ऊपर पंडे-पुजारियों की लाठियाँ बरस पड़ती हैं। शान्तिकुमार को भी गहरी चोट लगती है।[1] इस घटना की प्रतिक्रिया भी हुई और परिणाम-स्वरूप पुलिस ने गोलियाँ चलायीं। अन्त में पंडे-पुजारियों और धनी-मानी सेठों की मनमानी पर अछूतों की सच्ची निष्ठा की विजय हुई। इस घटना से यह सूचित होता है कि संघ-शक्ति बेबसों में भी शक्ति का ज्वार उठा देती है। सेठों की शक्ति बड़ी थी, उनके पीछे पुलिस की ताकत भी थी फिर भी जनशक्ति के आगे वे सर्वथा निरुपाय सिद्ध हुए।

'कर्मभूमि' में जो दूसरा आन्दोलन खड़ा हुआ है उसका सम्बन्ध म्युनिसिपल बोर्ड से है। डा० शान्तिकुमार नागरिकों के उस वर्ग की सेवा में लीन है जो उपेक्षित, शोषित, अभाव-ग्रस्त और विपन्न है। रेणुका देवी की सम्पत्ति का ट्रस्टी बन कर वह इस वर्ग के उत्थान के हेतु प्रत्येक महल्ले में अपने सेवाश्रम की शाखाएं खोलता है।[2] उसने सेवाकार्य के लिए जो कार्यक्रम स्थिर किया है उसके अन्तर्गत गरीबों को नगर में सस्ते मकान देने की योजना भी है।[3] इन मकानों के लिए जमीन की व्यवस्था म्युनिसिपल बोर्ड ही कर सकता है। किन्तु, बोर्ड के स्वार्थी सदस्यों के हाथों शान्तिकुमार की आशालता पर तुषारपात होता है। डा० शान्तिकुमार इस दूसरे संघर्ष में बहुत सक्रिय होने का पहले विचार नहीं रखता था। वह चाहता है कि उसकी इस योजना के पक्ष में पहले जनमत तैयार हो ले ताकि बोर्ड[4] के सदस्यों को इस बात का अनुभव हो कि जो म्युनिसिपैलिटी स्कूलों और कालेजों और तो और मिलों के लिए जमीन का प्रबन्ध कर सकती है उसे ही गरीबों के लिए सस्ते मकान बनाने के लिए जमीन भी देनी चाहिए। रेणुका देवी की पुत्री सुखदा में शान्तिकुमार की सी सहनशीलता नहीं है। जब वह यह देखती है कि म्युनिसपल-बोर्ड के सदस्यों की खुशामद व्यर्थ गई

---

१. कर्मभूमि, पृ० २०६
२. वही पृ० २३४
३. वही पृ० २३४-५
४. वही पृ० २३५

तब वह उसी जनशक्ति का आह्वान करना चाहती है जिसके खड़ा होते ही अछूतों के लिए मंदिर का दरवाजा खुल गया था। वह यह भी जानती है कि प्राणों की आहुति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देनी होगी। लेकिन, वह उसके लिए तैयार है। सुखदा[1] का कहना है कि डाक्टर शान्तिकुमार अनुनय-विनय के रास्ते चल कर गरीबों के लिए बोर्ड से यह रिआयत नहीं प्राप्त कर सका, उसकी प्रार्थना निष्फल गयी तो इससे स्पष्ट है अब अर्जियां भेजने से काम चलने वाला नहीं है, रिआयत न करने का बोर्ड को यदि अख्तियार है तो गरीबों को भी अपने हक पर जान देने का पूरा अधिकार है।[2] फलस्वरूप हड़ताल का प्रबन्ध होता है और लड़ाई ठन जाती है। ये हड़ताली भी उत्पात करने की नीयत से नहीं आते हैं, सिर्फ यह दिखाने आते हैं कि बोर्ड के फैसले को उन्होंने अन्यायपूर्ण समझ कर स्वीकार नहीं किया है और वे तब तक हड़-ताल जारी रखेंगे जब तक बोर्ड अपने अनुचित निर्णय को बदल नहीं देता।[3] इस आन्दोलन को भी दबाने के लिए पुलिस पहुँच जाती है। वह दमन करती है और आन्दोलन के सभी नेताओं को जैसे सुखदा, शान्तिकुमार, रेणुका देवी, पठानिन, अमरकान्त, एक के बाद एक करके गिरफ्तार कर लेती है। नेताओं की गिरफ्तारी से आन्दोलन ठप्प नहीं पड़ता। अन्त में इसका नेतृत्व ग्रहण करने के लिए नैना आ जाती है। उसका पति सेठ मनीराम उसे इस स्थिति में देखकर आवेश में आ जाता है और उस पर गोली चला देता है।[4] मनीराम व्यक्तिगत रूप से इस आन्दोलन से प्रभावित नहीं है—फिर भी वह विरोध में खड़ा होकर अपनी ही पत्नी पर गोली चलाता है। इससे स्पष्ट है कि धनियों के हृदय में गरीबों के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति, समवेदना नहीं है। और निहित स्वार्थ वर्ग का एक ही स्वार्थ है। वह यह कि गरीब अनन्त काल तक गरीब बने रहें, बेचारे बने रहें। किन्तु नैना का यह बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। म्युनिसिपल बोर्ड को अपना पहला निर्णय बदलना पड़ता है।[5]

'कर्मभूमि' में किसानों के प्रश्न को लेकर भी एक आन्दोलन चला है। और आर्थिक संकट में पड़े हुए किसान अपने जमींदार महंत के लगान की रकम दे सकने के योग्य नहीं रह गये हैं।[6] स्वामी आत्मानन्द और अमरकान्त के उद्योग से किसान अपने

---

१. कर्मभूमि, पृ० २५५
२. वही पृ० २५५
३. वही पृ० २५६
४. वही पृ० ३८६
५. वही पृ० ३८७
६. कर्मभूमि, पृ० २८७

अधिकारों की पहचान करने लगे थे।[1] इस जन-जागरण के कारण कारकुनों-कारिन्दों के लिए अब स्थिति दिन प्रतिदिन विषम होती जा रही थी। मनमाने ढंग से वे किसानों पर अब सख्ती नहीं कर पाते थे। इन सारी बातों को महंत जी समझते थे और इसलिए किसानों की प्रार्थना पर यह मान लेते हैं कि उनके असामी कारिन्दों के हाथों सताये नहीं जायेंगे।[2] लेकिन महंत जी ने जो कुछ वादा किया था उसके पीछे कोई सच्चाई नहीं थी। यह इससे स्पष्ट है कि जब महंथ जी ने चालू-लगान में सरकारी फैसले के आने तक ४ आने फी रुपये की दर से छूट देने की घोषणा की तो उनके कारिन्दों ने बकाया लगान की वसूली, जिस पर कोई छूट नहीं थी, के लिए जबर्दस्ती करना शुरू किया।[3] प्रश्न चालू अथवा बकाया लगान का नहीं था। प्रश्न था कि किसानों की आर्थिक स्थिति ऐसी गिर गयी थी कि वे लगान की कोई भी रकम दे सकने की स्थिति में ही नहीं थे। स्पष्ट है कि महंत जी के दरबार में किसानों की इस असमर्थता का अनुभव नहीं किया गया और न वैसी कोई नीयत ही थी। ऐसी स्थिति में अमरकान्त के आगे एक ही उपाय शेष बचता है—लगान-बन्दी।[4]

महन्त जी की जमींदारी में होने वाले इस लगान-बन्दी-आन्दोलन के नेता अमरकान्त को सरकार गिरफ्तार कर लेती है। शासनाधिकारी सलीम उसे अपनी गाड़ी पर बैठा कर जब चल पड़ता है तब जनता के बीच प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्तेजना फैलती है। अमरकान्त भीड़ को पीछे हटने का आदेश देता है और यह बताता है कि वैसी उत्तेजना से अमरकान्त का आन्दोलन विफल होगा।[5]

स्पष्ट है, अमरकान्त का यह आन्दोलन गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन, अर्थात् सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन का प्रतिरूप है। अमरकान्त भी गांधी जी के ही समान कहता है—"यह हमारा धर्म युद्ध है और हमारी जीत हमारे त्याग, हमारे बलिदान और हमारे सत्य पर है।"[6] गांधी जी भी राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन को धर्म-युद्ध ही तो मानते थे।

अमरकान्त की गिरफ्तारी के बाद सरकार की ओर से मि० घोष ने बड़े जोर

---

१. कर्मभूमि, पृ० २८८
२. वही पृ० ३०१
३. वही पृ० ३०७
४. वही पृ० ३०८
५. कर्मभूमि, पृ० ३२०-२१
६. वही पृ० ३२१

के साथ दमन कार्य आरम्भ किया।[१]

सलीम ने किसानों की दुरवस्था के सम्बन्ध में सरकार के पास भेजे जाने वाले अपने प्रतिवेदन में किसानों की हिमायत की थी। यह हिमायत उसके लिए भारी पड़ी। उसके कारण उसका स्थानान्तरण कर दिया गया।[२] स्पष्ट है, ब्रिटिश शासन भारतीय अधिकारियों से इस बात की अपेक्षा नहीं रखता था कि वे उसे जनता की दुःख गाथा का सच्चा वृत्तान्त सुनायें।

किसानों का यह आन्दोलन अपने लक्ष्य की पूर्ति की दृष्टि से पूर्ण सफल नहीं हो सका। सरकार ने किसानों की समस्या के समाधान के लिए सात व्यक्तियों की कमिटी बनाने का निश्चय किया। इस आन्दोलन की इतनी ही सफलता कही जा सकती है कि सरकार परम निरपेक्ष स्थिति में आकर जमींदार को अत्याचार करने के लिए खुला सांड़ नहीं बनाये रख सकी। उसे कुछ करना पड़ा। इस विषय पर विचार करने के लिए जिस कमिटी की स्थापना की घोषणा की गयी उसमें किसानों के प्रतिनिधियों को भी रखने से[३] यही स्पष्ट होता है कि सरकार इस किसान आन्दोलन की नितान्त उपेक्षा न कर सकी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'कर्मभूमि' में उपस्थित होने वाले ये तीन आन्दोलन या तो अछूत समस्या जैसी साम्प्रदायिक, धार्मिक समस्या, अथवा दीनहीन जनों के बसाने की समस्या अर्थात् विपन्नवर्ग के लिए यत्किंचित् सुविधा की उपलब्धि किंवा महंगाई और लगान के बोझ से दबे हुए किसानों की न्यायोचित मांग के सम्बद्ध हैं। इनमें कोई भी आन्दोलन ऐसा नहीं है जिसका सम्बन्ध विदेशी सरकार से हो। हमें यह भी स्मरण रखना है कि 'कर्मभूमि' के रचना-काल में महात्मा गांधी के निर्देशन में सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन अपने पूरे बल के साथ विदेशी शासन का अन्त करने के लिए चल रहा था।

'कर्मभूमि' के विषय में यह कहा जाता है कि उसकी रचना १९३०-३२ में राजनैतिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हुई है।[४]

---

१. आतंक ने सारे गाँव को श्मशान की भाँति [illegible] किया था। [illegible] मौत और आतंक के भार से दबे, मरने वालों की लाशें उठा रहे थे। किसी के मुँह से रोने की आवाज न निकलती थी। [illegible] ... ...इन्हें भी जैसे रोना भूल गये थे।—कर्मभूमि, पृ० ३६७

२. कर्मभूमि, पृ० ३६२

३. वही पृ० ४००

४. वही

आलोचकों का यह कथन यदि ठीक है तो 'कर्मभूमि' में हमें ऐसे आन्दोलन की कथा मिलनी चाहिए थी जो अंग्रेजों के विरुद्ध चलाया गया हो। किन्तु, 'कर्मभूमि' के तीनों के तीनों आन्दोलन निहित स्वार्थ वर्ग के विरुद्ध हैं, न कि स्वयं अंग्रेज सरकार के। तो क्या हम यह समझें कि प्रेमचन्द के इस उपन्यास में राष्ट्रीय-मुक्ति के लिए सन् १९३०-३२ में चलाये जाने वाले आन्दोलन का प्रतिफलन नहीं हुआ है ?

यदि हम 'कर्मभूमि' में आने वाले उपर्युक्त आन्दोलनों की मीमांसा करें, उनमें गहरे पैठें तो यह सिद्ध होगा कि प्रेमचन्द का यह उपन्यास सन् १९३१-३२ के युग को उसकी सारी संवेदनाओं के साथ मुखर करता है।

'कर्मभूमि' में अछूतों के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न को लेकर जो इतना बृहत् संघर्ष दिखाया गया है वह प्रश्न सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक प्रश्न ही हो सकता है। प्रेमचन्द ने अछूतों की समस्या को अपने एकाधिक उपन्यासों में प्रस्तुत किया भी है और वैसा करते समय उसे एक सामाजिक किंवा साम्प्रदायिक समस्या के रूप में ही उन्होंने ग्रहण किया है। किन्तु, 'कर्मभूमि' में अछूत समस्या का सामाजिक पक्ष प्रेमचन्द का ध्यान खींच कर नहीं बैठा है। 'कर्मभूमि' के रचना-काल में परिस्थिति की विडम्बना के वश इस प्रश्न का एक राजनैतिक पहलू भी हो गया था। 'कर्मभूमि' के लेखक के सामने अछूत समस्या का यह राजनीतिक पहलू ही प्रेरक हो गया है। अंग्रेजों ने जब यह देखा कि भारत में स्वशासन की मांग बहुत सशक्त और प्रबल रूप में खड़ी हो गयी है और अब उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती तब उन्होंने शासन-सुधार के प्रश्न पर विचार करने के लिए गोलमेज परिषद् का आयोजन किया। लेकिन ईमान की बात तो यही है कि अंग्रेज भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण स्वशासन की स्थापना करना दिल से नहीं चाहते थे। इसलिए पहले तो उन्होंने हिन्दुओं के सामने मुसलमानों का सवाल रखवाया और बाद में डा० भीमराव अम्बेडकर जैसे अपने शतरंज के मोहरे को अछूतों के नेता के रूप में खड़ा किया।[1] अब अम्बेडकर ने अछूतों को हिन्दुओं से सर्वथा स्वतंत्र घोषित कर उनके राजनीतिक अधिकारों की संरक्षा का प्रश्न खड़ा किया।

गांधी जी इस बात को सह नहीं पाये कि जनगणना की विवरण-पुस्तिका में अछूतों को एक पृथक् जाति के रूप उल्लिखित किया जाय।[2] उन्होंने कहा—'सिख सदैव के लिए सिख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और अंग्रेज सदा के लिए अंग्रेज रह सकते हैं किन्तु क्या अछूत भी सदैव के लिए अछूत रहेंगे ? अस्पृश्यता जीवित रहे इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझूंगा कि हिन्दू-धर्म डूब जाय।''[3] गांधी जी तो इस

१. कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ५५७

२. वही ,, ,,

१. कर्मभूमि—पृ० ५५७

बात के लिए भी तैयार थे कि अछूत मुसलमान अथवा ईसाई हो जायें लेकिन वे यह नहीं सह पाते थे कि प्रत्येक हिन्दी बस्ती में हिन्दुओं के दो भाग हो जायें। डा० अम्बेडकर को अछूतों का नेता स्वीकार करने से भी उन्होंने इन्कार किया। उन्होंने बताया कि जो अछूतों को हिन्दुओं से भिन्न एक स्वतंत्र जाति मानने का प्रस्ताव करते हैं वे भारत को ही नहीं पहचानते और इतना भी नहीं जानते कि हिन्दू-समाज बना कैसे है। गांधी जी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ यह भी दावा किया कि वे स्वयं अछूतों के विशाल समुदाय के प्रतिनिधि हैं।[1]

गांधी जी और उनके अनुयायी उन सारे कारणों का अन्त करना चाहते थे जिनसे सवर्ण हिन्दुओं और अवर्ण हिन्दुओं अर्थात् अछूतों के बीच भेद-सृष्टि खड़ी होती है।

'कर्मभूमि' में डा० शान्तिकुमार एक ऐसा ही व्यक्ति है जो यह मानता है कि भगवान की दृष्टि में न कोई छोटा है न कोई बड़ा, न कोई शुद्ध है और न कोई अशुद्ध, न कोई सवर्ण, न कोई अवर्ण।[2] शान्तिकुमार अछूतों को यह समझाता है कि वे ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर नहीं आये हैं। यह समाज की विडम्बना है कि जो समाज की बुनियाद हैं उन्हें अछूत समझा जाता है और उनको मन्दिरों में जाने नहीं दिया जाता। ऐसी अनीति भारत जैसे अभागे देश में ही चल सकती है।[3] प्रश्न है, क्या अछूत अपनी गर्हित जिन्दगी का संतोष करके अत्याचार सहते जायेंगे? नहीं, ऐसा नहीं करना है। इसीसे शान्तिकुमार उनमें उत्साह पैदा करता है और अपने न्यायोचित अधिकार पर उनको दृढ़ता के साथ खड़ा रहने की प्रेरणा देता है।[4]

गांधी जी ने अछूत समस्या की राजनीति का पूरे बल के साथ विरोध तो किया लेकिन वह यह तो समझ ही रहे थे कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म और जाति के लिए घोर कलंक है।

इस कलंक का प्रक्षालन इसलिए भी आवश्यक है कि जो शक्तिशाली साम्राज्यवादी नीति, हमारी दुर्बलताओं का लाभ उठाना चाहती है उसे एक अच्छा अवसर मिल जाता है। गांधी जी ने प्रश्न के इस पहलू को भी पहचाना था। परन्तु, सन् १९३० में अपनी गिरफ्तारी के समय जनता के नाम अपना अन्तिम संदेश देते हुए उन्होंने [illegible]

---

१. कर्मभूमि—पृ० २०१

२. वही पृ० २०५

३. वही पृ० २०४-२०५

४. वही पृ० २०४-२०५

ादेश दिया था कि—हिन्दू किसी को अ
खिल भारतीय 'हरिजन-सेवक-संघ' न
अछूतों की दशा के सुधार के लिए सक्रिय
संगठन ने स्वतंत्र रह कर अछूतों के स
पूरा करने का उद्योग करती थी। इसने
राजनीति से बाहर निकालने के प्रयासी

यहां स्मरण रखने की बात ए
लिए हरिजन शब्द का प्रयोग करना प्रार
के बीच काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं क

इस प्रकार 'कर्मभूमि' की रचना
हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न जाति के रूप
दूसरी ओर अछूतों के उत्थान का भी प्र

'कर्मभूमि' में इन दोनों आयोज
अछूतों को उन अधिकारों की प्राप्ति
उनका सहज प्राप्य थे और इस विषय क
अछूतों के न्यायोचित प्राप्य की प्राप्ति
रैदासों की गंदी बस्ती में ही जाकर टि
यह अमरकान्त जात-पांत नहीं मानता
हृदय में अपने प्रति विश्वास-भाव पैदा
कराता है कि वे उनके जैसे सवर्ण से
ऊपर उठाने के हेतु वह उनको स्वच्छत
प्रेरित करता है, उनके बीच शिक्षा का
कि वे मरे हुए पशुओं का मांस न खा
होगा कि अमरकान्त का ध्यान अछूतों
को मिटाना चाहता है जिनके कारण अ

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्
अपने किस पहलू के साथ प्राप्त होती

१. कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ३१५
२. एस० वी० आई० एन०—पृ० २३५
३. कर्मभूमि—पृ० १४१
४. वही ,, १४२
५. वही ,, १५४

छूत न मानें।[1] गांधी जी ने सन् १९३२ में
मक एक ऐसी संस्था का जन्म दिया जिसे
रूप से प्रयत्न करना था।[2] यह संस्था कांग्रेस
न्ध में गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम को
ी स्पष्ट है कि गांधी जी अछूत समस्या को
।

तो यह भी है कि गांधी जी ने अछूतों के
म्भ किया। दूसरी बात यह भी कि हरजनों
ो गांधी जी ने 'हरिजन-सेवक' संज्ञा दी।

की कालावधि में एक ओर तो अछूतों की,
में परिगणना का विरोध किया गया, और
यत्न हुआ।

ों के स्पष्ट चित्र मिलते हैं। डा० शान्तिकुमार
के लिए प्रेरणा देता है जो हिन्दू होने के नाते
ी प्रतिरोधिनी शक्तियों से संघर्ष करके अन्ततः
भी कराता है। दूसरी ओर अमरकान्त है जो
क जाता है।[3] अछूतों के बीच पहुँचने वाला
।[4] उनके बीच बिल्कुल उनके जैसे रहकर उनके
ो करता ही है साथ ही उनको यह भी अनुभव
भिन्न नहीं हैं। उनकी हीन स्थिति से उनको
का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें रोज नहाने के लिए
प्रचार करता है और उनसे अनुरोध करता है
ें और मदिरा पीना छोड़ दें।[5] कहना नहीं
के उत्थान की ओर है। इसी से वह उन कारणों
अछूत हीन समझे जाते हैं।

ट हो जाता है कि 'कर्मभूमि' में अछूत समस्या
है।

'कर्मभूमि' में दूसरा आन्दोलन गरीबों को सस्ते मकान बनाकर देने की रेणुका देवी के ट्रस्टी डा० शान्तिकुमार और रेणुका देवी की पुत्री सुखदा की प्रगतिशील योजना के प्रति स्वार्थ के वात्याचक्र में पड़े हुए म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्यों की उदासीनता का परिणाम है।[1]

यह आन्दोलन भी ऐसा कुछ नहीं है जिसके चलाने से देश की आशा-आकांक्षा के प्रति शत्रु-भाव रखने वाली अंग्रेज सरकार की कोई प्रत्यक्ष हानि है। फिर भी इस आन्दोलन की ओर हमारा ध्यान दो कारणों से जाता है।

पहली बात तो यह है कि प्रेमचन्द यह अनुभव करते थे कि देश के विपन्न वर्ग की समस्याओं के प्रति निरपेक्ष रहना न तो उचित है और न अब उससे काम चलने वाला है। गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसक राष्ट्रीय-आन्दोलन चल रहा था। उसकी सफलता के लिये जनशक्ति की अपेक्षा थी। राष्ट्रीय कांग्रेस को अपेक्षित जनबल तभी मिल सकता था जब वह गरीबों की समस्याओं के सुधार का कोई प्रभावशाली कार्य-क्रम ग्रहण करती। गांधी जी ने कुछ समझबूझ कर ही तो नमक-आन्दोलन छेड़ा था। 'कर्मभूमि' का यह संघर्ष एक ओर गरीबों की सहायता के क्रम में है और दूसरी ओर इस बात की सूचना देता है कि राष्ट्रीय कांग्रेस भारत की कोटि-कोटि दैन्य-जर्जर जनता का प्रतिनिधित्व करने लगी है।

'कर्मभूमि' के इस आन्दोलन की ओर हमारा ध्यान इसलिए भी जाता है कि उससे यह विदित होता है कि गांधी जी के उस युग में चलने वाले आन्दोलन की रूप-रेखा क्या थी।

'कर्मभूमि' में महन्त के असामियों ने जो लगानबन्दी का आन्दोलन चलाया है उसके साथ भी सरकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं ही है। किन्तु उसमें सरकार कहीं न कहीं आ ही जाती है। किसानों की मांग है कि भयानक मन्दी को देखते हुए लगान में छूट दी जाय। महन्त ने अमरकान्त को बताया था कि सरकार जितनी मालगुजारी छोड़ देगी वह भी किसानों को उतनी ही लगान छोड़ देगा।[2] इसके कहने का मतलब है असामियों को उतनी ही छूट जमींदार की ओर से मिलेगी जितनी स्वयं जमींदार को सरकार की ओर से मिलती है। महन्त की यह बात देखने में तो वाजिब है लेकिन यह संभव कैसे है कि अरबों कर्ज का भार ढोने वाली सरकार महन्त को जिसके करोड़ों रुपये बैंक में जमा हैं मालगुजारी में छूट दे दे।[3] महन्त जानता है सरकार यह छूट नहीं देगी और उसे भी कुछ करना-धरना नहीं पड़ेगा।

१. कर्मभूमि—पृ० २५४-२५५
२. कर्मभूमि—पृ० ३०३
३. वही पृ० ३०३

महन्त के समर्थन में, उसकी रक्षा में सरकार को इसलिए भी पहुँचना था कि देश में जमींदारों का ही तो एक वर्ग था जिसका पूर्ण समर्थन उसे प्राप्त था।[1] प्रेमचन्द का युग जमींदारों के इस राष्ट्रविरोधी वर्ग को विविध प्रकार से समझाता था कि उसे अपनी प्रजा से भिन्न होकर विदेशी सरकार का साथ नहीं देना चाहिए। सरकार और तो और अपने प्रवलतम समर्थक जमींदारों के वर्ग के प्रति भी ईमानदार नहीं है। उसकी नजर में जमींदार के लिए तभी तक स्थान है जब तक उसे यह दीखता रहे कि अपने असामियों पर जमींदार का दवदवा है। जिस दिन सरकार को यह विदित हो जायगा कि जमींदारों के निकाले जाने पर कोई एक बूंद आंसू वहाने वाला नहीं होगा उसी दिन जमींदारों का अन्त हो जायेगा। इस प्रकार जनता की नजर में गिरने का सीधा मतलव जमींदार के लिए होता है उसकी नजर से गिरना जिसके वल पर वह कूदा करता है। लेकिन स्वार्थान्ध जमींदारों पर इन वातों का कोई असर नहीं होता।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों से यह उम्मीद की थी कि वे ट्रस्टी (संरक्षक) की भूमिका निवाहेंगे और देश में जमींदारों और किसानों के बीच वर्ग-संघर्ष न आने देंगे। लेकिन प्रेमचन्द की यह आशा कल्पना-विलास सिद्ध हुई।

इधर राष्ट्रीय कांग्रेस दिनानुदिन जन-संस्था वनकर किसानों के अतिनिकट आती गयी। सन् १९२६ के महाधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था—

चूंकि कांग्रेस को गरीव जनता की प्रतिनिधि वनना है और दिसम्वर के अन्त में अधिवेशन होने से गरीवों को कपड़े के लिए खर्च करना और दूसरा भी कष्ट उठाना पड़ता है, इसलिए यह निश्चय किया जाता है कि अधिवेशन की तारीखें वदल कर फरवरी या मार्च में ऐसे समय रखी जायँ जो कार्यसमिति सम्वन्ध प्रान्तीय समिति की सलाह से मुकर्रर करे।[2]

इस प्रकार कांग्रेस भावना और कर्तव्य दोनों से यही सिद्ध कर रही थी कि स्वराज्य का आन्दोलन गरीवों का आन्दोलन है। राष्ट्र का सव से वड़ा यह वर्ग अन्याय-पीड़ित था और स्वभावतः भारत की कोटि-कोटि जनता की आशा-आकांक्षा को वाणी देने का दावा करने वाली कांग्रेस चुप नहीं वैठी रह सकती थी। गांधी जी ने लार्ड इरविन के पास संधि के लिए सन् १९३० में जो ग्यारह सूत्री प्रस्ताव भेजा था उसमें भी यह माँग की गयी थी कि जमीन का लगान आधा कर दिया जाय।[3] लार्ड

१. विविध प्रसंग पृ० ४२।
२. कांग्रेस का इतिहास, भाग १—पृ०, २८४
३. वही " " २९०

इरविन के नाम ता० २ अप्रैल १६३० के अपने पत्र में गांधी जी ने लिखा था–सरकारी आय का मुख्य भाग जमीन की आय है। इसका बोझ इतना भारी है कि स्वाधीन भारत को इसमें काफी कमी करनी पड़ेगी। स्थायी बन्दोबस्ती अच्छी चीज है, परन्तु इसमें भी मुट्ठी भर अमीर जमींदारों को ही लाभ है, गरीब किसानों को कोई लाभ नहीं। ये तो सदा से बेबसी में रहे हैं। उन्हें जब चाहें बेदखल किया जा सकता है। भूमिकर को ही घटा देने से ही काम नहीं चलेगा। सारी कर-व्यवस्था ही फिर से इस प्रकार बदलनी पड़ेगी कि रैयत की भलाई ही उसका मुख्य हेतु रहे।[1]

१२ अप्रैल १६३० को सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन की दिशा का निर्देश करते हुए कांग्रेस कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव पास किया था उसमें भी लगानबन्दी आन्दोलन खड़ा करने के लिए आवाहन किया गया था।[2]

इस बातों से स्पष्ट है लगानबन्दी का आन्दोलन कांग्रेस के कार्य-क्रम का अंग हो गया था और सरकार भी इसे उसी रूप में ग्रहण किया करती थी।

'कर्मभूमि' में किसान-संघर्ष के दो नेता थे। एक था अमरकान्त जो गांधी जी और कांग्रेस की तरह शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक संघर्ष चलाने का पक्षपाती था। वह संघर्ष में कूदने के पहले महन्त के पास जाकर असामियों की करुण-दशा का वृत्तान्त सुनाता है और उम्मीद करता है कि वह अपनी प्रजा के घोर कष्ट का अनुभव करके ऐसा कुछ करेगा जिससे उनका उपकार हो और संघर्ष की नौबत न आवे। महन्त से उसकी भेंट बड़ी मुश्किल से ही सही लेकिन हो जाती है। किन्तु, वास्तविक लाभ कुछ होता नहीं है। इजाफा लगान में छूट मिलती भी है तो बकाया लगान की वसूली को लेकर सख्ती होती है।[3]

अब अमरकान्त को विदित हो गया कि लगान बन्दी के प्रत्यक्ष संघर्ष के बिना कुछ होने से रहा।[4] किसानों का दूसरा नेता है स्वामी आत्मानन्द जो उग्र प्रकृति का है।[5] वह चाहता है कि किसान महन्त का मकान और ठाकुरद्वारा घेर लें और जब तक वह लगान बिल्कुल न छोड़ दे, कोई उत्सव न होने दें।[6] यह तो अमर की हिम्मत है कि उसने आत्मानन्द की उग्र नीति का विरोध किया और बताया कि यह

१: कांग्रस का इतिहास, भाग १–पृ० २६७
२: वही " पृ० २१७
३: कर्मभूमि—पृ० ३०७
४: कर्मभूमि—पृ० ३०२–"जब तक हम लोग लगान देना बन्द न करेंगे, सरकार यों ही टालती रहेगी।"
२: कर्मभूमि—पृ० ५८८
३: कर्मभूमि—पृ० २६०

रास्ता उद्धार का नहीं, सर्वनाश का रास्ता है।[1] परिणामस्वरूप किसानों की ओर से कोई ऊधम नहीं हुआ।

इधर सरकार यह सोचती थी कि शासन में कुछ न कुछ खौफ और रोब का होना जरूरी है। किसानों को यदि ऐसे आसार मिल जायें कि लगान की आधी रकम देने से आज देने से आज काम चल सकता ह तो वे कल एक चौथाई रकम ही देना चाहेंगे और परसों पूरी लगान की माफी के लिए आन्दोलन खड़ा करेंगे।[2] उसके आगे किसानों की समस्या बिल्कुल भिन्न स्थिति में खड़ी है—वह किसानों के बीच उत्पन्न इस जागरण को सह नहीं पाती और पूरे बल के साथ दमन करती है। किसान भी जुल्म के सामने झुकने से मर मिटना अधिक अच्छा समझते हैं और लड़ाई ठन जाती है।

आत्मानन्द की उग्र नीति को अमरकांत ने किसी तरह रोक लिया था लेकिन उसके गिरफ्तार होने के बाद किसानों में उग्रता फैलती है। सरकार ने अपने अधिकारी सलीम को सिर्फ इसलिए अपमानित किया कि वह किसानों की दुर्दशा से प्रभावित है और उसने सरकार के नाम अपने प्रतिवेदन में सच्ची-सच्ची बातें लिखी थीं। लेकिन सरकार को सच्ची बात सुनने का धैर्य कहाँ था?—यही सलीम सरकार-विरोधी हो जाता है और इसके नेतृत्व में जो संघर्ष होता है वह सरकारी दमन के आगे ईंट का जवाब पत्थर भी हो जाता है।

राष्ट्रीय अहिंसक आन्दोलन का इतिहास यह बताता है कि कांग्रेस आवाहन तो करती थी अहिंसात्मक, शांतिपूर्ण संघर्ष का लेकिन संघर्ष कालान्तर में हिंसा पर उतर आता था और वह शान्तिपूर्ण न रह कर उग्र हो उठता था। सरकार कांग्रेस के ऊपर इस हिंसा का उत्तरदायित्व डाल कर दमन के लिए स्वतंत्र हो जाती थी। प्रेमचन्द ने सरकार की इस नीति का भी पर्दाफाश 'कर्मभूमि' में किया है। उन्होंने दिखाया है कि अमरकान्त के नेतृत्व में चलने वाला आन्दोलन अहिंसक और शान्तिपूर्ण रहता है। अपने प्रिय नेता अमरकान्त की गिरफ्तारी के समय किसानों में उत्तेजना फैलती है और वे उसे गिरफ्तार होने देना नहीं चाहते। किन्तु, अमरकान्त उनको शान्त करता है और सहज भाव से गिरफ्तार हो जाता है। अमरकान्त की गिरफ्तारी के बाद जो कुछ होता है उसका उत्तरदायित्व उस पर नहीं हो सकता। प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि कांग्रेस को जेल में डाल कर जनता को नेता-विहीन बनाने वाली सरकार ही आन्दोलन हिंसात्मक बनाती है, न कि जेल में पड़ी हुई कांग्रेस।

'कर्मभूमि' के सलीम की जन-आन्दोलन के नेता के रूप में अवतरणा कई

१: कर्मभूमि—पृ० २६०

२: वही—पृ० ३१०

दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक ओर वह इस बात से आश्वस्त है कि भारत के शिक्षित समाज की आत्मा सरकारी नौकरी में जाकर सर्वथा कलुषित नहीं हो जाती और स्वाभिमान पर जब धक्का लगेगा वह विद्रोह कर उठेगा।

हमें यह स्मरण रखना है कि सलीम एक मुसलमान है। अंग्रेज सरकार मुसलमानों को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से उदासीन बनाये रखने के लिये अपने जानते पूरा प्रयत्न करती थी। किन्तु सलीम, सकीना और पठानिन का आन्दोलन में कूद पड़ना इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्री-मुक्ति-आन्दोलन साम्प्रदायिकता की क्षुद्रता से बाधित नहीं हो सका। तेग मुहम्मद किसानों के कुर्क किये हुए जानवरों को जब ले जाने आता है सलीम उसे इस्लाम के पवित्र उपदेश का स्मरण कराता है और उससे आग्रह करता है कि वह मजहब की गरदन पर छुरी न फेरे।[1] इस पर तेग मुहम्मद ठीक उन्हीं शब्दों का उच्चारण करता है जो उसने अंग्रेजों से सीखा है। वह कहता है—"जब सरकार हमारी परवरिश कर रही है तो हम उसके बदख्वाह नहीं बन सकते। और फिर सरकार से लड़ना हमारे मजहब के खिलाफ है।[2] तेग मुहम्मद सलीम को ही याद कराता है मुसलमान होने के नाते उसे सरकार की मदद करनी चाहिए।[3] लेकिन सलीम उसे करारा जवाब देता है—"अगर मुसलमान होने का मतलब है कि गरीबों का दमन किया जाये तो मैं काफिर हूँ"।[4]

सलीम के नेतृत्व में चलने वाले उग्र आन्दोलन को प्रस्तुत करके प्रेमचन्द ने उग्र राजनीति का समर्थन किया है—ऐसा भ्रम हमें नहीं हो इसलिए उन्होंने अमरकान्त और सलीम की वार्ता करायी है। अमरकांत ने सलीम से साफ-साफ कहा है—"तुम्हारा ख्याल है कि खून और कत्ल से किसी कौम की नजात हो सकती है तो तुम गलती पर हो।"[5] अमरकान्त तो पूरा का पूरा गांधीवादी है। वह मुक्ति का जो अर्थ जानता है वह उसके ही शब्दों में इस प्रकार है—"मैं नजात उसे कहता हूँ कि इंसान में इन्सानियत आ जाय और इन्सानियत की जन्न, बेइन्साफी और खुदगरजी से दुश्मनी है।[6]

प्रेमचन्द ने उग्र राजनीति का कभी समर्थन नहीं किया। उन्होंने स्वयं लिखा है—"हम आतंकवाद के कभी समर्थक नहीं रहे और हमारा सिद्धान्त है कि आतंकवाद

१: कर्मभूमि—पृ० ३६४
२: वही ,,
३: वही ,,
४: वही ,,
५: कर्मभूमि पृ० ३७२
६: वही ,,

से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है।[1] जागरण में २६ अक्टूबर १९३२ के अंक में श्री श्यामधारी प्रसाद लिखित 'उसका अन्त' शीर्षक कहानी पर आपत्ति करते हुए सरकार ने कहा था कि उक्त कहानी के प्रकाशन से आतंकवाद और हिंसाकाण्ड को बल मिलता है और प्रेमचन्द से अधिकारियों ने दो हजार रुपयों की जमानत तलब की।[2] प्रेमचन्द की अहिंसा में ऐसी आस्था कि उन्होंने उक्त कहानी के विषय में जागरण के २६ दिसम्बर १९३२ के अंक में लिखा—'हमें खेद है कि भविष्य में ऐसी कोई चीज न प्रकाशित करेंगे जिसका आतंकवाद से सम्बन्ध हो, क्योंकि अहिंसा में हमारा पूर्ण विश्वास है।''[3] यह ठीक है कि सलीम के हिंसा के समर्थन में दिये गये तर्क भी कम पुरअसर नहीं है। इस सम्बन्ध में सलीम का निम्नलिखित कथन ध्यातव्य है—

"लगान हम दे नहीं सकते। वह लोग कहते हैं, हम लेकर छोड़ेंगे। क्यों अपना सब कुछ कुर्क हो जाने दें? अगर हम कुछ कहते हैं तो हमारे ऊपर गोलियां चलती हैं। नहीं बोलते तो तबाह हो जाते हैं। फिर दूसरा कौन-सा रास्ता है? हम जितना ही दबते जाते हैं, उतना वह शेर होते हैं। मरने वाला बेकार दिलों में रहम पैदा कर सकता है, लेकिन मारने वाला खौफ पैदा कर सकता है, जो रहम से कहीं ज्यादा असर डालने वाली चीज है।"[4]

प्रेमचन्द समस्या के इस पहलू को इसलिए जोरदार ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि वे हिंसा के लिए स्वयं सरकार को उत्तरदायी मानते हैं। एक राष्ट्र की आत्मा को कुचलना भी तो एक प्रकार की हिंसा ही है और फिर हिंसा के लिए उत्तेजना भी तो वही देती है। इस हिंसा को जो रोक सकता है उसे सरकार क़ैदखाने में सीखचों में भर कर बन्द रखती है। ऐसी स्थिति में हिंसा के लिए दूसरे को दोषी बनाने का उसे हक नहीं हो सकता।

'कर्मभूमि' में मुन्नी पर होने वाले गोरों के अनाचार का वृत्तान्त भी कितना उत्तेजक है! प्रेमचन्द ने जून सन् १९३१ में लिखा था—भारत में तो गोरे सोल्जरों का यह हाल है कि जिस इलाके में इनका पड़ाव पड़ जाता है वहाँ स्त्रियों का राह चलना बन्द हो जाता है।[5] एक शासित देश को दुर्भाग्य की जो-जो पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं, अंग्रेजों के शासन काल में भारतीय जनता को भोगनी ही पड़ीं। ऐसे में प्रजा का यदि कोई धर्म हो सकता है तो वह है—राजद्रोह। अंग्रेजों के भाग्य से भारतीय

१: विविध प्रसंग—पृ० ५४२
२: वही पृ० ५४०
३: वही पृ० ५४२-४३
४: कर्मभूमि—पृ० ३७२
५. विविध प्रसंग—२, पृष्ठ ७७

राजनीति का नियन्त्रण करने के लिए महात्मा गांधी खड़े हो गये जिन्होंने अहिंसा का मंत्र देश को देकर उग्र राजनीति को सशक्त नहीं होने दिया। अन्यथा इस देश में भी अंग्रेजों को नाकों चने चबाने पड़ते।

असहयोग-आन्दोलन के समय सरकारी शिक्षण संस्थाओं से असहयोग करके विद्यार्थी राष्ट्रयज्ञ में भाग लेने के लिए आये थे। उस युग में ऐसा अनुभव किया गया था कि उन संस्थाओं में जिस तरह की शिक्षा दी जाती है उससे जीवन की शिक्षा नहीं मिलती, आत्मा जागरित नहीं होती।[1] इनसे जो छात्र निकलते हैं वे पैसों पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेचने वाले होते हैं।[2]

देश के सामने अपने अतीत के गुरुओं का गौरवपूर्ण इतिहास था जिससे उसे ज्ञात होता था कि हमारे वे शिक्षक झोपड़ों में स्वार्थ और लोभ से सर्वथा स्वतंत्र रह कर रहते थे। वे सात्विक जीवन के जीवित आदर्श और निष्काम सेवा के उपासक थे। वे राष्ट्र से कम-से-कम लेकर अधिक-से-अधिक देते थे। उनसे सर्वथा भिन्न आदर्श था इस युग के अध्यापकों का। वे स्वयं अन्धकार में पड़े थे, अपने मनोविकारों के कैदी थे, अपनी इच्छाओं के दास थे। उनकी दशा यह थी कि जिसके पास जितनी बड़ी डिग्री थी उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ था। उनको रहने के लिए बंगले चाहिए थे, मोटर की सवारी चाहिए थी, नौकरों की पूरी पलटन होनी चाहिए थी। ऐसे शिक्षक शिक्षार्थी को डिग्री दे सकते थे, ज्ञान नहीं।[3]

प्रेमचंद ने तो यह भी बताया है कि शिक्षालयों में जिस तत्परता के साथ फीस की वसूली की जाती थी उतनी सख्ती के साथ तो जमींदार मालगुजारी भी वसूल नहीं करता था। जैसे लगान की रकम अदा न करने पर काश्तकार अपनी जमीन से बेदखल हो जाता था वैसे ही निश्चित तिथि पर फीस न चुकाने पर शिक्षालय से शिक्षार्थी भी बेदखल हो जाया करता था। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में कहा है कि "वही हृदयहीन दफ्तरी शासन जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है। वह किसी के साथ रिआयत नहीं करता, चाहे जहाँ से लाओ—कर्ज लो, गहने गिरो रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो—मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जायेगा।"[4]

इस प्रकार इन शिक्षालयों में पैसों का राज्य हो गया था। सरकार कभी-कभी

---

१. कर्मभूमि—पृष्ठ १०४
२. वही ,, ५
३. वही पृ० १०४
४ वही ,, ५

बदअमनी होने पर जिस मार्शल लॉ का व्यवहार करती थी वह इन शिक्षालयों में स्थायी रूप से व्यवहृत होता था।[1]

इसी से तो अमरकान्त ने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया है और वह यह भी चाहता है कि उसके प्राध्यापक डा० शान्तिकुमार भी इस्तीफा दे दें।

इस शिक्षा के स्थान पर उसी तरह की राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया जाने लगा था जिस तरह की शिक्षा का क्रम वंग-आन्दोलन के समय चला था। पर उस शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। 'कर्मभूमि' के शान्तिकुमार की शाला में जो शिक्षा दी जा रही है उससे चरित्र का निर्माण तो हो सकता है किन्तु वह अर्थ-करी नहीं है। इससे पढ़ने आने को बहुत ही कम लोग तैयार होते हैं।[2] उस पाठ-शाला को अधिक से अधिक कार्यकर्त्ता-प्रशिक्षण-संस्था ही कह सकते हैं।

'कर्मभूमि' सन् १६३०-३२ में होने वाले राजद्रोह-संघर्ष की तस्वीर इस अर्थ में भी है कि उसके पात्र खादी का प्रचार करते हैं, मदिरा-निषेध के लिए प्रयत्न करते हैं।

गोदान

महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाला सन् १६३०-३२ का सविनय-अवज्ञा आन्दोलन कांग्रेस-जनों के जेल चले जाने के बाद एक तरह से मन्द हो गया। गाँधी जी को ऐसा लगा कि उन्होंने आन्दोलन की जो कल्पना कर रखी थी उससे भिन्न दिशा की ओर यह आन्दोलन उन्मुख हो गया था। वे मानते थे कि आन्दोलन के लिए भौतिक और बौद्धिक शक्तियों से कहीं अधिक आत्मिक शक्ति की अपेक्षा है। गांधी जी को ऐसा लगा कि कांग्रेस-संगठन उनके आदर्शों के अनुकूल नहीं है। इससे उन्होंने कांग्रेस को विघटित करवा दिया।[3]

---

१. कर्मभूमि—पृ० ५

२. वही ,, ५

3. In the Mahatma's opinion, the Congress organisations had become corrupt bodies. Soon after this, at the instance of the Mahatma, the Acting-President of the Congress Mr. M. S. Anay, issued orders dissolving Congress organisation in the country.—The Indian Struggle—S. C. Bose, P. 365–566.

गांधी जी के इस कृत्य को श्री विट्ठल भाई पटेल और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने वियना से वक्तव्य निकाल कर विरोध किया। इस वक्तव्य में यह कहा गया था कि गांधी जी राजनीतिक नेता की हैसियत से असफल रहे। अब एक ऐसा समय आ गया है जब कांग्रेस को नये सिद्धान्तों के अनुरूप ढाला जाये और तदर्थ एक नये नेता का आह्वान किया जाये।[1]

हमें इस विवरण से यह विदित होता है कि कांग्रेस में गांधी जी के विरुद्ध एक ऐसा वातावरण बन रहा था जिसे उनसे शिकायत थी। इधर दूसरी ओर गांधी जी को स्वयं कांग्रेस संस्था से ही शिकायत थी। उसे वे अपवित्र समझने लगे थे। हमें गांधी जी की मनःस्थिति को पहचानने की तनिक चेष्टा करनी चाहिए।

देश की आजादी के लिए गांधी जी किसी से भी कम सचेष्ट नहीं थे। लेकिन संघर्ष करते समय भी वे कतिपय जीवनादर्शों को लेकर चलने के आग्रही थे। संसार के राजनीतिक इतिहास में जिन थोड़े कारणों से उनका विशिष्ट महत्व है उनमें एक यह है कि वे राजनीति के क्षेत्र में भी धर्म को, सच्चाई को लेकर चलने वाले थे। राजनीति के कलुषित वातावरण को एक प्रकार की धार्मिकता देकर गांधी जी ने स्वयं राजनीति की भावना को एक नया आयाम दिया था। वे कथनी और करनी की एकता को एक बड़ी शर्त मानते थे। इधर कांग्रेस में ऐसे लोग आ गये थे जो नामवरी को सबसे अधिक महत्व देते थे। वैसे लोग देश की दुर्दशा से पीड़ित होकर देश का कष्ट दूर करने के लिए कांग्रेस के झण्डे के नीचे नहीं आये थे। वे कांग्रेस संस्था में इसलिए घुसे थे कि उन्हें अपने भविष्य की चिन्ता थी। कांग्रेस के ऊपर गांधी जी के उदय के पहले से ही धनी-मानी लोगों का कब्जा था। ऐसे लोगों को ही लक्ष्य कर कहा गया था कि 'कौम के गम में वे हुक्काम के साथ डिनर खाते हैं।' ऐसे कांग्रेसी नेताओं को देश की दशा पर रंज तो था, लेकिन आराम के साथ।

'गोदान' का रायसाहब इसी जाति का कांग्रेसी है।

रायसाहब अमरपाल सिंह रायसाहब होने के साथ-साथ पिछले सत्याग्रह-संग्राम का सेनानी भी है। देश के आह्वान पर कौंसिल की मेंबरी त्याग कर वह जेल भी गया था।[2] ऐसे कहने को वह राष्ट्रवादी है और ऊपर से देखने पर वैसा लगता भी है। लेकिन सरकारी अधिकारियों के यहाँ नजरें और डालियां बड़ी निष्ठा के साथ भेजता है।[3] इस रायसाहब का कांग्रेस-प्रेम उसको नकद लाभ पहुँचाता है। असामियों

---

1. History of Congress—Part I, P. 443-444.
२. गोदान—पृ० १६
३. वही ''

की नजर में वह त्यागी महापुरुष है। उसकी जमींदारी में भी किसानों पर वैसे ही जुल्म होते हैं जैसे अन्य जमींदारों के यहाँ। लेकिन, इस पर भी रायसाहब की कीर्ति पर कलंक नहीं लगता।[1] स्पष्ट है, गांधी जी जब कांग्रेस को जन-संस्था बनाने का उद्योग कर रहे थे, उनके मार्ग में अमरपाल सिंह जैसे कांग्रेसी रोड़ा अटकाने वाले ही होते। आगे चल कर कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस के संविधान का जो संशोधन हुआ उससे यह साफ हो जाता है कि गांधी जी कांग्रेस से क्या अपेक्षा रखते थे।[2]

राष्ट्रीय कांग्रेस ने शासन-सुधार के नाम पर होने वाले कार्यों को नितान्त अपर्याप्त और असम्मानजनक समझ कर अपने को कौंसिलों में जाकर सरकार का समर्थन अथवा विरोध करने के झमेले से बचा रखा था। उसकी इस नीति से लाभ हुआ देश के उदारपंथी नेताओं और जमींदारों के उस वर्ग का जो विदेशी सरकार के चरण-कमल-वन्दन ही अपने जीवन की चरितार्थता समझते थे। पहले यह कहा जा चुका है कि यही एक वर्ग था जिसका ब्रिटिश-सरकार भरोसा करती थी। कौंसिलों में ये लोग ही विराजते थे और इस प्रकार संवैधानिक सुधार के तमाशे से जनता का जो थोड़ा-बहुत कल्याण हो भी सकता था उस पर प्रतिरोधिनी शक्ति के रूप में ये निहित स्वार्थ वाले लोग कुंडली मार कर बैठे हुए थे। रायसाहब एक ऐसा ही कौंसिल सदस्य है जो अब चुनाव के बाद होम मेम्बर हो गया है।[3] हिज-मैजेस्टी के जन्म-दिन के अवसर पर वह अब जमींदार से राजा हो गया।[4] गवर्नर से राजा का खिताब पाते समय उसके मन में गर्व के साथ-साथ राज-भक्ति की जो तरंग उठी उससे उसका एक-एक रोम आप्लावित हो गया।[5] उसी समय उसे विद्रोहियों के फेर में पड़कर कांग्रेसी बनने का खेद भी होता है।[6] लेकिन, धोखे में रखने वाले जमींदार-वर्ग के इस प्रतिनिधि को यह नहीं सूझ सका कि सरकार की नजर उसकी ओर इसीलिए तो उठी थी कि वह जमींदार होकर भी गांधी जी की आंधी में बह गया था। सरकार अमरपाल सिंह जैसे लोगों को खूब ठीक से पहचानती थी।

अमरपाल सिंह जिस कांग्रेस का सदस्य था उसने पंचम जार्ज के शासन की रजत-जयन्ती से सम्बद्ध आयोजनों से अपने को केवल पृथक् नहीं रखा था बल्कि

१: गोदान—पृ० १६

२: दि इण्डियन स्ट्रगल—एस० सी० बोस, पृ० ३७५।

३. गोदान—पृ० ३१६

४. वही ”

५. वही ”

६. वही ”

उसका कसकर विरोध भी किया था।[1] कांग्रेसी होने के नाते अमरपाल सिंह का यह कर्त्तव्य था कि वह सम्राट की सरकार से असहयोग करता। लेकिन वह है, जो उसका होममेम्बर होता है। सम्राट की दी हुई उपाधि को स्वीकार करता है। स्पष्ट है, अमरपाल सिंह कांग्रेस के आदर्शों से च्युत हो गया है। कहना तो यह चाहिए कि त्याग-तपस्या, कष्ट-सहन और भारत की कोटि-कोटि निर्धन जनता की व्यथा को अपना लेने का न तो उसके पास संस्कार है और न बल ही। ऐसे बगुला भगत जितनी जल्दी और जितनी बड़ी संख्या में कांग्रेस छोड़ दें उतनी ही दूर की मंजिल कांग्रेस तय कर सकेगी—ऐसा शायद प्रेमचन्द मानते थे।

'गोदान' का चन्द्रप्रकाश खन्ना भी अपने में एक इतिहास छिपाये हुए है। देश में विलायती कपड़े का बहिष्कार आन्दोलन तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा था। इधर खादी का उत्पादन इस परिमाण में नहीं हो पा रहा था कि देश की बढ़ती हुई मांग की वह पूर्ति कर सके। इसके एक तात्कालिक समाधान के रूप में कांग्रेस-कार्य समिति ने २० जून सन् १९३० को एक प्रस्ताव पास कर देश के उद्योगपतियों के साथ मिल-विषयक एक विशेष प्रकार का समझौता किया।[2] इस समझौते की शर्तों को स्वीकार कर यदि वे कपड़े का उत्पादन करते तो उसके व्यवहार के लिए कांग्रेस-कार्य समिति स्वीकृति देती। देश के मिल-मालिकों ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव में अपने समुज्ज्वल भविष्य की रश्मियाँ देखीं।[3] उन्होंने कांग्रेस के एतद्विषयक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किया। कुल ५ वर्षों के भीतर इन मिल-मालिकों की कलई भी खुल गयी। इसी से कांग्रेस-कार्य समिति ने घोषित किया कि चूंकि अधिकांश सूती मिलों के मालिकों ने कांग्रेस को दिये वचनों को तोड़ दिया है इसलिए कांग्रेस के लिए प्रमाण-पत्र जारी रखने का सिलसिला जारी रखना संभव नहीं है। उसने पुराने प्रमाण-पत्र भी रद्द किये और कांग्रेस-जनों को यह आदेश दिया कि वे केवल हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़ों का व्यवहार करें।[4]

---

१. कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ४८०

२. वे अपनी मशीनरी ब्रिटिश-कम्पनियों से नहीं खरीदेंगी, अपने आदमियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने से न रोकेंगी और कांग्रेस की दी हुई रियायत का बेजा फायदा उठा कर अपने माल की कीमत न बढ़ायेंगी और ग्राहकों को हानि न पहुँचायेंगी।

कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ३२३

३. कांग्रेस का इतिहास—पृ० ४८०

४. वही—भाग १, पृ० ४८०

'गोदान' का खन्ना भी रायसाहव की तरह ही कांग्रेसी रहा है। वह तो दो-दो बार जेल हो आया है।[1] जेल में रहते समय उसने शराव पीने की अपनी आदत पर विरल संयम रखा।[2]

कांग्रेस-संस्था के प्रति मिल-मालिकों की वड़ी उत्सुकता थी। कांग्रेस-आन्दोलन ने जिस स्वदेशी आन्दोलन को वल दिया उसने ही तो उन्हें लक्ष्मीपति वनाया था।[3] इससे यह स्वाभाविक ही है कि कांग्रेस को उनसे अपने कार्य-क्रम को चलाने के लिए आर्थिक सहायता मिले।[4] फिर एक वड़ी वात यह थी कि इस वहाने संस्था की नकेल अपने हाथ में रखने की उन्हें सुविधा भी मिलती जा रही थी। 'गोदान' का खन्ना लक्ष्मीपतियों की यही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। लेकिन वह प्रकृति से है घोर नृशंस शोषक।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में तत्कालीन युग, अर्थात् सन् १६३२ से ३५-३६ की राजनीतिक परिस्थितियों को किस खूवी के साथ प्रस्तुत किया है।

धार्मिक

उन्नीसवीं शताव्दी के नव जागरण काल में भारत के शिक्षित विचारकों के वर्ग ने यह अनुभव किया कि सदियों की लम्वी यात्रा के श्रम से क्लान्त होकर भारतवर्ष निस्पन्द पड़ा हुआ है और खंडशः विभक्त भारतीय समाज उस नयी रोशनी का लाभ नहीं उठा पा रहा है जो पश्चिम से चली आ रही है। जो भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जगद्गुरु के पद पर कभी प्रतिष्ठित था उसी की ऐसी दुर्गति हो गयी थी कि वह मानव जाति तथा सभ्यता के बढ़ते हुए चरण की पहचान भी नहीं कर पा रहा था। विचारकों के इस वर्ग ने देश की सूखी धमनियों में उष्ण रक्त का प्रवाह करना चाहा ताकि प्रगति के पथ पर उसके भी चरण-चिह्न अंकित हों।

देश-दशा को सुधारने का प्रयत्न करने वालों के आगे एक वड़ी वाधा यह थी

---

१. गोदान—पृ० ६३
२. वही ,,
३. वही—पृ० २४१
४. वही ,,

कि देश अपने धार्मिक कठमुल्लेपन और साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण इस स्थिति में ही नहीं रह गया था कि वह सुधारकों की बातें सुनें। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने अपने पुराचीन संस्कारों, अपनी धार्मिक मान्यताओं तथा स्वयं अपनी जातीयता के प्रतिकूल जो आचरण किया उसकी प्रतिक्रिया भी जन-सामान्य के मानस पर बहुत कुछ उभड़ उठी थी और अपने अतीत की संरक्षा के लिए अपने पुरानेपन से भारतीय जनता का चिपक कर रहना भी इस तरह स्वाभाविक-सा हो गया था। अस्तु, सुधारकों के लिए अनिवार्य हो गया कि वे भारत के अतीत की अवहेलना और उसके संस्कारों का विरोध न करते हुए यह बतावें कि उस गौरवपूर्ण अतीत के उत्तराधिकारी जिस अवस्था को प्राप्त हैं वह उनके सर्वथा अयोग्य है। यही कारण है कि उन्होंने अपने समृद्ध अतीत के परिप्रेक्ष्य में ही वर्तमान के अधःपतन की ओर इंगित किया और सुधार कार्य की अपेक्षा के प्रति सच्चा उत्साह जगाया। उस युग के लोकनायकों के आगे सबसे बड़ी समस्या असमानता की थी और उसको पोषण मिल रहा था धर्म से। हिन्दू-समाज वर्ण-धर्म के कारण ही तो अपना संघ बल खो चुका था और छूत-अछूत, उच्च-निम्न के वात्याचक्र में पड़ा हुआ था। सुधारक वर्ग देश की एकता स्थिर करने का आग्रही था, ताकि अपने समग्र बल के साथ खड़ा होकर देश स्वभाग्य-निर्णय कर सके। किन्तु उसके धर्म की दिशा से ही इस कार्य में बाधा पहुँच रही थी। अस्तु, सुधारकों ने सबसे पहले धर्म की ओर ध्यान दिया। धर्मभीरु भारतीय जनता पर सबसे अधिक प्रभाव धर्म का ही होता है और इसी धर्म के नाम पर हमारी सारी विकृतियाँ जो सुधारकों के लिए सबसे बड़ी समस्या थी विद्यमान थीं। मेरे कहने का मन्तव्य यही है कि सुधार-कार्य के लिए प्रयत्नशील होने वालों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे पहले धर्म की ओर ध्यान देते। तदनुसार उन्नीसवीं शताब्दी में होने वाले सुधार आन्दोलन से सिद्ध नव जागरण के प्रभात की प्रथम रश्मि धार्मिक विश्वासों के ही आंगन में विकीर्ण हुई।

उपन्यासकार प्रेमचन्द का भी ध्यान सर्वप्रथम देश की धार्मिक कुरीतियों की ओर ही गया था। ८ अक्टूबर १९०३ से ही उर्दू के 'आवाज-ए-खल्क' नामक पत्र में 'असरारे मआबिद' उर्फ 'देवस्थान का रहस्य' नाम से प्रेमचन्द का एक छोटा-सा उपन्यास धारावाहिक रूप से निकलना प्रारम्भ हुआ।[1] अब तक प्रेमचन्द ने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ नहीं किया था और नवाब राय के नाम से वे उर्दू में ही लिखा करते थे। प्रेमचन्द के इस 'असरारे मआबिद' शीर्षक उर्दू उपन्यास को 'देवस्थान का रहस्य' नाम देकर हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में परिगणित करने का मेरा कोई उद्देश्य

१. कलम का सिपाही

नहीं है तथापि इस उपन्यास से यह विदित तो होता है कि लेखक के मानस की दशा क्या थी। उर्दू के इस उपन्यास का साहित्यिक महत्त्व भले ही न हो, यह ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही कि उसमें यह दिखाया गया है कि हिन्दुओं के जीवन पर धर्म-गुरुओं और बाह्याडम्बरों का कितना गहरा प्रभाव था। धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं तथा उनके अधिष्ठाताओं के रूप का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है—

'यह जो आप महन्त जी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, यह चन्दन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हजरत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहनमाला देख रहे हैं, असल में लोभ का फंदा है जो आपको खूब कसकर जकड़े हुए हैं।"[1]

प्रेमचन्द हिन्दू-मठों के दूषित वातावरण के तीव्र विरोधी थे। मठों की विलासिता और उनके पापाचार के विषय में 'असरारे मआबिद' में ही अपना विरोध व्यक्त करके वे चुप नहीं हो जाते। १६३२ के आसपास लिखे जाने वाले अपने हिन्दी उपन्यास 'कर्मभूमि' में उन्होंने इस विषय को फिर से उठाया। १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में देश में जो जागरण हुआ उससे प्रेमचन्द जैसे सजग कलाकार का अप्रभावित रहना संभव नहीं था। क्योंकि प्रेमचन्द उन कालाकारों में थे जो यह मानते हैं कि साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है।[2] इसलिए प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं के द्वारा वह सब कुछ किया जो १६वीं शती की चेतना के प्रसार-प्रचार के लिए सुधारक और नेता बहुत पहले से ही कर रहे थे। अवश्य ही प्रेमचन्द यह मानते थे कि जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है।[3] लेकिन उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आन्दोलित न हो।[4] इसीसे प्रेमचन्द ने तत्कालीन युग-चेतना से प्रभाव ग्रहण किया और उनके उपन्यासों में उनके युग के जनजीवन की परिस्थितियाँ मुखरित हुईं, युग का परिवेश प्रतिफलित हुआ। सन् १६०७ में 'हम खुमाव हम सवाब' का हिन्दी रूप 'प्रेमा' के नाम से प्रकाशित हुआ[5], जिसमें धर्म और पवित्रता के नाम पर चलने वाले मन्दिरों की कुरूपता का एक और चित्र प्रस्तुत हुआ।

---

१. मंगलाचरण—देवस्थान रहस्य, पृ० ५
२. कुछ विचार, पृ० ४५
३. वही ”
४. वही ”
५. कलम का सिपाही

वह चित्र 'प्रेमा' में इस रूप में चित्रित है—'यहाँ एक युवा पुरुष रेशमी कोट पहने, सर पर खूबसूरत गुलाबी रंग की पगड़ी बाँधे, तकिया मसनद लगाये बैठा है'''उस युवा के सामने एक सुघर कामिनी सिंगार किये विराज रही है।''[1] यह महफिल वहाँ लगी हुई है जहाँ हिन्दुओं के देवता प्रतिष्ठित हैं। इस देवालय में युवती विधवा पूर्णा जब भगवान को अपना एकमात्र अवलम्ब समझ कर उनके चरणों में शरण पाने की लालसा लिये जाती है तो देवता के चरणामृत के नाम पर उसे मिलती है—बूटी। भगवान के इस घर में पूर्णा जैसी अरक्षितों के सिर पर हाथ रख रक्षण नहीं दिया जाता उल्टे उनके खुलते रंग को भगवान के पुजारी घूरते हैं या उन पर शोहदों की तरह आवाजें कसते हैं।[2] इस प्रकार प्रेमचन्द ने धर्म-प्राण हिन्दुओं की आँखों में उँगली डालकर यह दिखाया है कि धर्म की उसके महन्तों ने, पुजारियों ने, ठीकेदारों ने कैसी दुर्गति कर दी है। क्या धर्म का यह रूप ऐसा है जिसके रक्षार्थ किसी हिन्दू को शीश चढ़ा देने का उत्साह हो सके? यदि नहीं तो फिर धर्म की इस दुर्गति को देख हम चुप क्यों कर रह सकते हैं?

देश में धर्म की ऐसी ही अधोगति के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए और धर्म के प्राकृत रूप के दिग्दर्शन के निमित्त ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ था। इन संस्थाओं ने हिन्दू धर्म में घुसी हुई कुरीतियों की भर्त्सना की और उनके सुधार का प्रयत्न किया। इन संस्थाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्य समाज सिद्ध हुआ जिसने एक ओर तो ऋग्वेद को ही अपना आधार-ग्रन्थ बताया और दूसरी ओर पूर्ण अक्खड़ता के साथ हिन्दू-जीवन में प्रचलित धार्मिक वितण्डावाद, ब्राह्मणवाद और बहुदेवोपासना आदि का उग्र खण्डन किया। ब्रह्म समाज और थियोसोफिल सोसायटी जैसी संस्थाओं का प्रभाव शिक्षित जन-समाज तक ही प्रायः सीमित रहा। लेकिन आर्य-समाज ने समग्र हिन्दू-जन-मानस को आन्दोलित किया। इससे जनता के कलाकार प्रेमचन्द ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज जैसी संस्थाओं के मुकाबले आर्य-समाज से कहीं अधिक प्रभावित हुए। इस विषय में प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा—''यह ठीक है कि ब्रह्म-समाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक ही सीमित रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्य समाज ने ही उठाया, अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी।''[3]

---

१. मंगलाचरण—(प्रेमा),

२. (पूर्णा की तरफ घूर कर) अरे यारो, यह तो कोई नया स्वरूप है।—इतने में किसी ने पूर्णा के कंधे में धीरे से एक ठोका दिया—प्रेमा, २८७

३. कुछ विचार, पृ० ६२

वरदान—सन् १९०१ से १९१६ के काल के बीच आर्य-समाज एक अत्यन्त सक्रिय संस्था के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस कालावधि में आर्य समाज ने दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता निवारण के अर्थ बड़ा सशक्त आन्दोलन खड़ा किया था।[1] इसी काल-सीमा के अन्तर्गत सन् १९१२ में प्रेमचन्द ने 'जल्वए-ईसार' नामक उपन्यास की रचना उर्दू में की जो आगे चलकर १९२१ में 'वरदान' के नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में प्रेमचन्द का आर्य समाजी रूप बहुत मुखर होकर आया है। यह इसलिए भी स्वाभाविक है कि इस समय मुंशी प्रेमचन्द बाकायदा आर्य समाज के सदस्य थे।[2] इस विवेच्य काल में आर्य समाज ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्या कुछ किया, उसका पता आर्य समाज के उस आन्दोलन के इतिहास से चलता है जिसका सम्बन्ध मेघ जाति से था। मेघ जाति हिन्दुओं की ही एक ऐसी अन्त्यज, अस्पृश्य जाति थी जिसे न तो सार्वजनिक कुएँ से जल लेने का अधिकार था और न मंदिर प्रवेश का। आर्य-समाज ने इस जाति के उद्धार का काम सन् १९०३ से ही प्रारम्भ कर दिया था। यह सुधार कार्य बाद में चलकर इतना जीवन्त हुआ कि सन् १९१२ में आर्य मेघोद्धार नामक सभा ही कायम हो गयी।[3] स्मरण रखना चाहिए कि यही समय 'जल्वए ईसार' (वरदान) की रचना का भी है।

'वरदान' का नायक बालाजी जब पटना की अस्पृश्य जाति पासी को प्रेरित कर एक मन्दिर बनवाता है तो निश्चय ही वहाँ मन्दिर के निर्माण के पीछे किसी धर्म भावना का उत्कट आग्रह नहीं है, मन्दिर-निर्माण की प्रेरणा तो अन्यत्र है। हमारे समाज में जिनको अछूत समझा जाता रहा है उनको मन्दिरों में भगवान के पास जाने का अधिकार प्राप्त नहीं था। आर्य-समज के उदय के बाद अछूतों को भी धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार देने का आन्दोलन खड़ा हुआ। कहना नहीं होगा कि इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर बालाजी पासियों के लिए मन्दिर का निर्माण कराता है और उसकी भारत-सभा, जो एक तरह से आर्य-मेघोद्धार सभा का ही प्रतिरूप है, बड़ी धूम-धाम के साथ मन्दिर-निर्माण का उत्सव मनाती है।[4]

राजा राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म-समाज ने समाज के सर्वांगीण सुधार का स्तुत्य प्रयास तो अवश्य किया लेकिन ब्रह्म-समाज के लक्ष्य के आगे भी राह थी और उसकी ओर देश को कदम बढ़ाना ही था। देश का आत्मविश्वास क्षीण पड़ा हुआ था। आवश्यकता इस बात की थी कि यह अनुभव किया जाय कि भारतीय

१. आर्य समाज का इतिहास—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ६१
२. कलम का सिपाही, पृ० १५२
३. आर्य समाज का इतिहास—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ६४
४ वरदान, पृ० ११०

संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति के मुकाबले कहीं अधिक उन्नत है। अस्तु, हमें पश्चिमियों के आगे हीनता के बोध के लिए कोई कारण नहीं है। अति उत्साह की स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि अपनी त्रुटियों को भी अपनी शक्ति सिद्ध किया जाय। आर्य-समाज तथा थियासोफिकल सोसायटी ने भारतीय आचार-विचार, धर्म और संस्कृति के जयघोष का बीड़ा उठाया। आर्य-समाज ने वैदिक धर्म तथा आर्य-संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए आगे बढ़कर शास्त्रार्थ की पद्धति अपनायी। फलतः उसको अन्य धर्मावलम्बियों के साथ वाद-विवाद के संघर्ष में उतरना पड़ा। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी एवं अन्य आर्य प्रचारकों का जीवन ही शास्त्रार्थों में बीता। स्वामी दयानन्द ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ ही २२ अक्टूबर सन् १८६९ में काशी में आयोजित शास्त्रार्थ से किया था और जब तक वे जीवित रहे उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों तथा सनातन-पंथी अनुदार हिन्दू-नेताओं से टक्कर ली।[1]

'वरदान' का बालाजी हरिजनों को धर्म का अधिकार देने का आग्रही है। सनातनी पं० बदलू शास्त्री को बालाजी के दलितोद्धार-विषयक कार्य पर आपत्ति है। वह समझता है कि हरिजनों को मंदिर तक ले जाकर बालाजी हिन्दू धर्म की जड़ खोद रहा है। अस्तु, पं० बदलू शास्त्री के शिष्य लाठी लेकर बालाजी के साथ फैसला कर लेने के लिए मैदान में खड़े हो जाते हैं। लेकिन बालाजी यह नहीं मानता कि धार्मिक प्रश्नों का फैसला लाठी के बल से होना चाहिए। वह मूर्ख को नष्ट करने की अपेक्षा मूर्खता को दूर करने में विश्वास रखता है।[2] स्पष्ट है कि वह वाद-विवाद, शास्त्रार्थ के द्वारा धार्मिक प्रश्नों के निबटारे में विश्वास रखता है और तदर्थ वह प्रस्तुत भी है। अपने पक्ष के न्यायोचित होने का उसे पूरा विश्वास है और इस विश्वास को वह शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने का आग्रही भी है। 'वरदान' के इस प्रसंग से स्पष्ट है कि आर्य-समाज के आन्दोलन के जमाने में सनातन-धर्मावलम्बियों के साथ उसका जो संघर्ष हुआ करता था वही संघर्ष 'वरदान' में बालाजी और बदलू शास्त्री के संघर्ष के व्याज से प्रतिफलित है।

भारत गाँवों में निवास करता है और गाँवों में अशिक्षा, जड़ता और अन्ध-विश्वास की जड़ें जमी हुई थीं। अशिक्षित साधारण जनता के पास इतनी क्षमता नहीं रह गयी थी कि वह धर्म ग्रन्थों, शास्त्रों को पढ़ सके और हिन्दू-धर्म के अन्तर्निहित मर्म को समझ सके। जो लोग थोड़ा पढ़े-लिखे भी थे—वे भी धर्म ग्रन्थों का लाभ इसलिए नहीं उठा पा रहे थे कि वे संस्कृत भाषा में लिखित थे जिसमें साधा-

---

१. आर्य समाज का इतिहास—इन्द्र विद्यावाचस्पति

२ वरदान, पृ० १२८

रण जनता का सम्बन्ध टूट चुका था। धर्म के प्रतिरूप ब्राह्मण हो गये थे, जिनके मुख में अमृत है—ऐसा माना जाता था। इधर साधारण जनता की जो स्थिति थी उससे बहुत भिन्न दशा ब्राह्मणों की भी नहीं थी। इस तरह स्थिति यह थी कि हिन्दू-जाति अपने सद्ग्रन्थों से वंचित होकर एक तरह से अपने सद्धर्म से ही वंचित हो गयी थी। जड़ता की ऐसी अवस्था में भूत-प्रेत, वेताल, यक्षिणी, ओझा-गुनी दरसनिये, पंडे-पुरोहित और गंगा-पुत्रों में ही धर्म सिमट कर रह गया था। सुधारकों ने इसलिए यह सोचा कि जब तक भारत की लक्ष-लक्ष जनता के अज्ञानांधकार को दूर नहीं किया जाता, धर्म के सच्चे स्वरूप का स्मरण नहीं कराया जा सकता, देश का कल्याण नहीं हो सकता। मुट्ठी भर पढ़े लिखे लोगों के जागरूक और ज्ञानी हो जाने से ही देश का उद्धार सम्भव नहीं। इसीलिए आर्य-समाज ने भारतीय जन-जीवन में प्रवेश किया[1] और उसके मानस को संस्कृत, उन्नत बनाने का उद्योग किया।

प्रेमचन्द ने भी 'वरदान' के माध्यम से भारत के गांवों की तत्कालीन दशा का विवरण प्रस्तुत किया है और बताया है कि गांवों के अभ्युत्थान की कितनी अनिवार्य अपेक्षा है, 'वरदान' में गांवों में अन्धविश्वास और जड़ता का यह चित्र अत्यन्त मुखर है। 'वरदान' की विरजन अपने पति कमलाचरण के पास मझगांव से जो पत्र भेजती है वह पति-पत्नी का प्रेमपत्र मात्र नहीं है, वरन गांव की दशा के विषय में मार्मिक प्रतिवेदन है जो किसी भी राष्ट्रवादी के हृदय को आन्दोलित और प्रेरित करने में सर्वथा समर्थ है। उस प्रतिवेदन को प्रस्तुत करने वाली विरजन भावुक साहित्यकार भी है। इससे देश-दशा का बड़ा ही जोरदार और मर्मवेधक विवरण वह प्रस्तुत कर सकी है। एक पत्नी द्वारा लिखे गये अपने पति के नाम पत्र में केवल गांवों की परिस्थितियों का वर्णन कुछ विचित्र-सा लगता है, इसलिए भी कि यह सामान्य नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द का विचार है कि कर्म संदेश ही सर्वोपरि है। विरजन को यह देखकर आश्चर्य और अफसोस होता है कि गाँव वाले जड़तापूर्ण मान्यताएँ पाले बैठे हैं। उसने देखा कि उसके गाँव में योगी बाबा का एक पुजारी है जो मंगल के दिन वृक्ष के तले गाँजा और चरस इस विश्वास के साथ रख आता है कि योगी बाबा दम लगाते हैं। इधर देहातियों की यह हालत है कि घर में बच्चा बीमार हुआ कि भूत की पूजा शुरू हो गयी। स्थिति यह है कि गाँव के लोगों के जीवन में ईश्वर की जगह भूत आ बैठा है।[2] विरजन का मझगांव अपने ढंग का अकेला अपवाद नहीं है, वरन वह भारत के गांवों का प्रतीक है। जिस देश की जनता ऐसी-ऐसी जड़ बातों को सत्य मानेगी वह देश जीवन-संघर्ष में कैसे टिक सकता है? अस्तु, यह स्वाभाविक ही था कि इन जड़-

१. सोशियल बैक ग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म—ए० आर० देशाई

२. वरदान

मान्यताओं की व्यर्थता बतायी जाय। धर्म के क्षेत्र में सुधार-कार्य की जो यह दिशा थी वही 'वरदान' में आकर प्रतिफलित हुई।

सेवासदन

सन् १९१४-१८ की अवधि में प्रथम महायुद्ध के काले बादल देश के क्षितिज पर छाये हुए थे। कांग्रेस और गांधी जी के युद्ध-प्रयत्नों में सहयोग करने के निश्चय के कारण देश के राजनीतिक रंगमंच पर एक तरह की निष्क्रियता जैसी छायी हुई थी। हमारा मुक्ति-आन्दोलन धीमा पड़ा हुआ था। लेकिन जीवन के अनेक ऐसे क्षेत्र थे जहाँ बहुत कुछ करने की अपेक्षा तो थी ही, गुंजाइश भी थी। प्रेमचन्द ने सन् १९१७ में उर्दू में 'बाजारे-हुस्न' नाम से एक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया जिसका हिन्दी रूप हुआ 'सेवा सदन'।[1] प्रेमचन्द ने 'प्रेमा' और 'वरदान' जैसी अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में धर्म के नाम पर चलने वाली बुराइयों के चित्र प्रस्तुत किये थे लेकिन वे प्रारम्भिक कृतियां थीं और इस कारण प्रेमचन्द का विरोध तीव्र होकर उनमें आ नहीं पाया था। अब 'सेवासदन' में आकर प्रेमचन्द एक प्रौढ़ कलाकार की समर्थ वाणी में सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध जेहाद की आवाज बुलन्द कर सकते थे। लेखक ने धर्म के जिस अनाचार को दिखाया है वह अब तक के सभी रूपों से अधिक [illegible] है। प्रेमचन्द अनुभव कर रहे थे कि हिन्दू जनता की दुरवस्था का कारण उसकी धर्मभीरुता है। धर्म के नाम पर उसका शोषण हो रहा था। प्रथम महायुद्ध के समय विश्व युद्ध की विभीषिका के साथ-साथ घोर आर्थिक संकट छाया हुआ था। भारत की जनता युद्ध की कठिनाइयों के साथ ही साथ धर्म के शोषण का दुःख भोग रही थी। उसके दुःख का कारण रामदास जैसा महंत भी है जो धर्म के नाम पर श्री बांकेबिहारी के नाम पर उसका शोषण करता है।[2] महन्त रामदास यज्ञ के नाम पर प्रतिवर्ष पांच रुपये का चन्दा किसानों से मांगता है। धर्मभीरु हिन्दू पांच रुपये दे देते हैं, भले ही इसके लिए कितनों को हैंड नोट ही क्यों न लिखना पड़े।[3] दीनदयालु के नाम पर होने वाले इस अत्याचार की कथा का अन्त होता है चेतू की मौत से। कृश शरीर चेतू, जिसकी

---

१. कलम का सिपाही—पृ० ६५४

२. सेवा सदन—पृ० ८

३. वही—पृ० ६

फसल कई साल से मारी गई है कहां से चन्दा दे सकता था ? लेकिन महन्त जी को चेतू की विपन्नता से क्या मतलब ? उनके चेले चेतू को पीटते हैं। प्रेमचन्द धर्म के ठीकेदारों के इस अन्याय को सह नहीं पाते। वे जानते हैं कि ऐसे अनाचार से स्वयं धर्म को क्षति होगी और धर्म के प्रति आस्था का जो संस्कार हिन्दुओं को उपलब्ध है वह शेष हो जायगा। इसीसे वह चेतू के मुंह में विद्रोह की वाणी डाल देते हैं। तभी तो मार खाने पर वह विरोध में गाली दिये जाता है। अकेला चेतू इस तरह के नृशंस अत्याचार का शिकार नहीं है। जमींदारों के लिए यह रोजमर्रे की बात थी। जमींदार की तीर्थ यात्रा के लिए रैयतों को चन्दा देना पड़ता था और फिर जमींदार के तीर्थ यात्रा से वापस आने पर किसान को रुपये देकर भगवान का प्रसाद लेना पड़ता था।[1]

जमींदार किसान का रक्त चूस कर ही मोटा होने के लिये पैदा हुआ करता था। इसलिए यदि वह मनचाहे ढंग से अपनी रैयत से पैसे वसूलता है तो इसमें अन्याय चाहे जो हो अस्वाभाविकता नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द की दृष्टि तो कहीं दूसरी ओर है। वह इस घटना के व्याज से यह बताना चाहते हैं कि जमींदार धर्म के नाम पर यह अनाचार कर रहा है और किसान धर्म के नाम पर ही उसे सह भी रहा है। वारुणी स्नान और महाप्रसाद के नाम पर लगाये जाने वाले चन्दे किसान क्यों देता है ? अपनी धार्मिक धर्मभीरुता के कारण ही तो। प्रेमचन्द का जाग्रत युग हैरान है यह देखकर कि धूर्तता और धर्म के इस गठजोड़ से किसान की गर्दन पर जो फांसी का फन्दा है वह बहुत मजबूत हो गया है।

'सेवासदन' में ठाकुरवाड़ी के भगवान के आगे वेश्या का नाच होता है और वह भी रामनवमी के दिन, भगवान के जन्मोत्सव के क्रम में। प्रेमचन्द इस दृश्य को प्रस्तुत कर हमें यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि ऐसे देवस्थान देवालय हैं या वेश्यालय ? मन्दिर में भोली बाई का नाच देखकर सुमन के हृदय पर वज्र-सा आघात होता है। उसने सुन रखा था कि धन वेश्या के चरणों में नत हुआ करता है, लेकिन आज वह देख रही है कि धन ही नहीं धर्म भी वेश्या भोली बाई के चरणों में नत है।[2] इस प्रकार हमारे इन पण्डे-पुजारियों ने धर्म को भी वेश्या का दास बना दिया था। प्रेमचन्द के विचार में मन्दिरों के पुजारी और मठाधीश भी सेठों और जमींदारों की ही तरह विषैले नाग थे। उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह गया था। देवालय धूर्तों के अड्डे बने हुए थे—जहाँ धन की प्रतिष्ठा थी, धर्म की नहीं। गंगा नहाकर

---

१. स्टडीज इन दि बंगाल रिनेन्स—पृ० ५२२।

२. सेवा सदन—पृ० २८-२९

आनेवाली धर्मनिष्ठ सद्गृहिणी सुमन पार्क के बेंच पर से इसलिए उठा दी जाती है[1] कि उसके वस्त्र उसकी गरीबी की सूचना दे रहे थे। पतिव्रता सुमन सेठ चिम्मनलाल के ठाकुर द्वारे में भगवान का झूला देखने की लालसा से जब मन्दिर की ओर जाती है तब उसे भीतर प्रवेश की सुविधा नहीं मिलती है। बेचारी आधी रात गये तक मन्दिर के बाहर खड़ी रहने के लिए विवश होती है। लेकिन वही सुमन जब वेश्या होकर उसी मन्दिर में भगवान के आगे नाचने-गाने पहुँचती है तो ऐसा लगता है कि उनके चरणों से स्वयं मन्दिर पवित्र हो गया। प्रेमचन्द इस घटना को उपस्थित कर यह कहना चाहते हैं कि हमारे धर्म-स्थान ऐसे भ्रष्ट हो गये हैं कि उनमें किसी सती-साध्वी के लिए जगह नहीं है, लेकिन वेश्या के आ जाने से वे पवित्र हो जाते हैं।[2]

धर्म के इसी रूप का सुधारकों ने विरोध किया था। सुधार-आन्दोलन का यह चित्र 'सेवासदन' में भी प्रस्तुत है। जिस धर्म-व्यवस्था में सती से वेश्या को अधिक मान मिलता हो उसके औचित्य को स्वीकार कर लेना स्वयं धर्म के प्रति अनाचार ही तो कहा जायगा। प्रेमचन्द भी चाहते हैं कि यह अनाचार बन्द हो। सेठ चिम्मनलाल जैसे धर्मप्राण लोगों की यह दशा है कि वे रामलीला के नाम पर हजार दो हजार रुपये खुशी-खुशी दे सकते हैं। लेकिन किसी हिन्दू-महिला के उद्धार के लिए एक पैसे का दान भी वे नहीं देते।[3] ऐसे लोगों की विलास बुभुक्षा तृप्त होती है उन हत-भागिनी हिन्दू नारियों से ही। भला वे नारी-उद्धार की बातें क्यों करें? उन आन्दो-लनों की सहायता क्यों करें जो नारी की मर्यादा की रक्षा में निरत हैं? ऐसे धर्माचारियों से प्रेमचन्द को स्वाभाविक घृणा है। लेकिन समाज का यह कोढ़ कुछ इस तरह से फैल गया है कि प्रेमचन्द को शमन का कोई उपाय नहीं सूझ पाता। [illegible] की इस दशा में पं० दीनानाथ की सुमन के हाथों दुर्गति करवा कर ही संतोष कर सके थे।[4] धार्मिक सुधार-आन्दोलन के प्रति प्रेमचन्द कितने सजग थे यह 'सेवासदन' के प्रो० रमेशदत्त और विट्ठलदास के प्रमाण से विदित है।[5] श्रीमती एनी बेसेन्ट भारत में थियो-

---

१. सेवासदन—पृ० ३४

२. एकबार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुर द्वारे में झूला देखने गयी थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही, किसी ने अन्दर न जाने दिया लेकिन कल जो ठाकुर द्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे आने से वह मंदिर पवित्र हो गया।"

३. सेवासदन पृ० १०५

४. वही, पृ० १३०

५. वही पृ० २३५-२३६।

सोफिल सोसायटी के प्रचार-प्रसार के लिए आयी थीं। सन् १६१४ में ही भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच पर उनका पदार्पण हो चुका था। राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के साथ ही उक्त सोसायटी के सिद्धान्तों के प्रचार में भी वे संलग्न थीं। थियोसोफिकल सोसायटी ने भारतीय अध्यात्मवाद की उच्चता की ओर विदेशियों का भी ध्यान आकृष्ट कराने का प्रयास किया था। अवतारवाद पर गहरी आस्था रखकर चलने वाली इस संस्था ने हिन्दुओं में फिर से अपने धर्म के प्रति विश्वास-भाव जगाया था। 'सेवासदन' का प्रो० रमेशदत्त श्रीमती ब्लावेटस्की और आल्काट के प्रति तदर्थ कृतज्ञता का भाव प्रकट करता है।[1] पश्चिम के इन विद्वानों के मुंह से भारत की उच्चता का यशःगान बड़ा ही प्रेरक सिद्ध हुआ था। प्रेमचन्द के इस उपन्यास में इस की चर्चा से यह विदित होता है कि युग का आलोड़न किस सूक्ष्मता के साथ उनके उपन्यासों में मुखरित है। उपन्यासकार इतना सजग है कि यह छोटी-सी बात भी उसके ध्यान से हटती नहीं है। लेकिन प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है जिसकी स्मृति से प्रेमचन्द उद्विग्न हो जाते हैं। एक विजातीय विदेशी महिला के मुख से भारतीय गौरव का जयघोष सुनकर अपने देशवासियों का अकचकाकर यह सोचना-पूछना कि क्या सचमुच हमारा देश इतना महान है, हमारा धर्म इतना उच्च है, हमारी जड़ता और मानसिक दासता का सूचक भी तो है। प्रेमचन्द के युग के सुधारकों की शिकायत थी कि हमारी धर्म-संस्था इतनी पंगु हो गयी है कि वह हमें उस गौरव का अनुभव भी नहीं करा पाती जो सहज ही अनुभवगम्य है। „लेकिन ऐसा है क्यों? प्रेमचन्द ने इसीका उत्तर देते हुए कहा है—"हम उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपनी बुद्धिहीनता का परिचय देते है।"[2] प्रेमचन्द को इस बात का गहरा परिताप है।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में यह भी बताया है कि संस्कृत की पुरानी पोथियों से हमारा काम नहीं चल सकता। यह सत्य है कि हिन्दी में धर्म-ग्रन्थों की रचना नहीं हुई, लेकिन हिन्दी में रामचरित मानस, विनयपत्रिका और भक्तमाल जैसी पुस्तकें हैं जिनमें हमारे हृदय में धर्म की वृत्ति उत्पन्न करने की अपार शक्ति है।[3]

वेश्या जीवन को तिलांजलि देने के बाद जब सुमन ने सादगी से रहना आरम्भ किया उसने रामायण, विनय पत्रिका और भक्तमाल जैसी पुस्तकों का पढ़ना आरम्भ किया। इन पुस्तकों के साथ-साथ वह विवेकानन्द और रामतीर्थ के लेखों को भी पढ़ा

---

१. सेवासदन—पृ० २३६

२. वही, पृ० २३६

३. वही, पृ० ३०१।

करती। प्रेमचन्द यह मानते थे कि देश को कूपमंडूकता से बाहर निकालना है और नये युग में धर्म-विषयक जो नयी मान्यताएँ स्थिर हो रही हैं उनके प्रति उत्साहित रहना है। स्पष्टतः यह कहा जा नहीं सकता कि प्रेमचन्द पर रामकृष्ण मिशन के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव किस मात्रा में था। लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि वे यह मानते थे कि अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से बड़े-से-बड़े पाप का प्रायश्चित्त हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस ने पापी को दया और सहानुभूति का पात्र कहा था और पाप को विरोध का विषय माना था। वे ऐसा मानते थे कि मां काली के समक्ष अपने पापों का अनुभव करके कोई भी पापमुक्त होकर सात्विक हो सकता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की सुमन में भी पापों का प्रायश्चित्त करके फिर से नया जीवन आरम्भ करने की आतुर लालसा है।[1]

हमारा धर्म अपनी ग्राहिका शक्ति शताब्दियों पूर्व खो चुका था। १९वीं सदी के वैचारिक आन्दोलन ने अपनी उस महान शक्ति का हिन्दू-समाज को अनुभव कराया। यदि इस अनुभव का संबल प्रेमचन्द को नहीं मिलता तो सुमन के वेश्या जीवन का कभी अन्त नहीं होता और वह पतन के रौरव नरक में पड़ी रहती।

प्रेमाश्रम

सेवासदन समाप्त करते-न-करते प्रेमचन्द ने किसानों के जीवन को आधार बनाकर 'गोशिए आफियत' नामक उपन्यास उर्दू में लिखना आरम्भ कर दिया था जिसका प्रकाशन 'प्रेमाश्रम' नाम से हिन्दी में सन् १९२१ के पूर्वार्द्ध में हुआ।[2]

'प्रेमाश्रम' में 'सेवासदन' की भाँति धर्म के ठीकेदार, पंडितों, आचार्यों या महन्तों के पाखंड का वर्णन नहीं किया गया है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि धर्म का दुरुपयोग स्वार्थी जन किस प्रकार व्यक्तिगत हित-साधना हेतु प्रयोग कर रहे थे। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री के रूप में एक ऐसी हिन्दू-विधवा का चित्रण किया गया है जो शरीर से तो इस भौतिक जगत में रहती है लेकिन हृदय से [illegible] पति को वह अत्यधिक श्रद्धापूर्वक स्मरण किया करती थी।[3] इस [illegible]

१. सेवासदन—पृ० १०७।
२. कलम का सिपाही—पृ० ६५८।
३. वही, पृ० ६५८।

अपनी ही छोटी बहन का पति ज्ञानशंकर अपनी चालबाजी का शिकार बनाता है। ज्ञानशंकर गायत्री की धन-सम्पत्ति और उसके रूप दोनों का कामी है। वह जानता है कि गायत्री एक धर्मभीरु हिन्दू महिला है और इसलिए उसे अपने वश में करने के लिए उसे धर्म का ही सहारा लेना होगा।

प्रभु के प्रति भाव की निर्विकल्प दशा में भावुक गायत्री, राधा भाव का अनुभव करती है, उसके भावोन्माद के ऐसे क्षण का लाभ ज्ञानशंकर रासलीला का कृष्ण बन कर उठाता है और इस तरह ज्ञानशंकर की चालबाजी भक्ति की सीढ़ी पर चढ़कर आकाश छूती है।[1] स्पष्ट है, 'प्रेमाश्रम' की गायत्री अपनी धर्मभीरुता के कारण किसी पण्डित या ब्राह्मण द्वारा छली नहीं जाती, उसका बहनोई ही उसके भक्त हृदय के भोलेपन का अनुचित लाभ उठाता है, उसे धोखा देता है, ठग लेता है। ज्ञानशंकर ने जैसे गायत्री के विश्वास का दुरुपयोग किया है वैसे ही वह धर्म का भय दिखाकर अपनी धर्मनिष्ठ भाभी श्रद्धा के जीवन में भी कटुता घोल देता है।

६ वर्षों के अमेरिका-प्रवास के उपरान्त ज्ञानशंकर का बड़ा भाई प्रेमशंकर स्वदेश वापस आता है। ज्ञानशंकर को अपने बड़े भाई का स्वदेश वापस लौटना अपने हित के प्रतिकूल दीखता है। भाई अब पारिवारिक सम्पत्ति की साझेदारी का हक मांग सकता था। इधर ज्ञानशंकर का स्वार्थ प्रेरित करता है कि वह भाई को अंगूठा दिखा दे। बस इसी हेतु वह धर्म का एक बार फिर सहारा लेता है। धूर्त ज्ञानशंकर जानता है कि हिन्दू समाज के प्रचलित विश्वास में विदेश-यात्रा को पाप माना गया है। धर्मभीरु हिन्दू समाज की इस कमजोरी का सम्बल पकड़कर वह स्वार्थ साधन हेतु बिरादरी के नेताओं को प्रेमशंकर के विरुद्ध उकसाता है।[3] ज्ञानशंकर की इस चालबाजी का सबसे अधिक शिकार उसकी भाभी श्रद्धा होती है। ज्ञानशंकर ने उसके भोलेपन का भी लाभ उठाया है, उसकी धर्मभीरुता को उसने इतना उकसा दिया है कि छः वर्षों के प्रवास के बाद लौटने वाले अपने पति से, वह दरवाजे पर आया हुआ जानकर भी, यह सोचकर नहीं मिलती कि—विदेश यात्रा करने वाले की जाति का क्या ठिकाना।[4]

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ७४

२. वही, २०६-७

३. ज्ञानशंकर बिरादरी के षडयन्त्रों के समाचार लाकर उन्हें और भी उद्विग्न करते रहते थे। भाई के साथ तो यह व्यवहार था और बिरादरी के नेताओं के पास आकर प्रेमशंकर पर झूठे आक्षेप करते—वह देवी-देवताओं को गालियाँ देते हैं। कहते हैं मांस सब एक है चाहे किसी का हो—प्रेमाश्रम, पृ० ११५

४. प्रेमाश्रम—पृ० ११५

हिन्दू-समाज में विदेश-यात्रा को अधर्म माना जाता था। विदेश यात्री को धर्म-भ्रष्ट समझ कर उसकी बिरादरी उसके साथ के अपने सारे नाते तोड़ लिया करती थी। हिन्दू-समाज में यह कूपमंडूकता इस रूप में फैली हुई थी कि बम्बई के देहात से जीविका अर्जनार्थ छः महीने शहर में रह जाने वाले एक व्यक्ति को बिरादरी से निष्कासित होना पड़ा था। सन् १८७१ में श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जब विदेश-यात्रा के बाद लौटकर घर आये और घर वालों ने जब उनको स्वीकार किया तो उन्हें ऐसा लगा कि उनके ब्राह्मण परिवार ने उन्हें अंगीकार करके अपूर्व साहस का परिचय दिया था।[1] प्रेमचन्द ने हिन्दू धर्म के इस दुर्बल पक्ष को उठाया तो है, लेकिन जिस रूप में 'प्रेमाश्रम' में उसे प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए लगता है कि 'प्रेमाश्रम' के रचनाकाल तक यह प्रश्न समस्या रूप नहीं रह गया था। अन्धविश्वास और जड़ता के शिकार ग्रामीणों की ओर से प्रेमशंकर की विदेश-यात्रा का कोई विरोध नहीं होता। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि प्रेमशंकर ग्रामवासियों की भावनाओं में बसता है, उनका एक तरह का इष्टदेव है।

उसके विदेश-गमन का थोड़ा-बहुत विरोध शहर वाले ही करते हैं।[2] 'प्रेमाश्रम' के रचनाकाल तक विदेश-गमन का प्रश्न अपना सारा महत्त्व खो चुका था और विदेश जाना रोजमर्रे की बात हो गया था। गांधीजी, नेहरू, पटेल जैसे जनता के श्रद्धेय नेता विदेश-यात्रा कर चुके थे। स्मरण रखने की बात यह भी है कि प्रेमशंकर हिन्दू समाज के उस उच्च मध्य वर्ग का है जो १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में होने वाले सुधार आन्दोलन का होता है और विदेश-गमन-वर्जन को वह अनुचित समझता है। उक्त सुधार आन्दोलन के नेताओं में से अधिकांश विदेश यात्रा कर चुके थे और तदर्थ अपने को अपराधी भी नहीं मानते थे। लेकिन प्रेमचन्द की समस्या है कि उनके युग तक हिन्दू-स्त्रियों में परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिए जिस विचार-स्वातन्त्र्य और दिव्य ज्ञान की जरूरत थी उसकी कमी थी।[3]

श्रद्धा अशिक्षा और जड़ता की स्थिति में पड़े हुए उस भारतीय नारी-समाज का प्रतीक है जिसमें सोचने-विचारने की शक्ति नहीं रह गयी है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पति के छः वर्ष प्रवास जन्य वियोग ने श्रद्धा के पति-प्रेम को नष्ट कर दिया

---

१. It was a bold step for my mother and my brothers to have given me a place in a Brahmi family and have eaten and drunk and lived with me.

२. प्रेमाश्रम—पृ० ११६।

३. वही, पृ० ११४।

है। फिर वह अपने दूरागति पति के स्वागत में पलक-पांवड़े क्यों नहीं बिछाती ? सिर्फ इसीलिए तो कि अपने धार्मिक विश्वासों के आगे वह विवश है। नारी-समाज शिक्षा से वंचित होकर अपने पुरोहित जी को ही अपना पथ-द्रष्टा मान बैठा है और इधर उसका मंत्र-द्रष्टा ही धर्म के मर्म से अनजान है। ऐसी दशा में अन्धेवनीयमानता की ही स्थिति चरितार्थ हो सकती थी। युगों से पीड़ित नारी सब तरह से शक्तिहीन अबला हो गयी है। श्रद्धा अपने कलेजे पर पत्थर रख सकती है लेकिन धर्म के अनुशासन की अवहेलना करने की शक्ति अपने में नहीं ला सकती है। और फिर ज्ञानशंकर धूर्तता है जो धर्म के प्रति उसकी निष्ठा को उकसाती है। इस तरह श्रद्धा रूढ़ियों के आगे घुटने टेक देती है और ज्ञानशंकर अपने स्वार्थ साधन के लिए धर्म की टट्टी खड़ा करने में सफलता प्राप्त करता है।

जैसा कि हमने पहले बताया कि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेमचन्द के विचारों पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में जाकर भारत का जो गौरववर्द्धन किया उससे प्रेमचन्द जैसे भारतीय कलाकारों का उत्साह बढ़ा। प्रेमचन्द को 'प्रेमाश्रम' में विवेकानन्द के सुकार्यों का उल्लेख करने का अवसर प्राप्त हुआ।

अमेरिका में रहते समय हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा के लिए प्रेमशंकर ने जो कुछ किया है वह बिल्कुल वही है जो स्वामी विवेकानन्द ने किया था। प्रेमशंकर के बहाने प्रेमचन्द ने विवेकानन्द की कथा ही कही है।[1] यूरोप और अमेरिका में इसाईयों ने भारत और हिन्दू धर्म तथा समाज के विषय में जो प्रचार कर रखा था और जिसके परिणामस्वरूप भारतीय तथा हिन्दू गौरव को धक्का लगा था—उसकी यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी।

'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर के शिव और शक्ति के उपासक[2] श्वसुर कमलानन्द का रूप किंचित चौंका देने वाला है। कमलानन्द ने अपने विषय में कहा है—मैं इच्छाओं का दास नहीं, स्वामी बनकर हूँ। जाड़े में हिमकणों का सेवन करता हूँ और हिमालय की हवा खाता हूँ। हमारी आत्मा ब्रह्म का ज्योति-स्वरूप है। उसे मैं देश तथा इच्छाओं और चिन्ताओं से मुक्त रखना चाहता हूँ। योग कोई दैहिक क्रिया नहीं है, आत्म-शुद्धि, मनोबल और इन्द्रियदमन ही सच्चा योग, सच्ची तपस्या है।[3] यह कमला-

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ११३
२. वही " ११८
३. " " ११८-११६

नंद एक बड़ा ताल्लुकेदार है, एक ओर रायसाहब है, योग और भोग को एक साथ लेकर चलने वाला है तभी तो उसके गले में रुद्राक्ष की माला शोभती है तो दूसरी ओर वस्त्राभूषणों से सजी कोमलांगी तीन-तीन रमणियां उसके पास विराजती रहती हैं। वह मादक द्रव्य का सेवन करता है, मूर्त्ति को देवता समझ कर पूजता है और फिर भी मूर्ति को मिट्टी के खिलौने से अधिक नहीं समझता।[1] इतना विचित्र यह व्यक्ति है! बुद्धिवाद के युग की कमलानन्द जैसे व्यक्ति के विषय में जो सामान्य प्रतिक्रिया सम्भव है, उसका अनुमान मजे में किया जा सकता है। लेकिन कमलानन्द का प्रेमचन्द उपहास नहीं करते। एक हद तक वह उसके आत्म-संयम और योगबल के प्रशंसक ही दिखाई देते हैं। कमलानन्द का अपना दामाद ज्ञानशंकर सम्पत्ति के लोभ से भोजन में विष मिलाकर कमलाकान्त की हत्या का आयोजन करता है। इस प्राणघातक अभिसंधि का पता भी कमलाकान्त को है। फिर भी वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध नहीं करता। अपनी योग-सिद्धि की शक्ति के विषय में वह पूर्ण आश्वस्त है। इसीसे वह विषाक्त भोजन ग्रहण कर लेता है और दिखा देता है कि उसके जैसे शक्ति के उपासक के लिए प्राणघातक हलाहल भी दूध और पानी है। विष का प्रभाव उसकी देह पर थोड़ा-बहुत चाहे जो भी पड़ा उससे ज्ञानशंकर की इच्छा के प्रतिकूल उसकी मृत्यु नहीं हो सकी। स्वामी दयानन्द के साथ भी ऐसी ही घटना घटी थी[2] और संभव है प्रेमचन्द को उसी की याद कमलानन्द के प्रसंग में आयी हो।

योग की अलौकिक शक्ति से पूर्ण कमलानन्द के चरित्र को समझने के लिए हमें उस ब्रह्म विद्या को समझना होगा जिसका प्रचार उन दिनों थियासोफिकल सोसायटी ने किया था। उक्त सोसायटी ने भारतीय तंत्र-मंत्र, योग, परलोक सम्बन्ध आदि प्राचीन गुह्यविद्या को फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। स्मरण रखने की बात यह है कि थियासोफिकल सोसायटी ने ऐसा करते समय हिन्दुओं की सहज श्रद्धा तथा विश्वास-भावना का सम्बल नहीं लिया वरन अध्ययन, अनुसन्धान और परीक्षण के द्वारा पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों को इस सत्य को स्वीकार करने की प्रेरणा दी।

प्रेमचन्द ने कमलानन्द को जो आत्मदर्शक और [illegible] उसका यही रहस्य है। प्रेमचन्द कृच्छ-साधना, तन-मन के [illegible] करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते। वे जानते हैं कि इस [illegible] की धार पर चलने के समान है। [illegible]

---

1. प्रेमाश्रम—पृ० ११८
2. श्री मद्दयानन्द प्रकाश—श्री स्वामी सत्यानन्द [illegible] नई दिल्ली-५, पृ० ५४८

है और अपना सर्वनाश तक कर ले सकता है। लेखक ने बताया है कि ज्ञानशंकर के दो छोटे-छोटे चचेरे भाई तेजशंकर और पद्मशंकर की मृत्यु योगमार्ग पर पथभ्रष्ट होने के कारण ही हुई।[1] उन कोमलमति दोनों बालकों के मन में पाखण्डी साधु-संतों की सिद्धि-कथाएँ सुन-सुनकर ऐसा उत्साह हुआ कि वे सिद्धि पाने का प्रयत्न करने लगे। एक अमावस की रात को सिद्धि द्वारा सम्पन्नता प्राप्त करने के लोभ से वे नदी किनारे गये और जय भैरव का मंत्र जगाकर तलवार से उन्होंने अपनी गर्दन काट ली। उनका विश्वास था कि उन्होंने मौत को कुचल दिया है, काल को जीत लिया है और फलत: वे अमर हो गये हैं। इस प्रकार अपने अज्ञान, अविवेक और अहंकार के कारण उनका सर्वनाश हुआ। प्रेमचन्द इस वृत्तान्त को उपस्थित कर कहना यह चाहते थे कि योग की अलौकिक सिद्धियों की सत्यता में अविश्वास करने का कारण नहीं होने पर भी यह तो ठीक ही है कि उस तरह की साधना में पाखंड के लिए गुंजाइश बनी हुई है। इसीलिए गुह्य साधक को फूँक-फूँककर पैर रखना चाहिये।

'प्रेमाश्रम' में दुखहरन भगत का जो प्रकरण आया है वह भी बड़ा ही विचारोत्तेजक है। अत्यन्त निष्ठा से शालिग्राम की पूजा करने वाला वह निष्कपट हृदय ग्रामीण आवेश के एक क्षण में शालिग्राम को पत्थर का ढेला समझकर घूरे पर फेंक देने के लिए उतारू हो जाता है। क्या इससे हम यह सोचें कि प्रेमचन्द का आर्य-समाजी संस्कार इस वृत्तान्त के माध्यम से मूर्ति पूजा की व्यर्थता का प्रतिपा न कर रहा है? मुझे लगता है कि बात इतनी ही नहीं है। दुखहरन भगत के धार्मिक विश्वास को टेस पहुँचाने वाला एक कारण उपन्यास में ही निर्दिष्ट है। लखनपुर गव के जमींदार और सरकारी हुक्काम दोनों जनसाधारण पर अत्याचार कर रहे थे। हाकिम का लश्कर आया हुआ था। इससे तहसीलदार ने गाँव वालों से बेरहमी के साथ उस लश्कर के लिए रसद इकट्ठा करना शुरू किया। गाँव की नीची जातियों के मजदूर बेगार में पकड़ लिये गये। कारिन्दों ने उनको भी नहीं छोड़ा जो बूढ़े थे और शरीर-शक्ति की क्षीणता के कारण मिहनत का काम नहीं कर सकते थे अथवा जिनकी जाति में शरीर श्रम मजदूरी करने की परम्परा नहीं रही है। भगवान के पूजन-अर्चन में लीन रहने वाले दुखहरन भगत को भी बेगार के लिये पकड़ लिया गया और उसे इतना भी समय नहीं दिया गया कि वह भगवान का भोग लगा ले।[3]

---

१. प्रेमाश्रम—पृष्ठ ३७२-७३।

२. वही—पृष्ठ ३७२-७३

३. भगत—अभी ठाकुर जी का भोग तक नहीं लगाया।

चपरासी—एक दिन में ठाकुर जी भूखों न मर जायेंगे। प्रेमाश्रम, पृ० १८८

दुखहरन ने घोर निराशा का अनुभव तब किया जब उसने देखा कि इन अधार्मिक पापी कारिन्दों से उसकी निष्ठा और उसके स्वाभिमान की रक्षा के लिये उसका वह भगवान उपस्थित नहीं होता जिसके विग्रह शालिग्राम को वह आज तक इतने विश्वास के साथ पूजता आया था। हताश, निराश भक्त सोचता है कि उसका यह भगवान सचमुच कारिन्दों के अत्याचार के आगे कितना बेचारा है! दीन-दुखियों की, विपत्ति से रक्षा करने का विरद धारण करने वाला भगवान जब अपने भक्त की रक्षा न कर सका तो वह दीनबन्धु कैसे हो सकता है? इस तरह उसके धार्मिक विश्वास की जड़ हिल जाती है, उसकी ईंटें बिखर जाती हैं।[1]

यहाँ हम जरा रुककर यह भी सोचें कि भारत की निर्वाक् जनता के प्रतिनिधि दुखहरन को विद्रोह की यह वाणी कहाँ से मिल जाती है।

'प्रेमाश्रम' की रचना के पूर्व दुनिया के इतिहास में एक सर्वथा विलक्षण घटना घटित हो चुकी थी। रूस की शोषित जनता ने अन्यायी राजा का तख्ता पलट दिया था और उसके स्थान पर इतिहास में पहली बार श्रमिकों का शासन पदस्थापित हो गया था। रूस की इस क्रांति ने धर्म को मादक अफीम समझ कर उसका भी परित्याग किया था। इस क्रांति ने सिद्ध कर दिया कि शोषित जनता की प्रतिक्रिया कितनी भयानक होती है। ऐसी प्रतिक्रिया के प्रभंजन के उठते ही यदि एक ओर घोर अन्यायी शासन का अन्त होता है तो दूसरी ओर उस धर्म-संस्था का भी नाम मिट जाता है जो अन्याय का विरोध करने में निर्वीर्य सिद्ध हो। दुखहरन भी तो एक ओर शासन के अनाचार का मुकाबला करता है और दूसरी ओर धर्म-संस्था के खोखलेपन का अनुभव करता है और शालिग्राम को फेंक आता है।

रंगभूमि

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने ईसाईमत और हिन्दू धर्म को आमने-सामने रखकर परखा है। ईसाई मत से भारत के परिचय का इतिहास बहुत पुराना है। लेकिन देश में अंग्रेजी राज्य के पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ईसाई धर्म को शासक-वर्ग का धर्म होने का सम्मान मिला और सब शासन की सारी सुविधाओं के साथ ईसाई मत का प्रचार हो सकता था। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने नयी सुविधाओं का [illegible] और [illegible]

1. प्रेमाश्रम—पृ० १८५

उपभोग किया। इधर विदेशी संस्कृति और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव कुछ ऐसे विलक्षण ढंग से पड़ा कि भारतीय अपने सिर पर से हैट उतारकर मां काली को 'गुड मार्निंग मेडम' कहते देखे गये। हिन्दू कालेज में शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों ने भारत तथा भारतीयता के गौरव को लांछित किया। पढ़े-लिखे लोगों की यह अराष्ट्रीयता चिन्ता का विषय हो गयी।

'रंगभूमि' में श्रीमती जानसेवक हैं जिनको हिन्दू धर्म में केवल बुराई ही बुराई नजर आती है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के विरोधियों के निम्नलिखित दो वर्ग खड़े थे जो उस पर प्रहार कर रहे थे :—

१—शासकों के सहधर्मियों का वर्ग जो हिन्दू धर्म का उग्र विरोधी था।

और २—अपने ही बीच का वह वर्ग जो पाश्चात्यों का कृतदास होकर अपने ही धर्म, अपने ही आचार-विचार का कठोर निन्दक हो गया था।

ईसाई धर्मावलंबिनी श्रीमती सेवक की इस मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के पूर्व ईसाइयों के समाज के विषय में दो शब्द कह देना अनुचित न होगा।

भारत में रहने वाले ईसाइयों में कुछ यूरोपियन थे जो या तो शासन की ऊँची कुर्सियों पर थें अथवा ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले पादरी थे। फिर माइकेल मधुसूदन जैसे कुछ ऐसे उच्चवर्गीय हिन्दू थे जो आधुनिक शिक्षा की चकाचौंध से आकृष्ट हो स्वधर्म विमुख होकर ईसाई बन गये। ईसाई मत के प्रचार का प्रभाव उन भारतीयों पर खूब पड़ा जो अपने समाज में सम्मानवंचित, अधिकारवंचित हो गये थे। ईसाइयों ने चुन-चुनकर ऐसे क्षेत्रों में पूरे मनोयोग से प्रचार आन्दोलन चलाया जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं के बीच के अछूतों का वर्ग ईसाई धर्म में इसलिए दीक्षित हुआ कि अपने घर में उसे घोर उपेक्षा और अनादर का पात्र बना दिया गया था। ईसाई होते ही उसे वह सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती थी जो उसे कभी नसीब नहीं हुई थी और फिर उसके अधिकारों की संरक्षा के लिए इतनी बड़ी ईसाई सरकार थी।

श्रीमती सेवक ईसाई थी और भारतीय थी। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुओं के किस वर्ग से आयी थी उच्च किंवा निम्न। हिन्दू धर्म के प्रति उसका आक्रोश और घृणा भाव बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ है। हिन्दू-धर्म का खण्डन करते समय वह उचित-अनुचित विचार का ध्यान भी नहीं रख पाती।

दया और प्रेम की साक्षात् मूर्ति प्रभु ईसा के धर्म में दीक्षित यह महिला इतनी निर्दय और प्रेमशून्य है कि अपनी फिटिन के साथ केवल एक पैसे पाने की आकांक्षा लिए मीलों दौड़ने वाले अन्धे सूरदास के प्रति उसको थोड़ी-सी भी भावुकता-

ममता जग नहीं पाती। अपितु सूरदास का हिन्दू होना श्रीमती सेवक को उसके प्रति घृणाभाव को उत्तेजित करने का कारण बनता है। सूरदास के प्रति उसका निम्न-लिखित कथन सूचित करता है कि उसके हृदय में हिन्दू धर्म के प्रति घृणा का कितना ऊँचा पर्वत अचल होकर स्थित है—"तेरे भगवान ने तुझे अन्धा क्यों बना दिया? इसीलिए कि तू भीख माँगे।" अपने इस आवेश के क्षण में वह भूल जाती है कि अंधे-लंगड़े केवल हिन्दुओं का भगवान ही पैदा नहीं करता बल्कि ईसाइयों का खुदा (गॉड) भी पैदा करता है।

प्रेमचन्द के युग का यह विश्वास था कि घृणा से घृणा ही उत्पन्न होती है और द्वेष राग का जन्म देने में नितान्त अक्षम होता है। प्रभु ईसा ने भी घृणा को प्रेम से जीतने के लिए कहा था। लेकिन श्रीमती सेवक को धर्म की इस उच्च भूमि से कहाँ परिचय है।

सेवक परिवार में ही मिस्टर जानसेवक की पुत्री सोफिया भी है जिसके धार्मिक विचार अत्यन्त उदार हैं। धार्मिक विषयों में वह अपनी विवेक-बुद्धि के सिवा और किसी के आदेशों को नहीं मानती।[1] प्रेमचन्द की सोफिया बुद्धि युग की उपज है और फलतः वह मानती है कि सच्चा मजहब बैर करना नहीं सिखा सकता। सोफिया जैसे नये बुद्धिवादी यह भी मानते हैं कि धर्मतत्त्वों को बुद्धि की कसौटी पर कसने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगों में सत्य को उसकी व्यापकता में ग्रहण कर सकने तथा अन्य धर्मों की अच्छाइयों की प्रशंसा करने का साहस है और इसके साथ ही स्वधर्म की बुराइयों को स्वीकार करने की ईमानदारी भी है। इस युग तक आकर शिक्षित समाज रूढ़िमुक्त होकर धर्म और विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसने लगा था। 'रंगभूमि' की सोफिया इसी नयी पीढ़ी की है। उसके विषय में प्रेमचन्द ने लिखा भी है—धर्म-तत्त्वों को बुद्धि की कसौटी पर कसना उसका स्वाभाविक गुण था और जब तक तर्क की बुद्धि स्वीकार न करे वह [illegible] के आधार पर किसी सिद्धान्त को न मान सकती थी।[2] अस्तु, श्रीमती सेवक और उसकी बेटी सोफिया की आस्था में यह अन्तर दो [illegible] पीढ़ियों का है। [illegible] घृणा अथवा द्वेष की भावना नहीं है।

[illegible]

---

1. रंगभूमि—पृ० ३४
2. वही, पृ० ३४

कहने-सुनने के अधिकारी पात्र ही नहीं हो सकते । उसे यदि सुझाया जाता कि हिन्दुओं ने भी यह बताया है कि सच्चा वैराग्य तो मन में उत्पन्न होता है उसका दिखाना व्यर्थ है तो वह तुरत कह बैठती—हिन्दुओं ने यह सब यूनानियों से सीखा है । हिन्दू-विरोधी मसीहियों में उन दिनों यह प्रवृत्ति देखी गयी थी । मसीही विद्वान् जिस ज्ञान का सम्बन्ध ईसाइयत से सीधे बैठा नहीं पाते थे उसे वे हेलेनिक प्रभावोत्पन्न कहते थे । ऐसा लगता है कि ऐसे लोग हिन्दू जाति को मौलिक चिन्तन के लिए सर्वथा अयोग्य समझते थे ।

पाश्चात्यों के इस अन्याय का भारतीय सुधारकों को विरोध करना ही चाहिए था । अतः उन्होंने मोर्चा संभाला और वे अपनी मान्यताओं की युक्ति युक्तता का जोरदार ढंग से प्रतिपादन करने लगे । इस जोश में उन्होंने भी सत्यासत्य का विचार छोड़ दिया और पाश्चात्यों के प्रत्येक आक्रमण का उत्तर अपनी मान्यताओं के जोरदार समर्थन द्वारा दिया । तभी तो उन्होंने बाल-विवाह जैसी सड़ी-गली रूढ़ि का भी यह कह कर समर्थन किया कि—उससे जाति की रक्तगत पवित्रता अक्षुण्ण रहती है ।

ईसाइयों ने जिस मूर्ति-पूजा को लेकर हिन्दू धर्म की खूब खिल्ली उड़ायी थी उसकी वैज्ञानिकता का भी हिन्दू धर्म की ओर से प्रतिपादन किया गया और बताया गया कि देवता सचमुच मूर्ति में नहीं वास करता । देवता तो हमारे भाव में है और वही मुख्य है । 'रंगभूमि' की सोफिया मूर्ति-पूजा के अन्तर्निहित मर्म को जब समझ जाती है तब वह स्वीकार करती है "मैं मूर्ति-पूजा को सवर्था मिथ्या समझती थी लेकिन आज से मैं मूर्ति-पूजा की कायल हो गयी ।"[1]

सोफिया द्वारा हिन्दू धर्म की इस प्रकार वकालत कराने के पीछे भी प्रेमचन्द का एक विशेष उद्देश्य है । वैसे तो तदर्थ किसी हिन्दू पात्र को भी उपस्थित किया जा सकता था । लेकिन रंगभूमि की सोफिया को प्रेमचन्द भारतीय लोकमानस पर अपनी निष्पक्ष उदारता की छाप रख देने वाली श्रीमती एनी बेसेन्ट का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत कर रहे हैं । प्रेमचन्द ने स्वीकार भी किया है कि वे एनी बेसेन्ट से प्रभावित हुए थे ।[2]

हमें यह विदित ही है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट ने विदेशी और विधर्मी होने पर भी हिन्दू धर्म की कभी चिन्ता नहीं की । बल्कि उन्होंने उसकी उच्चता और महत्ता से विस्मय-विमुग्ध होकर मुक्त कंठ से अनुशंसा की ।

१—रंगभूमि, पृ० ६३
२—कलम का सिपाही

'रंगभूमि' की सोफिया को भी हिन्दू धर्म की बहुतेरी बातें अच्छी लगती हैं। वह कहती ही है हिन्दू घरानों में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं। बाप सनातन धर्मावलम्बी है तो बेटा आर्य समाजी, पति दल समाज में है तो स्त्री पाषाण ब्रह्म-पूजकों में। सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं।[1]

हिन्दू धर्म के अनुदार आलोचकों की आँख खोलने की निमित्त प्रेमचन्द ने यह बताया कि कोई भी धर्म अपनी मूल रूप में बुरा नहीं होता। प्रायः सभी धर्म विभिन्न मार्गों से चलकर एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयासी हैं।[2] अस्तु, भिन्न धर्मों के प्रति हमारे हृदय में सम्मान का भाव होना ही चाहिए, आक्रोश, घृणा अथवा द्वेष का नहीं। और फिर धर्म तो आचरण के लिए है। यदि अपने आचरण से हम धर्म को सुन्दर बना पावें तो दोष धर्म का न होकर हमारा ही होगा कि हम अपने धर्म को अपने जीवन में उतार न सके। सरदार पूर्णसिंह ने बहुत ही ठीक कहा है कि साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मन्दिर और हर मस्जिद में होते हैं परन्तु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादरी स्वयं ईसा होता है, मन्दिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मस्जिद का मुल्ला स्वयं पैगम्बर और रसूल होता है।[3]

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने ईश्वरसेवक और जान सेवक के प्रमाण पर यह दिखाया है कि हिन्दू-धर्म के आलोचक ईसाई समाज की अपनी दशा क्या थी। हिन्दू धर्म के जिस आडंबर, पाखण्ड और ढोंग की ईसाई प्रचारक पानी पी-पीकर भर्त्सना करते हैं स्वयं उनका जीवन भी वैसे ही दूषित है।

जान सेवक का पिता ईश्वर सेवक बात-बात पर कहता तो है कि 'प्रभु मसीह मुझे अपने दामन में छिपा, अपनी भटकती हुई भेड़ों को सच्चे मार्ग पर ला।'[4] किन्तु, उसका यह कहना शुद्ध दिखावा है, ढोंग है।

ईसाई जान सेवक उस स्थान पर और भी अधिक खुलता है जहाँ वह प्रभु सेवक से कहता है—सम्भव है तुम्हें ईसा पर विश्वास हो ··· पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को भी काम छोड़कर गिरजे अवश्य जाता हूँ, न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा।[5]

१, रंगभूमि—पृ० ३८
२. कायाकल्प
३. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध—पृ० ६५-६६
४. रंगभूमि—पृ० ३५
५. रंगभूमि—पृ० ८२

तत्व की दृष्टि से पिता और पुत्र—ईश्वर सेवक और जान सेवक में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही पूंजीवादी मनोवृत्ति वाले हैं और दोनों ही धन कमाना चाहते हैं। वे यह भी जानते हैं कि धन कमाने की लालसा शोषण से ही फलवती होती है।

प्रभु मसीह के दामन में छिपने की आकांक्षा रखने वाला ईश्वर सेवक ही अपने बेटे को पैसे कमाने का राज सिखाता है। प्रेमचन्द ने बताया है कि ईश्वर सेवक के उपदेश का ही फल है कि जान सेवक का धन और मान दिनोंदिन बढ़ रहा है।[1]

धर्मध्वजी ईश्वर सेवक स्वार्थ और अवसरवादिता की ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर देता है कि उसके पुत्र जान सेवक को धर्म का ढिंढोरा पीटे बिना ही स्वार्थ सिद्ध करने की सहूलियत हो जाती है।

पाण्डेपुर के सूरदास की जमीन को जानसेवक अपना कारखाना खोलने के लिए हथियाना चाहता है। लेकिन धर्मभीरु मुंशी ताहिर अली को जो बाल-बच्चों वाला है डर है कि उस जमीन के निकल जाने से सारी आबादी को तकलीफ होगी और उनकी बददुआओं का अजाब उसके बाल-बच्चों पर जरूर पड़ेगा।'[2] किन्तु जैसे किसी पूंजीपति को ऐसी बातों की कोई परवाह नहीं होती वैसे ही मिस्टर जान सेवक और श्रीमती सेवक को अजाबों का कोई भय नहीं है। जानसेवक अपने मुंशी को आश्वस्त करते हुए कहता है—अजाब तो मेरी गर्दन पर पड़ेगा ? मैं उसका बोझ उठा सकता हूँ।[3]

ताहिर अली विवश है वह ऐसा दयनीय जीवन बिताने के लिए विवश है कि वह जहाँ पल रहा है अपने खुदा को नाखुश कर सकता है अपने मालिक को नहीं। यह इसलिए कि धर्म उसका पेट नहीं भर सकता। उसे पैसे चाहिए अपने कुटुम्ब को पालने के लिए भाइयों को पढ़ाने के लिए, दो माताओं और पत्नी के शरीर ढंकने के लिए।[4] पैसा ही पूंजीवादी युग का भगवान हो गया है। पूंजीपति जान सेवक ताहिर अली को धर्म की शिक्षा इन शब्दों में देता है—धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार ··· धर्म तो व्यापार का शृंगार है। ··घर में फालतू समय हो तो नमाज पढ़िए, हज कीजिए, मसजिद बनवाइये, कुएँ खुदवाइये। · खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।'[5]

यह है धर्म की पूंजीवादी व्याख्या। यह पूंजीवाद धर्म को प्रदर्शन, सामाजिक

---

१. रंगभूमि—पृ० ३०
२. वही, ,, ८३
३. वही, ,, ८३
४. अगर मालिक की बात न मानूँ तो कुटुम्ब का पालन क्यों कर हो। बरसों मारे-मारे फिरने के बाद तो यह ठिकाने की नौकरी हाथ आई है। रंगभूमि, पृ०८४
५. रंगभूमि—पृ० ८५

प्रतिष्ठा और व्यावसायिक उन्नति के कवच के रूप में स्वीकार करता है। वर्ग-भिन्नता के इस युग में धर्म और भगवान भी शायद वर्गगत हो गया है। ताहिर अली अपने मालिक की निगाह बचाकर कुछ भी लेना हराम समझता है। क्योंकि वह धर्मभीरु है।[1] लेकिन वही अपने मालिक को तरह-तरह के हथकंडे अपना कर अन्धे गरीब सूरदास की जमीन हथियाते भी देखता है। एक सहज प्रश्न उसके मन में उठता है। क्या उसका खुदा और उसके मालिक का खुदा अलग-अलग है? शायद ऐसा ही है, जो ऐसा न होता तो ईमान पर चलने के बावजूद उसके घर के बच्चों को रात-दिन झाड़-फूँक, गंडे-तावीज की जरूरत पड़ती रहती है और उधर अंग्रेजों के बच्चे हैं जिन पर कभी किसी की बुरी नजर नहीं लगती और न कोई बला ही उन पर आती है।[2]

इस कठोर वास्तविकता को देखकर कहना ही पड़ता है कि ताहिर अली जैसे लोगों के सोचने-बरतने में ही कहीं कोई भूल है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'रंगभूमि' की निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़ना उचित होगा—'धर्म का मुख्य स्तम्भ भय है। अनिष्ट की आशंका को दूर कर दीजिए फिर तीर्थयात्रा, पूजापाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज किसी का निशान भी न रहेगा, मसजिदें खाली नजर आएंगीं, और मंदिर वीरान।'[3]

धर्म के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की अपनी कुछ निश्चित मान्यताएँ थी जिन्हें यत्र-तत्र उन्होंने प्रकट भी किया है। धार्मिक पाखण्ड के प्रति प्रेमचन्द को प्रारम्भ से ही आक्रोश था। उसे वे धर्म नहीं मानते थे। उनके अनुसार धर्म वही है जो मनुष्य के अन्दर मानवोचित गुणों का विकास करे। यह आवश्यक नहीं कि धर्मभीरु शिक्षित जनों में ही ऐसे भाव पायें जावें। किसी में भी सात्विक वृत्ति पायी जा सकती है।

भीख मांगकर गुजारा करने वाला सूरदास भी त्याग की मूर्ति होने से धार्मिक है।[4] सूरदास अपने लिए भीख मांगता है, लेकिन अपनी जमीन उसने दूसरों की गायों के चरने के लिए खाली छोड़ रखी है। वह अन्धा है, शरीर शक्ति से हीन है, फिर भी अपने भरसक दूसरों का उपकार करने से पीछे नहीं हटता था।[5] प्रेमचन्द, सद्वृत्तियों से अनुप्राणित, लोकहित को ध्यान में रखकर किये गये [illegible] को धर्माचरण मानते हैं।

---

१. रंगभूमि—पृ० ७२
२. वही, „ ७६
३. वही, „ १६
४. वही, „ १६
५. मुझे भगवान [illegible]
[illegible]

'कायाकल्प' में सन् १६२४-२८ की कालावधि के बीच जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उनका चित्र प्रस्तुत है—

हिन्दुओं और मुसलमानों के परस्पर संघर्ष का एक बड़ा कारण गाय की कुर्बानी का प्रश्न था। लेकिन सच तो यह है कि गाय की कुर्बानी अपने में एक महत्व-पूर्ण प्रश्न नहीं थी, मुख्य थी कुर्बानी के पीछे छिपी हुई भावना। प्रश्न अधिकार का था—जिद का था। हिन्दुओं को यह सुझाया जा रहा था कि गाय उनकी संस्कृति के अन्तर्गत मातृ रूप है और उधर मुसलमानों को यह बहकाया जा रहा था कि गाय की कुर्बानी करना उनका धार्मिक अधिकार है और अपने धार्मिक कृत्य के लिए उनको पूर्ण स्वच्छन्दता होनी ही चाहिए। इसलिए मुसलमान हिन्दुओं के मुहल्ले में ही कुर्बानी करेंगे।[1]

जाहिर है, ऐसी स्थिति में हिन्दू यही समझेंगे कि उनकी धार्मिक भावना पर कुठाराघात हो रहा है। इस तरह दोनों के बीच संघर्ष के लिए आधार तैयार हो जाता है। प्रेमचँन्द के 'कायाकल्प' में इस स्थिति की भयानकता का सशक्त दिग्दर्शन कराया गया है।

'कायाकल्प' में मुसलमानों का नेता ख्वाजा महमूद फरमाता है—'जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय उसे एक हजार हजों का सवाब होगा।'[2]

अब हिन्दू भी क्यों कर चुप बैठे रहें? काशी के पण्डितों की व्यवस्था है—'एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।'[3]

देश जब सदियों की गुलामी के बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा हो, धार्मिक मदान्धता को पश्रय देना किस राष्ट्रवादी को अच्छा लगेगा? ऐसे अवसर पर राष्ट्रवादी साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह भेदभाव पैदा करने वाली शक्ति पर प्रहार करे और निष्पक्ष होकर अपनी जाति-सीमा से ऊपर उठकर सत्य और केवल सत्य का संदेशवाहक हो जाय।

'कायाकल्प' का चक्रधर प्रेमचन्द के अपने विचारों को प्रकट करता है और यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद को लक्ष्य कर कहता है—दोनों आदमी फिर धर्मान्धता के चक्कर में पड़ गये होंगे। जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे हमारी यही दशा रहेगी।...मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूँ और सभी समुदायों

---

१. कायाकल्प—पृ० ३४
२. वही, पृ० २६६
३. वही, पृ० २६६

की नीति एक-सी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं।'[1]

स्पष्ट है, प्रेमचन्द आर्य समाजी पीछे हैं, राष्ट्रवाद के प्रचारक पहले हैं। यह सत्य है कि प्रेमचन्द का झुकाव आर्य समाज की तरफ था और वे उसके सदस्य भी थे। लेकिन प्रेमचन्द उसके अन्धानुयायी नहीं थे। आर्य समाज आन्दोलन की उस समय दो दिशाएँ थीं—

(क) हिन्दू समाज की उन विकृतियों पर प्रहार करना जिनसे हिन्दू धर्म दुर्बल पड़ गया था।

(ख) हिन्दुओं की उस ग्राहिका शक्ति को जागरित करना जिसके नष्ट हो जाने के कारण हिन्दू-जाति केवल खोना जानती थी, लेना नहीं।

प्रेमचन्द आर्य समाज को तो पसन्द करते थे किन्तु उसके संघर्षशील रूप के प्रति जिसके अन्तर्गत वह शुद्धि आन्दोलन चाहता था—वह बहुत उत्सुकता नहीं रखते थे। आर्य समाज का कहना था कि यदि हिन्दुओं को मांस खिलाकर अथवा कलमा पढ़ाकर मुसलमान बनाया जा सकता है तो फिर जनेऊ पहना कर किसी मुसलमान को हिन्दू क्यों नहीं बनाया जा सकता ?

प्रेमचन्द ने आर्य समाज के इस कार्य को बहुत नहीं सराहा।[2] यह शायद इसलिए कि ऐसे प्रतिक्रियात्मक भावों के प्रचार से हिन्दू-मुस्लिम समस्या के समाधान में मदद नहीं मिलती थी बल्कि तनातानी को ही उत्तेजना मिलती थी। [illegible] जैसे कुछ आलोचकों को प्रेमचन्द से इस विषय में शिकायत भी है। वे ऐसा कहते हैं कि प्रेमचन्द ने मुसलमानों के प्रति ऐसा कहकर पक्षपात ही किया है।[3] किन्तु प्रो० [illegible] प्रेमचन्द की आलोचना करते समय देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति आँखें बंद कर लेते हैं। सन् १९२४-२५ में देश के नेता राष्ट्रीय हित का ध्यान करते किसी भी कीमत पर देश में आपसी ऐक्य बनाये रखना चाहते थे। अस्तु, प्रेमचन्द के सांप्रदायिक विचारों को नेताओं की इसी भाव-स्थिति के संदर्भ में ग्रहण करना उचित होगा।

'कायाकल्प' में देवप्रिया और उनके पति के तीन-तीन जन्मों की जो कहानी आयी है वह कौतुक जैसी जान पड़ती है। आलोचकों ने सदैव 'कायाकल्प' की आलोचना भी की है। पुनर्जन्म की इस कथा के समावेश से 'कायाकल्प' की कथा प्रभावित हुई है या नहीं, इस प्रश्न पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सीमाओं के कारण विचार

---

१. कायाकल्प—पृ० २३८
२. (निबन्ध) [illegible]
३. प्रेमचन्द और गोर्की—पृ० ३१२

स योजना के पीछे

करना समीचीन नहीं होगा। हाँ, इतना तो कहा ही जायगा कि इ का प्रभाव।
प्रेरणा रूप है—श्रीमती एनी बेसेन्ट की थियासोफिकल सोसायटी सायटी के विचारों

अब तक लिखे उपन्यासों में प्रेमचन्द ने थियासोफिकल सो कर उन्हें विस्तार
को छिटफुट ढंग से ही व्यक्त किया था।[1] लेकिन 'कायाकल्प' में अ
में जाने का अवसर मिला। प्रभाव की हानि का

थियासोफिकल सोसायटी ने भी भौतिकवाद के बढ़ते हुए था। 'कायाकल्प' में
अनुमान करके आध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया त होगा—'भौतिक
भी यह विचार किस रूप में प्रस्तुत है यह इस पंक्ति से ही वि
ज्ञान से आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता।'[2] का राजकुमार, जो

इस प्रसंग में ज्ञातव्य यह भी है कि 'कायाकल्प' में हर्षपु योग कर रहा है, एक
बर्लिन की प्रयोगशाला में बैठा जीव-तत्व सम्बन्धी वैज्ञानिक प्र वहीं उसे दिव्य ज्ञान
तिब्बती भिक्षु से प्रेरित होकर तिब्बत की यात्रा करता है और
की प्राप्ति होती है।[3] तमाओं से सम्बन्ध था

रूस की श्रीमती ब्लेवस्टकी का भी तिब्बत की श्रेष्ठ आ
और उन्हीं के पथ-प्रदर्शन में वह काम भी किया करती थी।[4] त के मुकाबले भारतीय

थियासोफिकल सोसायटी ने पाश्चात्य आधुनिक विज्ञा कि नयी दुनिया जहाँ
आध्यात्मवाद की महत्ता का उद्घोष किया था और बताया था ज से बहुत पहले ही
पहुँचने के लिए जो आजमायश कर रही है भारतीय मनीषी अ ने 'कायाकल्प' में इस
वहाँ पहुँच चुके थे। उक्त सोसायटी के इसी विचार को प्रेमचन्द पहुँच सकता है उसकी
प्रकार वाणी दी है—'मेरा यान आकाश में जितनी ऊँचाई तक
यूरोप वाले कल्पना भी नहीं कर सकते।'[5] क उपयोगिता के विषय

इसी सोसायटी की प्रेरणा थी कि विज्ञान की वास्तवि बढ़ाने वाले विज्ञान के
में यह सोचने-विचारने की प्रेरणा हुई कि जीवन की सुविधाएँ पक्ष को ही ध्यान में
ही कारण खतरा बढ़ता है। प्रेमचन्द विज्ञान के उस आग्नेय

---

१. सेवासदन-रंगभूमि।
२. कायाकल्प, पृ० ७८।
३. तिब्बत की तपोभूमि में आज भी ऐसी महान आत्माएँ हैं जो माया का रहस्य खोल सकती हैं—कायाकल्प, पृ० ७८।
४. संस्कृति के चार अध्याय—पृ० ४७२।
५. कायाकल्प—पृ० ८७।

कहते हैं—'विज्ञान अगर प्राणियों का उपकार न करे तो उसका मिट ही
रखकरअच्छा ।'[1]
जाना । उनको ऐसे विचारों के कारण पुरातनपंथी प्रतिक्रियागामी भी नहीं कहा जा
। यह इसलिए कि उन्होंने आधुनिक युग में होने वाली वैज्ञानिक प्रगति के प्रति
सकतात्सुकता रखी ।[2]
पूर्ण उ यह इससे प्रमाणित है कि आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के प्रवर्तक डार्विन
लेख उन्होंने 'कायाकल्प' में किया है ।[3]
का उ भारत के मनीषियों ने बताया है कि मनुष्य अपने कर्मों का भोग भोगता है
तदर्थ उसे बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है । 'कायाकल्प' में इसी धारणा
और स्वरूप देवप्रिया का पति फिर-फिर जन्म लेकर अपनी पत्नी के पास आता है ।
के फ यह भी माना है कि मनुष्य की आत्मा की अतृप्त लालसाएँ उसे बार-बार संसार
हमनेजती हैं । 'कायाकल्प' की देवप्रिया का पति भी कहता है—'यह अतृप्त तृष्णा
में भे फिर मुझे तुम्हारे पास लायेगी ।'[4]
फिर देवप्रिया और उसके पति का वृत्तान्त एक अन्य कारण से भी उल्लेख्य है ।
प्रिया का पति स्वयं अपने उद्धार के लिये जिस अर्थ में प्रयत्नशील है, उसी अर्थ में
देव दिवप्रिया की वासनात्मक वृत्तियों के शमन के लिए भी उत्सुक है ।
वह हिन्दुओं ने धार्मिक साधना के क्षेत्र में स्त्रियों को बाधक माना है । हाँ, कबीर
कुछ संत ऐसे अवश्य थे जिन्होंने गृहस्थी बसायी थी और स्त्री-संगति को सर्वथा
जैसेज्य नहीं माना था । इसके पीछे उनका वैष्णव आदर्श था जो सनातन कर्म विधान
त्याविश्वास रखता था । लेकिन ऐसे संतों को भी कामिनी-रूपिणी माया बाधक स्वरूप
में ती थी । इस कारण नारी धर्म साधना के क्षेत्र में अनादृत थी ।
दी स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इस विषय में बड़ी ही क्रान्तिकारी धारा बहाई ।
अन्त तक अपनी पत्नी के साथ रहे और उन्होंने दिखा दिया कि नारी धर्म-साधना
वे बाधक नहीं होती । रामकृष्ण ने कहा था कि यदि उनकी पत्नी उतना शुद्ध नहीं
में ती तो उनका संयम भी अस्त-व्यस्त हो जाता । वस्तु नारी को आनन्दमयी माता के
हृदय की ऊँचाई तक पहुँचाने वाले पहले व्यक्ति स्वामी रामकृष्ण ही हुए ।

---

1. कायाकल्प—पृ० ८६
2. वही, „ ७७
3. वही, „ ७७
4. वही, „ २४६

जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष या नारी के सहयोग की अपेक्षा है। बिना उस सहयोग के न तो व्यक्ति की उन्नति हो सकती है, न समाज की ही। अपने को रामकृष्ण की तरह परम साधक और देवप्रिया को आनन्दमयी माँ बनाने के लिए देवप्रिया अर्थात् कमला के पति शंखधर को फिर-फिर जन्म लेना पड़े तो वह जन्म लेगा, लेकिन जीवन की पूर्णता वह पत्नी के साथ ही प्राप्त करेगा, अकेले नहीं। इसलिए दो बार जन्म लेने के बाद भी शंखधर अनुभव करता है कि वह पूर्ण साधक नहीं बन सका, उसकी अतृप्त इच्छा अभी भी मुक्ति में बाधक है अस्तु, तीसरी बार भी मरते समय वह यही कहता है—'प्रिये फिर मिलेंगे। यह लीला उसी दिन समाप्त होगी जब प्रेम में वासना न होगी।'[1]

इस उपन्यास में एक जगह मुंशी वज्रधर की पत्नी निर्मला मुंशीजी की धार्मिक वृत्ति का खोखलापन प्रकट करती हुई कहती है—बड़े धर्मात्मा बनकर आये हो। रिश्वतें ले-लेकर हड़पते हो तो धर्म नहीं जाता। झूठ के पहाड़ खड़े करते हो तो पाप नहीं लगता, लड़का एक अनाथिनी की रक्षा करने जाता है तो नाक कटती है।[2]

मुंशी जी को अपने पुत्र चक्रधर का अहिल्या से विवाह करना पसन्द नहीं है। उसकी रूढ़िवादिता वैसी अज्ञात कुलशीला लड़की को अपनी पुत्रवधू बनाने नहीं देती जो मुसलमानों के हाथों में पड़ गयी थी। इधर उसकी पत्नी निर्मला अपने बेटे का चरित्र जानती है और समझती है कि उसका दृढ़-प्रतिज्ञ पुत्र चक्रधर उस लड़की को अपनायेगा ही।

हमें यह धोखा नहीं होना चाहिए कि भारतीय हिन्दू नारी समाज अपने अन्ध-विश्वास से 'कायाकल्प' की रचना के समय तक आकर मुक्त हो गया था। एकलौते बेटे के खोने का भय ही माँ को इदना उदार बना देता है। फिर यह प्रमाण भी है कि सर्वगुणसम्पन्ना अहिल्या को बहू के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद भी जैसे वज्रधर वैसे ही निर्मला उसके हाथ का छुआ हुआ नहीं खाते।[3]

प्रेमचन्द को धर्म के नाम पर होने वाले ऐसे आडम्बरों से चिढ़ है। फिर भी वे सर्वथा निराश नहीं हैं। भविष्य के प्रति वे निश्चय ही आशावान हैं। इसीसे वे मानते हैं कि स्थिति बदलेगी और संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।[4]

---

१. कायाकल्प—पृ० ४६१
२. वही, ,, २७७
३. वही, ,, ३००
४. वही, ,, २३८

प्रतिज्ञा

सन् १९२७ में प्रेमचन्द का एक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' नाम से 'चाँद' में धारा-वाहिक में रूप में प्रकाशित हुआ, जो उनके पूर्वलिखित उपन्यास 'प्रेमा' का ही संशोधित रूप था।

'प्रतिज्ञा' में लेखक ने अपने को सामाजिक समस्या तक ही सीमित रखा है। लेकिन प्रेमा में जहाँ विधवा पूर्णा का विवाह सम्पन्न हो जाता है, वहाँ 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा अनाथाश्रम में आश्रय पाती है। उसका पुनर्विवाह नहीं होता। पूर्णा का एक और नया रूप 'प्रतिज्ञा' में हमें उस जगह प्राप्त होता है जहाँ वह बाजार में एक पैसे में मिलने वाली मिट्टी की मूर्ति को भगवान मानकर उसके प्रति अगाध प्रेम, अपार भक्ति अर्पित करती हुई दिखाई देती है।[1]

मूर्ति पूजा का खण्डन ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसे सभी सुधार आन्दो-लनों ने किया था। फिर भी प्रेमचन्द 'प्रतिज्ञा' में मूर्ति-पूजा की बात उठाते हैं। शायद वह यह समझते थे कि पूर्णा जैसी शास्त्र-ज्ञानवंचिता नारी में इतनी बौद्धिक क्षमता नहीं हो सकती कि वह निराकारोपासना कर सके, बिना किसी माध्यम के भक्ति कर सके। अपने इस विषय के अनुभव के प्रमाण पर प्रेमचन्द सम्भवतः यही समझते थे कि पूर्णा जैसी नारी के लिए साकारोपासना ही सुलभ है। मुख्य बात तो यही है कि विधवा पूर्णा निष्ठापूर्वक आश्रमवासिनी हो जाती है। वह विवाह करके किसी का घर आबाद नहीं करती।

कर्मभूमि

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' उपन्यास की रचना सन् १९३०-३२ के राजनीतिक उथल-पुथल के समय की थी। इन उथल-पुथल के काल में भारतीय जनता राष्ट्रीय कांग्रेस के मार्ग-निर्देश पर ब्रिटिश-सरकार से स्वराज्य के लिए मांग कर रही थी। ब्रिटिश सरकार यह कहती चली आती थी कि इस देश का शासन वह अभी इस कारण अपने हाथ में रखे हुए है जब तक भारतीय स्वशासन के लिए योग्य नहीं हो जाते लेकिन, असली बात तो यह थी कि वह कभी नहीं मानना चाहती थी कि भारतीयों में स्वशासन के लिए अपेक्षित योग्यता हो गयी है। इस देश के लिए ब्रिटेन नीति में [illegible]

---

1. प्रतिज्ञा—पृ० १४५

शासन चलता जा रहा था उसने हिन्दुओं और मुसलमानों को तो परस्पर पृथक् कर ही रखा था अब उससे भी आगे बढ़कर सरकार ने अछूतों का सवाल खड़ा कर उन्हें हिन्दू धर्म से भिन्न मानना शुरू किया।

अंग्रेजों की इस भेद नीति से गांधी जी का चिन्तित हो जाना स्वाभाविक था। उन्होंने इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए एक ओर ब्रिटिश सरकार की इस भेद नीति का विरोध करना शुरू किया तो वहीं दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की उस बुराई की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जिसके कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को हिन्दू-धर्म की दुर्बलताओं से लाभ उठाने का अवसर मिल जाता था। जब अंग्रेजों ने अछूतों को दलित कहकर उनके लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाया तो गांधी जी ने उसका विरोध किया। उन्होंने देखा कि सरकार इस पृथक् निर्वाचन पद्धति का सिलसिला खड़ा कर सदा-सर्वदा के लिए अछूतों को हिन्दू-धर्म से भिन्न रखना चाहती है। इससे उन्होंने कहा था—अस्पृश्यता जीवित रहे ;इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझता हूँ कि हिन्दू धर्म डूब जाये।[1]

प्रेमचन्द ने हिन्दू-धर्म और समाज की बुराइयों पर प्रहार करने का अवसर जहाँ भी देखा है उन्होंने उन्हें छोड़ा नहीं है। 'कर्मभूमि' में अछूतों की एक बड़ी समस्या अस्पृश्यता थी जिसके आधार पर वे हिन्दू-धर्म की प्रचलित रूढ़ मान्यताओं का खोखलापन दिखला सकते थे और फिर वह शोषक विलासी महंत है जिसके विरुद्ध प्रेमचन्द आग उगल सकते थे। किन्तु, कर्मभूमि की रचना का उद्देश्य सामाजिक अथवा धार्मिक रूढ़ियों पर प्रहार करने से पूरा नहीं हो जाता। इस उपन्यास में धर्म की उस राजनीति को प्रेमचन्द ने पहचाना है जिसके बल पर अंग्रेज भारतवर्ष में अपने डटे रहने का औचित्य सिद्ध करते थे। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने यही दिखलाया है कि अंग्रेजों की राजनीति किस प्रकार धर्म की आड़ में खेल रही थी और कैसे हिन्दू-धर्म की बुराइयों के कारण देश की स्वतन्त्रता के प्रश्न को खटाई में डाला जा रहा था। एक राष्ट्रवादी कलाकार होने के नाते यह सर्वथा उचित ही था कि वे उन तमाम बातों को अपने ध्यान में रखते जिनके कारण हमारी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था।

'कर्मभूमि' में पंडित मधुसूदन जी द्वारा ठाकुरद्वारे में कही जाने वाली कथा का वर्णन आया है।[2] पंडित जी की कथा सुनने के लिए ठाकुरद्वारे में शाम से ही भीड़ लग जाती है।[3] कथा सुनकर अपना परलोक सुधारने की लालसा से कुछ अछूत भी

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग १—पृ० ५५७

२. कर्मभूमि—पृ० १६७

३. वही ,,

वहाँ पहुँच जाते हैं और बड़े लोगों से हट कर वहाँ बैठ जाते है जहाँ जूते रखे जाते हैं।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अछूत भी अपने को वैसा ही समझते हैं जैसा उनको अन्यायी हिन्दू-समाज समझता है। धर्म के ठीकेदारों को यह सह्य नहीं कि अछूत उनके ही मुकाबले में बाहर बैठ कर भगवान की कथा सुनने का लाभ उठा सकें। उन्हें भगवान के मन्दिर में ही भगवान के भक्तजन भगवान के ही भक्तों पर जूतों की वर्षा करते हैं।[2] यहाँ मन्दिर में वह भगवान है जो दीनबन्धु के नाम से पुकारा जाता है।

प्रो० शान्तिकुमार और उसके सहयोगी उन अन्ध भक्तों की अनीति का विरोध करते हैं और उस दिन कथा बन्द हो जाती है।[3]

अंत्यज कही जाने वाली जातियों के उत्थान के लिए आधुनिक काल में राजा राममोहन राय के समय से ही प्रयास होते रहे हैं। लेकिन बड़े-बड़े सुधारकों के प्रायः १०० वर्षों के प्रयास के बाद भी अछूतों की दशा नहीं बदली। प्रेमचन्द ने समझा कि अपने को बड़े आदमियों के जूते के समान समझने के कारण ही तो उन्हें उनसे जूतों की भेंट मिलती है। इससे उनको लगा कि अछूतों की दशा तब तक नहीं सुधर सकती जब तक स्वयं अछूतों को अपनी दुर्दशा पर आपत्ति करना नहीं आ जाता। प्रेमचन्द ने समझ लिया था कि अछूतों का उद्धार तभी हो सकेगा जब उनकी सोई हुई आत्मा को कोई जगा दे। 'कर्मभूमि' का प्रो० शांतिकुमार इसी कर्तव्य की पूर्ति का प्रयास करता है।[4]

मन्दिर में जब अछूतों को कथा सुनने की सुविधा नहीं दी जाती तब प्रो० शांतिकुमार स्वयं कथावाचक हो जाता है। लेकिन उस कथा-मण्डली में प्रो० शांतिकुमार किसी अवतार की कहानी नहीं कहता। वह अछूतों से ही एक सीधा सा प्रश्न पूछता है कि क्या उन्हें ईश्वर ने ऐसा ही गर्हित जीवन व्यतीत करने के लिए बनाया है? यदि ईश्वर ऐसा अन्यायी नहीं है तो स्पष्ट है कि उनकी यह दुर्दशा [illegible] है, यह समाज का उन पर अन्याय है। समाज को उन पर अन्याय करने का [illegible] कोई अधिकार नहीं है। यह उनका अत्याचार है और अत्याचार को सहना भी [illegible] है। इसलिए अछूतों को कुछ सोचना चाहिए। उनके विरुद्ध होने वाले अत्याचार का विरोध करना ही चाहिए।[5] मन्दिर किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है, सार्वजनिक

१. कर्मभूमि—पृ० १९९
२. वही, पृ० १९९
३. वही, पृ० २०१
४. वही, ,, २०१
५. वही, ,, २०२-३

संस्था है। मन्दिर के भगवान तक जाने का अधिकार अछूतों को भी उतना ही है जितना सवर्ण वर्ग को।[1] इसलिए उनको लेकर शांतिकुमार मन्दिर की ओर चल पड़ता है।[2] स्वभावतः धर्म के ठीकेदारों को यह सह्य नहीं होता और लाठियाँ चल पड़ती हैं।[3]

इस संघर्ष में दो-चार अछूतों की जान तो जाती है लेकिन मन्दिर का द्वार सबके लिए खुल जाता है।[4] कहना नहीं होगा कि यह सब कह कर प्रेमचन्द ने यह बताया है कि जब तक अछूत अपने उद्धार के प्रयासी न होंगे, अपने हक के लिए खड़ा होना न सीखेंगे तब तक दूसरों के करने से न तो उनका उद्धार हो सकता है और न उनको अपना प्राप्य मिल सकता है।

यह युग अन्याय का विरोध करने और अपने स्वत्व की प्राप्ति के लिए कर्मभूमि में आने का था ही। 'कर्मभूमि' के अछूत भी अपने हक पर इसीसे डटते दिखाये गये हैं।

अधिकार प्राप्ति के लिए अछूतों ने जो संघर्ष किया है उसका रूपाकार भी ठीक वही है जो अवज्ञा आन्दोलन का था।

अपनी प्रारम्भिक कृति 'देवस्थान-रहस्य' में प्रेमचन्द ने महंत की 'विलासिता का पर्दाफाश किया था।[5] 'सेवा सदन' का महंत जी भी जमींदार होकर किसानों का शोषण करता है।[6] प्रेमचन्द कर्मभूमि में एकबार फिर से धर्म के इस ठीकेदार वर्ग के जुल्मी और शोषक रूप का चित्रण करते हैं। कर्मभूमि का महंत भी सेवासदन के महंत के ही समान धर्म का ठीकेदार तो है ही, शोषक जमींदार भी है।[7]

धर्मभीरु हिन्दू-जनता का शोषण करने के लिए महंत का धर्म-गुरु होना ही काफी है। लेकिन 'कर्मभूमि' का महंत जालिम जमींदार होने के साथ ही महाजन भी है। इस प्रकार वह तीन-तीन अस्त्रों से लैस होकर परम दुर्दान्त हो जाता है।

महंत की जमींदारी में किसानों पर भगवान के नाम पर जुल्म ढाये जाते हैं। मंदिर में कभी भगवान का जन्म होता है, कभी—उनका यज्ञोपवीत और कभी वे निकलते हैं जल-विहार के लिए और इन सब आयोजनों का दुर्वह बोझ उठाना पड़ता है

१. कर्मभूमि—पृ० २०४
२. वही पृ० २०५
३. वही पृ० २०७
४. वही पृ० २११
५. मंगलाचरण
६. सेवासदन—पृ० ८२६
७. कर्मभूमि—पृ० २८६

उन किसानों को जिनको दोनों शाम रूखी रोटी भी नहीं मिलती। गरीबों के घर के चूल्हे लिपे-पुते पड़े होते हैं और महंत जी के यहाँ तरह-तरह के पकवान बनते हैं।[1] ठाकुर जी के भोग्य पदार्थों के बल पर महंत के चेलों का निजी व्यापार चलता है।[2] महंत के हृदय में जो दयामय है, अपनी प्रजा के प्रति हमदर्दी है उसकी कलई तो सिर्फ इस बात से ही खुल जाती है कि अमरकान्त को महंत का दर्शन तभी हो सकता है जब वह नजराने की अशर्फी पेश करे।[3]

महंत के किसान इन सारे अनाचारों को सिर्फ इसीलिए तो सहने के लिए विवश है कि वे धर्मभीरु हैं।

सन् १९२४ में तारकेश्वरनाथ मंदिर के दुर्वृत्त महन्त के विरुद्ध देशबन्धु चितरंजनदास ने कलकत्ता में एक ऐसा ही आन्दोलन छेड़ा था और उन्होंने मांग की थी कि उक्त मंदिर का प्रबन्ध करने के लिए एक सार्वजनिक संस्था बनायी जाय।[4] इस आन्दोलन के समय भी सरकार महन्त की सहायता में आ गयी थी और कितने ही आन्दोलनकारी जेल में डाल दिये गये थे।[5]

तारकेश्वरनाथ मंदिर के इस संघर्ष से यह प्रकट है कि हमारे राष्ट्र के नायकों के ध्यान में महंतों का अन्याय भी था और वे उसका विरोध करना अपना धर्म समझते थे। सम्भव है, 'कर्मभूमि' की रचना करते समय प्रेमचन्द को इस घटना का स्मरण रहा हो।

गोदान

प्रेमचंद के एकाधिक उपन्यासों में यह दिखाया गया है कि हिन्दुओं में धर्म के नाम पर उन लोगों का शोषण किया जाता है जो धर्मभीरु हैं, समाज-भीरु हैं। 'गोदान' में जिस होरी की [illegible] होती है वह 'मरजाद' [illegible] ही अपनी सारी मर्यादा खो देता है, बिरादरी की [illegible] [illegible] [illegible]

1. कर्मभूमि पृ० २८८
2. वही "
3. " २९९
4. दि इंडियन स्ट्रगल-एस० सी० बोस, पृ० १४२
5. वही " पृ० १४४

मजदूर होकर दम तोड़ देता है। उपन्यास के आरम्भ में उसने अपनी बेवशी का उल्लेख करते हुए कहा है—"जब दूसरे के पांव तले अपनी गर्दन दबी हो तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।'[1] मुसीबत यही है कि किसान के पास गर्दन एक है लेकिन उसके ऊपर पड़े हुए पांव संख्यातीत हैं।

हीरो के इस अनेकानेक शोषकों में एक है पं० दातादीन। यह दातादीन गांव में धर्म की ध्वजा लेकर चलता है। वह बड़ा ही धूर्त है। उसने जमींदार को कभी लगान नहीं दी। जब कभी जब्ती-कुर्की का सवाल आया तो वह अपने ब्राह्मणत्व की धौंस बताकर कुँए में डूबने जाता और जब्ती व्यर्थ हो जाती।[2] उसका चरित्र-विश्लेषण करते हुए प्रेमचन्द ने कहा है—'वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान-जोखिम था, पर चोरी के माल में हिस्सा बंटाने अवश्य पहुँच जाते थे। कहीं पीठ में धूल न लगने देते थे।'[3] पं० दातादीन को लोक-रीति की मर्यादा का दूसरों से पालन कराने की बड़ी फिक्र रहती थी। कहीं किसी से लोक-मर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण हो गया तो बस पं० दातादीन डांड व्यवस्था करने में मुस्तैद हो जाते। गाँव के जिन दो-चार पैसे वाले सरगनों ने खेत पथार वाले छोटे-मोटे किसानों को कर्जदार बनाकर उनको भूमिवंचित कर देने का षड्यंत्र रचा है उनमें यह पं० दातादीन भी है। 'भिखमंगों की जाति' का यह पंडित दातादीन गाँव में छोटा-मोटा महाजन हो गया है। बैलारी गाँव में एक दूसरा धार्मिक व्यक्ति भी है—लाला पटेश्वरी लाल। यह लाला पटेश्वरी हर पूर्णिमा को सत्य नारायण की कथा सुनता है। लेकिन यही असामियों को आपस में लड़वाता भी है। क्योंकि उनके लड़ने से ही इसका उल्लू सीधा होता है। गरीबों को दस-दस पाँच-पाँच कर्ज देकर इसने हजारों की सम्पत्ति खड़ी कर ली है। सारे गाँव में इसके पुण्यात्मा होने का शोर है और सारा गाँव इससे काँपता भी है।[4]

इस प्रकार किसानों को लूटने वाले पंडित दातादीन और लाला पटेश्वरी धूर्त हैं और धार्मिक हैं। धूर्तता और धर्म का यह गँठजोड़ प्रेमचन्द को भाता नहीं था। गाँव में धर्म का जो रूप है जरा उसको पहचानने की चेष्टा भी की जाये।

'गोदान' में सामाजिक-मर्यादा के अतिक्रमण की दो घटनाएँ होती हैं। एक है, गोबर-झुनिया कांड और दूसरी मातादीन-सिलिया कांड। शहर में तो ऐसी घटनाओं

---

१. गोदान—पृ० १२
२. वही पृ० १२८
३. वही पृ० १२८
४. वही पृ० १२६

की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। लेकिन हमारे गाँव हैं जो इतने पुराने आचार-धर्म को जिन्दा रखे हुए हैं। लेकिन ये दोनों घटनाएँ बताती हैं कि हमारी जर्जर सामाजिक मर्यादाएँ गाँवों में भी टूटने लगी हैं।

गाँवों में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन नहीं हुआ है। गोबर ने अपनी जाति से भिन्न जाति की झुनिया को अपनी घरवाली बना लिया है और होरी ने भी उसे यह कहते हुए स्वीकार किया है, "डरो मत बेटी, डरो मत, तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं, आराम से रह, जैसी तू भोला की बेटी है वैसी ही मेरी बेटी है।"[1] लेकिन हमारी समाज, होरी की बिरादरी होरी की तरह इतना उदार कहाँ है जो कहे—"मेहरिया रख लेना पाप नहीं है। हाँ, रख के छोड़ देना पाप है।"[2] बिरादरी ने धर्म के नाम पर होरी को डांडा। कदाचित् यह कहने की जरूरत नहीं कि यह [illegible] होरी के विरुद्ध धर्मध्वजी सरगनों का भारी षड्यन्त्र था। धनिया की शिकायत इस कारण बहुत वाजिब है कि 'होरी है बुद्धू और पंच हैं राच्छस।'[3] होरी इस न्याय-विधान के अन्याय को नहीं समझता—यह बात नहीं है। लेकिन वह यह भी जानता है कि 'जल में रहकर मगर से बैर करना बुद्धपन है।' और फिर वह यह भी मानता है—"हम सब बिरादरी के चाकर हैं, उसके बाहर नहीं जा सकते।...आज मर जायं तो बिरादरी ही तो इस मिट्टी को पार लगावेगी।"[4]

पं० दातादीन का पुत्र मातादीन सिलिया चमारिन से फँस जाता है और उसे रख लेता है। चमारों का इस कांड के विरुद्ध विद्रोह होता है और वे मातादीन के मुँह में हड्डी लगा कर उसे सिलिया की जाति दे देने का उत्पात करते हैं।[5] मातादीन का धर्म इसी खान-पान छूत-अछूत-विचार पर टिका हुआ है। इस घटना से उसके धर्म की जड़ कट गयी। उसे लगा कि उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया।[6] मातादीन ने धर्म के जिस रूप को अपना रखा है वह चूल्हे-चौके में प्रकट होता है। प्रेमचन्द ने ठीक ही व्यंग्य किया है—"हमारा धर्म है भोजन, भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती। रोटियां ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।"[7]

---

१. गोदान—पृ० १२६
२. वही पृ० १३४
३. गोदान पृ० १२२
४. गोदान पृ० ५८
५. हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो। — गोदान, पृ० २४२
६. गोदान पृ० २४४
७. वही पृ० २५०, ३०१-२

समाज ने धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिए व्यवस्था कर रखी है जिसके अनुसार गोबर खिलाकर, गंगाजल पिलाकर प्रायश्चित्त करके मातादीन की गयी हुई जाति उसे फिर वापस दी जा सकती है। वह आज भी तिलक लगाता है, पोथी-पत्रा बांचता है, कथा भागवत कहता है, धर्म-संस्कार कराता है। नित्य स्नान-पूजा करके अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लेता है।

भोला की बेटी को घर में आश्रय देने के अपराध में होरी का हुक्का, पानी बन्द हो जाता है। लेकिन मातादीन का काम गंगा-भेरो करके ही चल जाता है। यह इसलिए ही तो कि पं० दातादीन जबरा है और होरी गरीब।

दातादीन जानता है कि लड़कों से भूल-चूक होती ही रहती है। दूध में मक्खी पड़ जाती है तो आदमी उसे निकाल कर फेंक देता है और दूध पी जाता है।[1] इसकी दृष्टि में होरी का महान अपराध यही है कि उसने झुनियाँ को अपने घर में बैठा रखा है।[2]

समाज और धर्म के पाखण्ड के प्रति विद्रोह का भाव गाँवों में भी पनपने लगा था। मातादीन की न्याय प्रिय आत्मा उसे धिक्कारती है कि सिलिया अपने पेट में उसका गर्भ-धारण किये मजूरी करती है। यह तो भगवान की दया समझनी चाहिए कि सिलिया को घर से निकाली जाने पर धनिया की ममतामयी गोद मिल गयी नहीं तो वह तो मर ही गयी होती।[3] वह समझ गया है कि समाज के नाते आदमी का अगर कुछ 'धरम' है, तो मनुष्य के नाते भी तो उसका कुछ 'धरम' है। 'समाज-धरम पालने से समाज आदर करता है, मगर मनुष्य-धरम पालने से ही ईश्वर प्रसन्न होता है।'[4] ज्ञान के इस अनुभव के बाद मातादीन समाज की निर्जीव मर्यादाओं को तोड़कर अपनी 'बभनई' का बोझ उतार कर, सिलिया का हो जाता है।

कहना नहीं होगा कि मातादीन और गोबर के प्रमाण पर यही सिद्ध होता है कि पुरानी दुनिया जिसका प्रतीक होरी है जो भोला के 'धरम' के आगे निरुपाय होकर उसे अपने बैल ले जाने दे सकता है, अब टूट रही है अथवा टूट चुकी है।

जो धर्म चूल्हे चौके में सीमित हो जाय और जो अत्याचार अनाचार और शोषण का समर्थन ही न करें बल्कि उनका निमित्त हो जाय उसके टूटने, नष्ट होने से आखिर बिगड़ता ही क्या है ?

---

१. गोदान—पृ० १२८
२. वही " १२८
३. गोदान पृ० ३०१
४. गोदान " ३०१

प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामयिक सामाजिक समस्याओं की प्रस्तुति

प्रेमचंद के उपन्यासों में दहेज-समस्या की प्रस्तुति

प्रेमचन्द ने अपने एक मित्र केशोराम सब्बरवाल के नाम अपने एक पत्र में लिखा था कि उन्होने कमोवेश समाज की बुराइयों का पर्दाफाश करने के उद्देश्य से 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' शीर्षक दो छोटे उपन्यास लिखे हैं।[1]

निर्मला के प्रतिपाद्य का निर्धारण करते हुए श्री अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' में लिखा है कि 'निर्मला' में समाज के जालिम ढकोसले, लेन-देन की [illegible] बेचारगी और निपट अकेलापन और अनमेल ब्याह की गुत्थियों की प्रस्तुति हुई है।[2] इस प्रकार निर्मला एक ऐसा छोटा-सा सामाजिक उपन्यास है जिसमें मुख्य रूप से दहेज की प्रथा और तद्जन्य सामाजिक विकृतियों का चित्रण हुआ है।

इसके पहले प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' नामक अपने सामाजिक उपन्यास में बताया था कि जिन कारणों से सुमन वेश्या-वृत्ति अपनाने के लिए विवश हुई उनमें दहेज प्रथा भी एक महत्वपूर्ण कारण थी। 'सेवासदन' के लेखक ने ऐसा अनुभव किया कि यदि हमारे समाज में दहेज की कुप्रथा नहीं होती तो सुमन का विवाह गजाधर जैसे व्यक्ति के साथ नहीं होता। और सुमन वेश्या नहीं होती। यह ठीक है कि सुमन के वेश्या होने के दूसरे कारण भी हैं लेकिन दहेज की कुप्रथा सबसे महत्वपूर्ण कारण है कि दहेज के अभाव में ही सुमन का विवाह उस व्यक्ति के साथ हुआ जिससे सुमन का कोई मेल हो ही नहीं सकता था।

'निर्मला' में इसी दहेज की समस्या की बुराइयों के विषय में [illegible] गम्भीरता के साथ विचार किया है।

निर्मला के पिता वकील उदयभानु लाल की कमाई तो बहुत थी [illegible] संचय-वृत्ति नहीं थी।[3] उनके वकील साहब की मृत्यु के बाद परिवार आर्थिक [illegible]

---

१. चिट्ठी पत्री भाग २, पृ० २०७

२. कलम का सिपाही अमृतराय पृ० [illegible]

३. निर्मला पृ० [illegible]

विपन्न हो गया ।[१] वकील साहब के जीवन काल में ही निर्मला का विवाह आबकारी विभाग के भालचन्द्र सिन्हा के पुत्र भुवनचन्द्र के साथ निश्चित हुआ था ।[२] वर पक्ष ने वकील साहब की अच्छी खासी आमदनी को देखकर यह समझ लिया था कि वकील साहब अपनी लड़की की शादी धूम-धाम से करेंगे और ऐसे व्यक्ति के साथ दहेज की रकम स्थिर करने से अधिक लाभप्रद यही है कि उस प्रश्न को वकील साहब की मर्जी पर ही छोड़ दिया जाय ।[३] वकील साहब के दिवंगत होते ही भालचन्द्र सिन्हा की आशालता पर अनायास तुषारापात हो गया ।[४] इसी से उसने अपशकुन का बहाना लेकर विवाह सम्बन्ध तोड़ दिया ।[५] इस प्रकार निर्मला उस सम्पन्न घर में वहू बनकर न जा सकी ।

इस सम्बन्ध के टूटने के बाद उनकी विधवा माँ कल्याणी उसके विवाह के लिए योग्यवर की खोज ढूँढ़ आरम्भ करती है । एक लड़का जिसे रत्न कहा जा सकता था मिलता तो है लेकिन घर में उसको खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं ।[६] एक दूसरे वर का पता चलता है जो रेलवे में नौकरी करता था । और सब तरह से निर्मला के योग्य था । किन्तु कल्याणकारी को उस वर के साथ निर्मला का विवाह इसलिए इष्ट नहीं हुआ कि उसका खानदान अच्छा नहीं था ।[७] कहना नहीं होगा कि उस समय हिन्दू-समाज में व्यक्ति की योग्यता का कोई अर्थ नहीं था । मुख्य थी कुल परम्परागत प्रतिष्ठा । इस कारण रेलवे की नौकरी करने वाले इस योग्य वर के साथ निर्मला का विवाह इसलिए नहीं हो सका कि कल्याणी उस हिन्दू समाज की है जिसने कुलीनता के झूठे दम्भ को दाँत से पकड़ रखा है और उसे वह किसी कीमत पर छोड़ेगी भी नहीं । और इसी कुलीनता का लाभ उठा लेता है तीन बच्चों का बाप ।[८] तोताराम जो अपनी ४५ वर्षो की पक्की उम्र में कुल १५ वर्षों की फूल-सी कोमल निर्मला का पति बन जाता है । जाहिर है, विपन्नता और निस्सहायता की स्थिति में ही भाग्यवाद

१. निर्मला पृ० १६
२. वही ,, १
३. वही ,, १
४. वही ,, २२
५. निर्मला पृ० २१
६. वही पृ० २५
७. वही पृ० ३६
८. वही ,, ३८

का सहारा लेकर कल्याणी ने अपनी बेटी का व्याह इस बूढ़े तोताराम के साथ कराना होगा।[1]

हिन्दू-समाज जैसे वह के वैयक्तिक गुणों को उसकी कुल-परम्परा के आगे नगण्य समझता रहा है वैसे ही उसकी दृष्टि में कन्या की योग्यता का भी कोई अर्थ नहीं होता।

प्रेमचन्द ने बताया है कि बेटे वालों के आगे एक ही बात का महत्व है और वह है दहेज।[2] इधर हिन्दू घरों में लड़की क्वाँरी रखी नहीं जा सकती। इससे वर पक्ष का पलड़ा भारी पड़ ही जाता है।

दहेज की कुप्रथा माँ की ममता पर भी हावी हो जाती है। उसे अनुभव करना पड़ता है कि बेटे और बेटी में प्रत्यक्ष अन्तर है। बेटी के विवाह में दहेज देना पड़ता है, बेटे के विवाह में दहेज मिलता है। इसी से तो कल्याणी भी कहती है—लड़के हल के बैल हैं भूसे खली पर उनका पहला हक है। उनके खाने से जो बचे वह गायों का।[3] संभवतः अनजाने ही कल्याणी ने बेटी के लिए गाय शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इससे हिन्दू समाज की कन्या की निरीहता की ओर भी इशारा हो जाता है। वस्तुतः हिन्दू घरों की अविवाहिता कन्याएँ गाय ही तो होती है—निरीह, विनम्र और मूक।

विवाहोपरान्त अपने भरे-पूरे परिवार में निर्मला को किसी प्रकार का अभाव झेलना नहीं पड़ा किन्तु अपने पति तोताराम के पास बैठने और उनसे हँसने बोलने में उसे एक प्रकार का संकोच होता था।[4] प्रेमचन्द ने इस संकोच का कारण निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था। अब उसी उम्र का यह तोताराम उसका पति है।[5] तोताराम के प्रेम-प्रदर्शन से उसे मन में घृणा होती थी। फिर भी निर्मला परिस्थितियों के साथ समझौता करने की भरसक चेष्टा करती है। अपने सौतेले बेटों के प्रति वह स्नेह का व्यवहार भी करती है। किन्तु यही उसका भयंकर अपराध हो जाता है। नवयुवक मंसाराम और निर्मला के परस्पर सम्बन्ध में तोताराम को वात्सल्य की पवित्रता के स्थान पर वासना नजर आती है।[6]

---

१. वही पृ० ३८
२. वही ,, ३५
३. निर्मला—पृ० २६
४. वही ,, ३६
५. वही ,, ३८
६. वही ,, ५६-७

दहेज-प्रथा का अभिशाप निर्मला की जिन्दगी खराब तो करता ही है तोताराम के परिवार को भी छिन्न-भिन्न कर डालता है। प्रेमचन्द जैसे यह कहना चाहते हैं कि दहेज की इस कुप्रथा का परिणाम किसी एक व्यक्ति को ही भुगतना पड़ता है ऐसा नहीं है। उस पाप की आग में अनेक लोग दग्ध होते हैं।

तोताराम सोचता है कि उसने निर्मला से विवाह करके ऐसा कौन-सा पाप किया कि उसे भगवान का दण्ड मिले।[1] उसी के पिता थे जिन्होंने पचपनवें वर्ष में विवाह किया था और उनका जीवन दुःखपूर्ण भी नहीं था।[2] सोचते-सोचते उसे अपने दाम्पत्य जीवन की विफलता का एक ही कारण दृष्टिगत होता है जिसका उल्लेख करते हुए वह कहता है—"पहले स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी न होती थीं, पति चाहे कैसा ही हो उसे पूज्य समझती थीं। तो क्या निर्मला का शिक्षिता होना उसके जीवन की व्यर्थता का कारण है? तोताराम को इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय नहीं है। विकल्प के एक क्षण में वह भी यह सोचता है कि या यह बात हो कि पुरुष सब कुछ देख कर भी बेहयायी से काम लेता हो।[3] तोताराम की विचार-सरणि में यह दूसरी बात ही अधिक स्थिरता के साथ जाकर बैठती है। उसने कहा ही है—'अवश्य यही बात है। जब युवक वृद्धा के साथ प्रसन्न नहीं रह सकता तो युवती क्यों किसी वृद्ध के साथ प्रसन्न रहने लगी?'[4] कहना नहीं होगा कि तोताराम के मुंह में ये प्रेमचन्द के ही शब्द हैं। प्रेमचन्द यह बताना चाहते थे कि दहेज-प्रथा की अमानुषिकता किसी युवती को वृद्ध के पास पहुँचा कर या तो उसे जीवन की रिक्तता एवं व्यर्थता का अनुभव करने के लिए विवश करती है अथवा उसे कुलटा बनाती है।

हिन्दू-समाज की यह कुप्रथा एक भीषण सामाजिक समस्या के रूप में समाज के सामने थी। सुधारकों का ध्यान इस प्रश्न की ओर गया भी था। किन्तु दहेज के मोह का छूटना बड़ा कठिन व्यापार है। जिस समाज में भुवनचन्द्र जैसा पढ़ा-लिखा लड़का निर्लज्ज की तरह कहता हो कि कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रुपये मिलें और न सही एक लाख का तो डौल हो।[5] उस समाज में आशा के लिए आधार कहाँ रह जाता है? लेकिन प्रेमचन्द इस विषय में सर्वथा निराश नहीं थे। वे जानते थे कि नारी-समाज में दहेज की कुप्रथा के प्रति प्रतिक्रियात्मक विद्रोह भाव उत्पन्न होगा और आज न सही कल पुरुष समाज भी इस प्रथा की बुराई का अनुभव करेगा ही।

---

१. वही पृ० १०५
२. वही ,,
३. निर्मला—पृ० १०५
४. वही ,,
५. वही पृ० २६

निर्मला में एक लाख का डौल लगाने की आकांक्षा रखने वाले भुवनचन्द्र की ही माँ है रंगीली बाई जो अपने पति और बेटे को बेबस विपन्न विधवा कल्याणी से दहेज की माँग करते देख व्यथित होती है।[1] यदि रंगीली बाई की बात चलती तो शायद निर्मला की कहानी कुछ दूसरी ही होती। 'निर्मला' में ही उसी भुवनचन्द्र की जिसके साथ निर्मला का व्याह पैसे के अभाव में नहीं हो सका था पत्नी सुधा भी है जो भुवनचन्द्र की आँख खोल देती है और इसका शुभ-परिणाम यह होता है कि भुवनचन्द्र के छोटे भाई का व्याह निर्मला की बहन कृष्णा से बिना तिलक-दहेज के ही हो जाता है।[2] प्रेमचन्द यह मानते कि दहेज की प्रथा गलत है और जो चीज गलत होती है वह सदा सर्वदा तक बनी रह सकती। आवश्यकता है बुरी चीज के विरुद्ध आन्दोलन करने की। मनुष्य में इतना न्याय विवेक तो है ही कि वह गलत चीज को गलत समझ सके। इसी का उदाहरण है भुवनचन्द्र का वह प्रायश्चित्त जिसके कारण निर्मला के घर अपनी ओर से संवाद भेज कर वह अपने छोटे भाई के लिए कृष्णा की माँग करता है। इस प्रकार उसके जिस लोभ के कारण निर्मला की जिन्दगी बर्बाद हुई है उसका यथोचित प्रायश्चित्त उसकी ओर से हो जाता है।

'कायाकल्प' में भी चक्रधर के विवाह-सम्बन्ध के निर्धारण के समय दहेज का प्रश्न खड़ा होता है।[3] चक्रधर पढ़ा-लिखा तो है ही। उस पर दहेज-प्रथा के विरुद्ध होने वाले सुधार-कार्य का प्रभाव भी है। इसी से वह डट कर कहता है कि दहेज लेना तो अपने लड़के को बैल-घोड़े की तरह बेचने जैसा है। और वह विवाह होने को तैयार नहीं है।[4]

'गोदान, का होरी भी एक ऐसा बाप है जो अपनी बेटियों के विवाह में दहेज की रकम दे सकने में सर्वथा असमर्थ है। उसकी बड़ी लड़की सोना पिता की आर्थिक दयनीयता का अनुभव कर वर पक्ष के पास दो टूक समाचार भेजती है कि उसे विवाह में सोना के घर से दहेज की कोई रकम नहीं मिल सकती। यदि बिना दहेज के विवाह करना कबूल हो तो ठीक नहीं तो सोना आत्मघात कर लेगी। किसी भी परिस्थिति में

---

१. तुम बाप-पूत दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो दोनों [illegible] ऊपर छुरी फेरना चाहते हो। निर्मला—पृ० २७
२. निर्मला—पृ० १२६
३. कायाकल्प—पृ० १६
४. [illegible] है—कायाकल्प—पृ० ६७

वह अपने विपन्न बाप के बोझ को बढ़ाने के लिए तैयार नहीं होगी।[1] सोना के प्रमाण से यह विदित है कि नारी समाज दहेज के विरुद्ध किस रूप में जग गया है। होरी को अपनी दूसरी बेटी का विवाह इसी दहेज की कुप्रथा के कारण एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना पड़ता है जो रूपा के योग्य नहीं है।[2]

प्रेमचन्द ने अपने आरम्भिक उपन्यास 'वरदान' में दहेज के प्रश्न को छुआ तो है किंतु वहाँ दहेज की प्रथा समस्या बन कर खड़ी नहीं होती। 'वरदान' की प्रेमवती ने अपने बेटे कमलाचरण के विवाह के समय तिलक दहेज का प्रश्न उठाया भी नहीं। वह यह मानती थी कि कन्या के गुण के अभाव को पूर्ति दहेज से की जाती है और उसकी बहू में वैसा कोई अभाव नहीं।[3] जिसकी पूर्ति के लिए समधी को दहेज देने की लाचारी हो।

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'वरदान' प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचना है। उसमें लेखक के आदर्शवाद के कल्पना-विहंग को ऊँची उड़ान भरने का पूरा अवसर था। किन्तु, जैसे-जैसे प्रेमचन्द की अनुभूति गहन होती गयी वह जीवन की कटु-वास्तविकता के निकट आते गये। तभी तो 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' की रचना समाज के दोषों का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से उन्होंने की थी।

दहेज की इस कुप्रथा को सामाजिक विकृति तो प्रेमचन्द मानते ही थे लेकिन उसके आर्थिक पहलू को भी उन्होंने सदा अपने ध्यान में रखा था। स्पष्ट है कि निर्मला के घर वालों को पैसे का अभाव नहीं होता तो बाप की उम्र के व्यक्ति के साथ उसका ब्याह नहीं होता। हमारे हिन्दू-समाज की एक बड़ी विवशता यह है कि हिन्दू-घरों में विवाह योग्य कन्याएँ बहुत दिन तक क्वाँरी नहीं रखी जा सकतीं।[4] इधर हर बाप दहेज देने की स्थिति में नहीं होता। गनीमत है कि समाज में तोताराम और जैसे वृद्ध विवाहेच्छुक व्यक्ति हैं, अन्यथा बहुतेरी कन्याओं को स्नेहलता का आदर्श अपनाना पड़ता।[5]

लेकिन क्या निर्मला जैसी विवाहिताएँ दहेज की कुप्रथा का शिकार होकर जीवित लाश नहीं हो जाती ? प्रेमचन्द समाज के आगे यह प्रश्न खड़ा कर उसे प्रेरित करते हैं कि वह इस कुप्रथा का अन्त करने का निश्चय कर ले।

---

१. गोदान—पृ० २६२
२. वही ३५४-५
३. वरदान—पृ० २२-२३
४. निर्मला पृ० ३३
5. A century of Social Reforms in India—S. Natarajan— P. 136.

प्रेमचंद के उपन्यासों में विधवा समस्या की प्रस्तुति

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिस युग का प्रतिफलन हुआ है उसकी सम्पूर्ण सामाजिक समस्याओं में एक समस्या हिन्दू विधवाओं की भी थी। प्रेमचन्द युग के हिन्दू समाज में विधवा नारी एक प्रकार से जीवित लाश हुआ करती थी। वैधव्य से बढ़कर दूसरा कोई अभिशाप नहीं होता। लेकिन हतभागिनी हिन्दू विधवाओं की यह दयनीयता है कि उन्हें सान्त्वना के ही शब्द और तो और अपने सगे सम्बन्धियों से भी नहीं मिलते। परिवार हिन्दू विधवा को अपने पति को खा जाने वाली राक्षसी समझता है बड़ी आसानी से उस पर यह आक्षेप कर दिया जाता है कि उसका भाग्य बहुत निकृष्ट है। समाज विधवा को ऐसी डायन समझता है जिससे दूसरों को अलग-अलग ही रहना चाहिए। परिवार के किसी मांगलिक अवसर पर उसकी छाया भी अशुभ मानी जाती है। इस प्रकार हिन्दू विधवा अपने वैधव्य का दुःख भोगती है। सच्ची और स्पष्ट बात यह है कि परिवार में उसके लिए कोई स्थान नहीं होता।

अपने पति के जीवन काल में फूलों की सेज पर रहने वाली पत्नी पति की आँखों के बन्द होते ही राह की भिखारिणी हो जाती है। यह इसलिए कि आर्थिक दृष्टि से वह स्वत्वहीन होती है। कुछ ही दिन पहले तक पारिवारिक सम्पत्ति पर उसका अधिकार कानून को स्वीकार नहीं था। स्वयं अपने पति की अर्जित सम्पत्ति का भी उत्तराधिकार उसे प्राप्त नहीं होता था। स्वयं [illegible], परित्यक्ता नारी परिवार के लिए एक प्रकार का बोझ स्वरूप मानी जाती थी। परिवार विधवा पर कोई रकम खर्च करना अपव्यय समझता था। पहले तो उससे छुट्टी पाने के लिए हिन्दू समाज सती की प्रथा का आश्रय किये हुए था। पति की मृत्यु के बाद विधवा को उसके पति की लाश के साथ लोग जला दिया करते थे और [illegible] घोषित करते थे कि उनके घर की विधवा ने सती का आदर्श [illegible] किया।

किन्तु बाद में चलकर राजा राममोहन राय ने इस अमानुषिक प्रथा का घोर विरोध किया और सरकार ने कानून बनाकर इस प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। अब चूँकि इस कानून के कारण विधवा से छुट्टी पाने में कठिनाई आ पड़ी [illegible] कहना शुरू किया कि विधवा का जीवन त्याग और तपस्या का जीवन है। [illegible] समाज के सामाजिक आदर्शों से दूर रहना चाहिए। [illegible] जीवन चाहिए और तन की रक्षा के लिए कोई [illegible] की कोई आवश्यकता, [illegible] समाज की [illegible] नहीं है।

इस प्रकार हिन्दू-समाज की विधवाएँ [illegible]

समाज सुधारकों को सबसे अधिक इस बात की पीड़ा थी कि हमारे समाज में उनको भी विधवा ही समझा जाता है जिन्होंने सुहाग क्या होता है यह भी नहीं जाना। ऐसी बाल-विधवाएँ समाज के उदारमना सुधारक नेताओं के आगे प्रश्न-चिह्न बनी हुई थीं। ऐसी बालिकाओं का वैधव्य केवल रूढ़ि का वैधव्य हो सकता है। अभाव का अनुभव न होने के कारण इनको वैधव्य के दर्शन का अनुभव भी नहीं हो सकता। ऐसी विधवाएँ कई प्रकार की समस्याएँ खड़ी करती थीं। पुरुष समाज की भूखी आँखें ऐसी अरक्षिताओं पर टूट सकती है और चूँकि समाज का नियमन पुरुष के हाथों में है किसी प्रकार के स्खलन का उत्तरदायित्व अन्ततः विधवा पर ही आ जाता है। 'प्रेमाश्रम' की गायत्री एक ऐसी विधवा है जो वैधव्य की निष्ठा निबाहती है।[1] किन्तु वह अपनी छोटी बहन के पति ज्ञानशंकर के लोभ का शिकार होकर चारित्रिक स्खलन दोष की दूषिता होती है। ज्ञानशंकर की चालबाजी जो भक्ति की सीढ़ी चढ़ कर आकाश छूती है इस स्थिति के लिए जिम्मेदार तो है ही किन्तु गायत्री के जीवन में कहीं अभुक्त-काम की समस्या भी है। अपराध-बोध की स्थिति गायत्री के जीवन में ही आती है, ज्ञानशंकर को वह रोग व्यापता नहीं है।

हिन्दू विधवाएँ वैधव्य को ईश्वरीय अभिशाप समझ कर उसके आगे घुटने टेकती हैं। उन्हें इस विषय में अगर शिकायत हो तो भी वे अपना दुखड़ा धरती पर किसके आगे रोयें। इससे उनका मनोविज्ञान उन्हें प्रेरित करता है कि अपने पति की स्मृति में ही जीवन के जो शेष क्षण बचे हैं उन्हें काट लें। इसी बल और आधार पर वे जीती हैं। लेकिन बाल विधवा को यह आधार भी दुर्भाग्यवश प्राप्त नहीं होता।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में विरजन[2], गायत्री[3], वागेश्वरी[4], कल्याणी[5], रुक्मिणी[6], रतन[7] और रेणुका देवी[8] ऐसी विधवाएँ हैं जिनको वैधव्य की अपनी स्थिति के प्रति कोई विशेष शिकायत नहीं है। वे निष्ठापूर्वक अपने वैधव्य के आदर्श की रक्षा करती हैं। प्रेमचन्द के भिन्न-भिन्न उपन्यासों में ये जो विधवाएँ आयी हैं वे अपनी

---

१. प्रेमाश्रम—प्रेमचन्द—पृ० ७४
२. वरदान
३. प्रेमाश्रम
४. कायाकल्प
५. निर्मला
६. निर्मला
७. गबन
८. कर्मभूमि।

इस समान चारित्रिक विशेषता के कारण हमें यह सोचने का अवसर देती है कि [illegible] को विधवा की नाना प्रकार की समस्याओं के विषय में तो बहुत कुछ कहना है किन्तु वैधव्य के इस हिन्दू आदर्श के प्रतिकूल उन्हें कुछ नहीं कहना है। वैधव्य को [illegible] स्थिति के रूप में वे स्वीकार करते हैं।

प्रश्न है, हिन्दू विधवाओं की यह जो दुर्दशा है उससे [illegible]। समाज का यह वर्ग इतना असहाय और निराश्रय है कि जागरूक हृदय में [illegible] ममता का उमड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।

इधर हमारा धर्म विधवा के पुनर्विवाह को स्वीकृति नहीं देता। हिन्दू [illegible] को यह अधिकार नहीं है कि वह इच्छानुसार पुनर्विवाह कर ले। हमारे [illegible] समाज के निचले वर्ग में विधवा-विवाह प्रचलित है। यही कारण है कि [illegible] विधवा-समस्या करके कोई समस्या है ही नहीं। लेकिन ऊँची जातियों की विधवाओं को इस प्रकार की सुविधा नहीं है। यदि उन्हें भी यह सुविधा होती तो विधवा समस्या की कठिनाइयों का प्रश्न उनके आगे भी नहीं होता।

पाश्चात्य नवीन शिक्षा ने समाज के तरुणों को रूढ़ि-मुक्ति के लिए प्रेरणा दी। उसने मानस का जो नया क्षितिज खड़ा किया वह इस बात को स्वीकार [illegible] रहा था कि हिन्दू समाज की विवाह-संस्था निर्दोष है। हमारा समाज [illegible] चित दो व्यक्तियों को एक सूत्र में बांध कर जैसे यह मान कर [illegible] है कि उनका जीवन सुख से ही बीतेगा। समाज ने विवाह की संस्था बना कर [illegible] की कि पुरुष और नारी एक दूसरे के कर्तव्य के प्रति [illegible] पूर्वक अधिकार-रक्षण कर लेंगे। हमारा समाज [illegible] प्रमाण और उसकी मंगलकामना के साथ जो विवाह [illegible] के बीच [illegible] और [illegible] की स्थिति भी [illegible]। [illegible] इस विश्वास के आगे प्रश्न सूचक चिह्न खड़ा हुआ। [illegible] पड़ा कि नारी के [illegible] कौन सी [illegible] लिए नारी [illegible] [illegible] स्थिति में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

की नारियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व की चर्चा होने लगी थी। नारी-समाज में होने वाली इस जागर्ति ने विधवा-समस्या को और भी ज्वलन्त बना दिया।

विधवा की समस्या का समाधान समाज को ढूँढ़ना ही था। समाज के क्षेत्र में सुधार-कार्य करने वाली संस्थाओं में उन दिनों सबसे अधिक जागरूक आर्य-समाज था। आर्य-समाज ने विधवा-विवाह की सामाजिक और धार्मिक स्वीकृति के लिए आन्दोलन किया। उसकी समझ से समस्या का एक हल विधवाओं का पुनर्विवाह था। प्रेमचन्द के ऊपर आर्य समाज का प्रभूत प्रभाव था, यह हमने एकाधिक बार बताया हैं। प्रेमचंद के प्रेम, अर्थात् 'हम ख़ुर्मा व हम सवाब,' नामक उपन्यास में पूर्णा और प्रेमा के वैधव्य की समस्या का समाधान उनका पुनर्विवाह करा कर किया गया हैं। प्रेमचन्द ने स्वयं शिवरानी देवी के साथ विधवा विवाह किया था।[1] किन्तु, समस्या के इस समाधान के प्रति प्रेमचन्द की आस्था आगे बनी नहीं रही। 'प्रतिज्ञा' प्रेमचन्द का वह उपन्यास हैं जिसमें 'हम खुर्मा व हम सवाब' अर्थात् 'प्रेमा' के ही कथानक को प्रेमचन्द ने फिर से उठाया हैं इस बार क्रया के विकास में महत्त्वपूर्ण अन्तर आ गया हैं।[2] ऐसा लगता हैं कि 'प्रतिज्ञा' में आकर प्रेमचंद के सामने विधवा समस्या अपनी सारी गुरुता के साथ खड़ी हो जाती हैं। जहाँ 'प्रेमा' में अमृतराय पहले पूर्णा और बाद में प्रेमा के साथ विधवा विवाह करता हैं[3] वहीं 'प्रतिज्ञा' में पं० अमरनाथ के आगे विधवा से विवाह करने के लिए प्रतिश्रुत होकर भी वह विवाह नहीं करता।[4]

प्रेमचंद एक अध्ययन (जीवन, चिंतन और कला) के लेखक श्री राजेश्वर गुरु ने प्रेमचंद की इस बात के लिए आलोचना की हैं कि 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह के लिए संभावना होने पर भी किसी पात्र के जीवन में उसे घटित नहीं किया गया हैं। श्री गुरु के अनुसार प्रेमचंद में ऐसा करने का साहस सहीं था।[5] श्री राजेश्वर गुरु के इस आक्षेप का प्रेमचन्द और गांधी वाद के लेखक श्री रामदीन गुप्त ने उत्तर देते हुए यह ठीक ही कहा है कि जिस व्यक्ति ने स्वयं एक विधवा से विवाह किया हो उसका एतद् विषयक साहस प्रकट है।[6] प्रश्न प्रेमचन्द की साहसहीनता अथवा उनके साहस का नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि 'प्रतिज्ञा' की रचना-काल तक आकर प्रेमचन्द के

१. कलम का सिपाही—अमृतराय—पृ० ७६।

२. कलम का सिपाही—अमृतराय—पृ० परिशिष्ट-६५५)

३. मंगलाचरण—प्रेमचंद—पृ० २१४ और ३४६

४. प्रतिज्ञा— ,, —पृ० १४८

५. प्रेमचंद एक अध्ययन—राजेश्वर गुरू—पृ० १७४

६. प्रेमन्चद और गांधीवाद—रामदीन गुप्त—पृ० १४६

मानस में कहीं कोई परिवर्तन हुआ है जिसके कारण विधवा समस्या का जो [illegible] प्रेमा में उपस्थित है उसे 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ग्रहण नहीं करते।

इस समय तक आकर विधवा-समस्या का कुछ बढ़ाव हो जाता है। आर्य-समाज का इतिहास भी इस विषय में हमें एक प्रमाण दे जाता है। सन् १९२५ की १५ फरवरी को मथुरा में स्वामी दयानन्द की जन्म शताब्दी मनायी गयी थी और उस अवसर पर समाज ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया था। "वर्तमान सामाजिक अवस्था को ध्यान में रखते हुए परिषद् स्थिर करती है कि विधुर का विधवा के साथ ही विवाह हो। विवाह के समय विधुर की आयु ४० वर्ष से अधिक न होनी चाहिए।"[1] स्पष्ट है कि आर्य-समाज विधवा-विवाह का विधान करके ही निश्चिन्त नहीं हो जाता [illegible] विवाह के लिए शर्तें स्थिर करता है।

'प्रतिज्ञा' में प्रश्न का बढ़ाव बहुत स्पष्ट होकर उपस्थित हुआ है। पं० अमरनाथ ने साफ शब्दों में यह कहा है कि विधवाओं के प्रति हिन्दू समाज का सामाजिक उत्तरदायित्व है। उनके सम्बन्ध में कुछ सोचना विचारना इसलिए नहीं है कि वे [illegible] हैं। अर्थात् प्रश्न दया का नहीं एक सामाजिक उत्तरदायित्व के बोध का है। इसीलिए पं० अमरनाथ उपस्थित जन-समूह के सामने दो टूक सवाल खड़ा करता है—'आप लोगों में कितने महाशय हैं जो वैधव्य के भंवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने [illegible] का पालन करने का साहस रखते हैं!'[2] पं० अमरनाथ के इस प्रश्न में दो बातें ऐसी हैं जो हमारा ध्यान खींचती हैं। हिन्दू-विधवा सचमुच भंवर में ही पड़ी हुई है और उसके प्रति हमारा कर्तव्य हमारा समाज-धर्म है।

प्रेमचन्द का युग यह अनुभव कर चुका था कि विधवा की समस्या एक सामाजिक समस्या है और समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उस समस्या के समाधान में अपना कर्तव्य पूरा करना है।

अशिक्षित समुदाय को प्रेमचन्द क्षमा भी कर सकते हैं। किन्तु [illegible] अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में [illegible] देखना यह समाज [illegible] हैं। यही कारण है कि बुद्धिजीवियों के वर्ग के [illegible] में 'प्रतिज्ञा' के लेखक [illegible] दिखायी है।[3]

स्थिति ऐसी है कि विधवा से विवाह करने की [illegible]

१. आर्य समाज का इतिहास—[illegible] विद्यालंकार—पृ० [illegible]
२. प्रतिज्ञा—प्रेमचन्द—पृ० ४
३. प्रतिज्ञा—प्रेमचन्द—पृ० ६

सर्वथा एकाकी है।[1] प्रेमचन्द को ऐसी स्थिति में पढ़े लिखे समाज से शिकायत होनी ही चाहिए थी।

राष्ट्रनायक महात्मा गांधी ने आर्य-समाज के इस मत का समर्थन किया कि विधुर पुरुष का पुनर्विवाह करने का जितना अधिकार माना गया है उतना ही विधवा का भी है।[2]

इन प्रयत्नों से यह विदित होता है कि हिन्दू समाज में विधवा-विवाह की सामाजिक और धार्मिक स्वीकृति के लिए प्रवल आन्दोलन खड़ा हो गया था और इस विषय में औचित्य क्या है—इसका भी अनुभव किया जा रहा था।

प्रश्न यह है कि क्या विधवा-विवाह से विधवाओं की समस्या का समाधान हो जाता है ? विधवाओं में एक बहुत बड़ा वर्ग उनका भी है जो अपनी रूढ़ि और पुरातन संस्कारों के कारण पुनर्विवाह के नाम से ही मिट्टी में गड़ जाएँ। श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र के समस्यानाटक 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा ने ऐसी ही विधवाओं की मनस्थिति को उपस्थित करते हुए यह कहा है कि पुरुष के ससंर्ग में न आने वाली प्रकृति विधवाएं विवाह के प्रस्ताव पर संकुचित हो जाती हैं।[3] इस समस्या पर विचार करते समय हम वैसी निष्ठावती विधवाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते जिनको अपनी वैधव्य-स्थिति के प्रति कोई विशेष शिकायत नहीं है।

इस युग तक आकर यह अनुभव किया जाने लगा कि विधवाओं की समस्या का समाधान उनके पुनर्विवाह से नहीं हो जाता। यूरोप और अमेरिका जैसे पश्चिमी देशों में विधवा-विवाह प्रचलित है। लेकिन वहाँ का जीवन सुखी—कहां हैं ? हमारे देश के बुद्धिवादी यह देख रहे थे कि विधवा-विवाह के प्रचलन से समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर एक नयी समस्या—तलाक की समस्या के रूप में खड़ी होगी।[4] पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिन्दू-सामाजिक-जीवन के विशृंखल होने का खतरा देखा जा रहा था।

प्रेमचन्द ने विधवा विवाह की समस्या को ऊपर-ऊपर से नहीं देखा। वे इस विकट प्रश्न की गहराई में गये थे। उन्हें ऐसा लगा कि विधवाओं की पहली समस्या उनके गुजारे की समस्या है। ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे समाज ने पारिवारिक सम्पत्ति पर विधवा का अधिकार स्वीकार नहीं किया था। प्रेमचन्द के युग में विधवाएँ

---

१. प्रतिज्ञा प्रेमचन्द—पृ० ६

२. गांधी विचार की देन—किशोरी स्थान मशरू वाला—पृ० ३५

३. सिन्दूर की होली—ल० मि० मिश्र

४. वही

इस प्रकार अपने घर में ही सब तरह से शोषिता, अपमानिता होकर [illegible] जीवन बिताने के लिए विवश थीं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आने वाली विधवाओं में रतन[1], पूर्णा[2], रुक्मिणी[3], की जो समस्या है वही रेणुका देवी[4] और गायत्री[5] की समस्या नहीं है।

'गबन' में रतन नामक एक विधवा की अवतारणा की गयी है। उनके पति वकील इन्द्रभूषण समृद्ध थे। उनके जीवन-काल में रतन ठाट-बाट से रहा करती थी। किन्तु, उनके मरने के बाद सम्पत्ति पर उनके भतीजे मणिभूषण का [illegible] हो जाता है। इतना अब उसी घर में दूसरे के आगे मुंहताज हो जाती है। [illegible] मणिभूषण से पेट भरने के लिए थोड़ा अन्न और तन के लज्जा-निवारण के लिए [illegible] वस्त्र भर मिल सकता है।[6] रतन को अपनी इस स्थिति से [illegible] होता है और वह कहती 'है न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था कि पति के मरते ही स्त्री [illegible] इस प्रकार स्वत्व-वंचिता हो जाती है'।[7]

'निर्मला' की रुक्मिणी विधवा होकर आश्रय खोजने की स्थिति में [illegible] तोताराम के यहाँ आश्रय लेने के लिए विवश होती है।[8]

'प्रतिज्ञा' की पूर्णा को अपने किसी सगे रिश्तेदार का सहारा भी नहीं है। अस्तु, आश्रय की समस्या पूर्णा की पहली और बड़ी समस्या है।[9]

समाज में बद्रीप्रसाद जैसे उदारमना व्यक्ति के विद्यमान होने से [illegible] पूर्णा जैसी विधवा को [illegible] का सहारा तो मिल जाता है। किन्तु सयानी [illegible] किसी दूसरे व्यक्ति के यहाँ रहना किसी सम्भ्रान्त [illegible] के लिए कितना [illegible] है यह पूर्णा का इतिहास सिद्ध करता है। परिस्थिति की [illegible] पूर्णा [illegible] को भी रह-रह कर झकझोर जाती है।[10]

---

१. गबन—प्रेमचन्द
२. प्रतिज्ञा—प्रेमचन्द
३. निर्मला—प्रेमचन्द
४. कर्मभूमि—
५. प्रेमाश्रम —
६. गबन—पृ० २३६
७. वही ,, २३९
८. निर्मला—पृ० ४२
९. प्रतिज्ञा— ,, ३२-३३
१०. वही— ,, [illegible]

इनके मुकाबले प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही गायत्री और रेणुका देवी जैसी विधवाएँ भी है जो विधवा होने पर भी सम्पन्न हैं। ये दोनों दुखी भी नहीं हैं। यह इसीलिए तो कि ये परिवार अथवा समाज के आगे आर्थिक दृष्टि से मुंहताज नहीं हैं। इन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

समाज का जो आर्थिक ढांचा, प्रेमचन्द के सामने था, वह कुछ उत्साहवर्द्धक नहीं था। हां, विधवाओं के प्रति समाज का कोई उत्तरदायित्व है इसका अनुभव लोगों को हो चुका था। ऐसी स्थिति में समाज के दया-दाक्षिण्य का किसी दूरी तक भरोसा किया जा सकता था।

'प्रतिज्ञा' में विधवा पूर्णा का पुर्नविवाह न करा कर प्रेमचन्द ने उसे वनिताश्रम में भेजा है।[1] अवश्य ही यह आश्रम विधवाओं के प्रति समाज के उत्तरदायित्व-बोध का परिणाम है। पूर्णा जैसी विधवाओं को वनिताश्रम में एक सामाजिक संरक्षण प्राप्त हो सकता था—ऐसा सोचा जा सकता था। तो क्या हम यह समझें कि प्रेमचन्द विधवाओं की समस्या का समाधान वनिताश्रमों की स्थापना में देख रहे थे? ऐसे कहा जा सकता है कि आर्य समाज के प्रभाव के कारण इस दिशा में सोचने की प्रेरणा उन्हें हुई होगी। इससे अधिक उपयुक्त यह कहना होगा कि प्रेमचन्द कुछ न करने से कुछ करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। स्पष्ट है कि विधवा की समस्या का समाधान अब भी ढूंढना है।

यह समाधान समाज के ढांचे में आमूल परिवर्तन किये बिना शायद न निकल सके। प्रेमचन्द यह सोचते थे कि नारी का आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र और साधन सम्पन्न होना उसकी बहुत सी समस्याओं का समाधान है।[2] अस्तु, प्रेमचन्द की दृष्टि में विधवा समस्या सामाजिक-समस्या मात्र न होकर एक ऐसी समस्या है जिसका सम्बन्ध हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था से है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में वेश्या समस्या की प्रस्तुति

हिन्दू-समाज की जिन विकृतियों और समस्याओं की ओर सुधारक-वर्ग का ध्यान अनायास खिंच जाता था उनमें वेश्या की समस्या भी एक है। सुधारकों ने पहले यह समझा था कि हिन्दू-समाज की कुलीन जातियों में बाल-विवाह की जो प्रथा है वही वेश्या-समस्या का मूल कारण है। बाल-विवाह की कुरीति हिन्दुओं की वैवाहिक

१: प्रतिज्ञा—पृ० १२४

२. प्रतिज्ञा— ,, ९३

संस्था की अकेली विकृति नहीं थी। कहना तो यह चाहिए कि यह सम्पूर्ण संस्था ही जीर्णशीर्ण होकर निष्प्राण हो गयी थी। जिस समाज में दादा की उम्र के लोगों को विवाह करने का अबाध अधिकार हो उसमें वेश्याओं की संख्या वृद्धि स्वाभाविक है।

सुधारकों ने जब हिन्दू विवाह संस्था की विकृतियों को दूर कर उसे स्वस्थ और सप्राण बनाना चाहा तब यह उचित ही था कि वे बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह जैसी अभिशप्त प्रथा का विरोध करते। उन्होंने विधवा विवाह के लिए सामाजिक और धार्मिक स्वीकृति प्राप्त करने की अनथक चेष्टा की। उनकी बुद्धि में विधवा विवाह के प्रचलन से बाल-विवाह जैसी अन्य समस्याओं का समाधान किया जा सकता था।

औपन्यासिक प्रेमचन्द का साहित्यिक रंगमंच पर आविर्भाव सामाजिक उपन्यासों के रचयिता के रूप में ही हुआ था। 'सेवासदन' की रचना करते समय प्रेमचन्द की दृष्टि में हिन्दू समाज की विकृतियां भीमकाय होकर उपस्थित हो गयी थीं। इसीलिए इस उपन्यास में प्रेमचन्द के आगे सामाजिक जो [illegible] समस्याएं [illegible] इनमें वेश्या भोली बाई और सुमन की समस्याएं चित्रित हुई हैं तो वहीं दारोगा कृष्णचन्द्र की बेटी सुमन के विवाह में दहेज की दुर्दान्त समस्या भी है। और अनमेल विवाह के कारण नष्ट भ्रष्ट हो जाने वाले उसके दाम्पत्य जीवन की करुण कथा भी है। सेवा सदन के प्रमाण पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द और [illegible] की तरह पुनर्विवाह की सामाजिक स्वीकृति को वेश्या समस्या की [illegible] में [illegible] चाहते थे और यह विचारना चाहते थे कि वेश्या का [illegible] आखिर क्यों अंगीकार करती है।

उन्हें 'सेवासदन,' 'गबन' और 'गोदान' शीर्षक तीन उपन्यासों में इस [illegible] विचारने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु 'सेवासदन' ही [illegible] सा प्रश्न सुमन के साथ आता है।

'सेवासदन' में भोली बाई नामक एक वेश्या आयी है। [illegible]

[illegible]

१. सेवासदन पृ० ५८

२. वही पृ० ५५।

उसका असफल दाम्पत्य जीवन। भोली बाई को अपने इस जीवन से विद्रोह हुआ और अन्त में वह वेश्या बनी।

'सेवासदन' की सुमन ऐसे पिता की पुत्री है जिसके स्वभाव में किफायत का नाम न था और जो अपने बाल-बच्चों को आराम के साथ रखना अपना कर्तव्य समझता था। सुमन के पिता दारोगा कृष्णचन्द को अगले कल की चिन्ता कभी हुई ही नहीं। घर में बेटी सयानी होती जा रही थी, पत्नी गंगाजली बेटी के ब्याह का प्रश्न उसके सामने रखती भी लेकिन दारोगा जी की कठिनाई यह थी कि उनके पास दहेज देने के लिए पैसे नहीं थे। पहले तो वह सोचकर खुश होते थे कि समाज में दहेज-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चल पड़ा है और उसके कारण अपनी बेटियों के ब्याह में दहेज की चिन्ता उनके आगे भी नहीं रहेगी।[१] कन्या के प्रति पिता का जो उत्तर-दायित्व हो सकता है उसका कृष्णचन्द ने पूरा निर्वाह किया। उसने लड़कियों को पढ़ाया-लिखाया। यही नहीं नये फैशन का सीना-पिरोना ईसाई लेडी से सिखवाया।[२] उनकी बेटियों में ऐसे हुनर थे कि समाज को उनकी कद्र करनी चाहिये थी। लेकिन हमारा समाज है जिसकी आँखों में कन्या के निजी गुणों की कोई कीमत नहीं है। इसलिए निर्लोभ[३] दारोगा कृष्णचन्द्र को जो रिश्वत को काला नाग समझता था[४] विवश होकर अपनी बेटी के ब्याह के लिए रिश्वत की रकम स्वीकार करनी पड़ी। इस कला में नौसिखुआ होने के कारण हराम का माल कृष्णचन्द के घर पच नहीं सका और उसे सजा मिली।[५] घूस के रुपये मुकदमें की भेंट हो गये और सुमन के विवाह के लिए दहेज का कोई प्रबन्ध नहीं हो सका। अन्त में दहेज के अभाव में सुमन पाले पड़ी गजाधर नामक एक दुहाजू-गरीब-व्यक्ति के।[६] उसके इस अनमेल विवाह के सम्बन्ध में भोली बाई ने ठीक ही कहा है कि अरबी घोड़ी टट्टू के साथ जोत दी गयी।[७] सुमन की मां गंगाजली ने अपने दामाद को देखकर ऐसा अनुभव किया कि उसने अपनी बेटी को कुएँ में डाल दिया है।[८] लेकिन वह करे भी तो क्या? एक तो नारी और फिर गरीब!

१. सेवादन— पृ० ६-७
२. वही पृ० ६
३. वही ०पृ ५
४. वही पृ० १०
५. वही पृ० १७
६. वही पृ० २०
७. वही पृ० ५४
८. वही ,, २०

सुमन को सद्गृहणी बनने की शिक्षा नहीं मिली थी। उसने जो शिक्षा पायी थी वह आनन्द-भोग मात्र की शिक्षा थी।[1] उसका जीवन सुख में कटा था। [illegible] पहनने की उसे आदत लगी हुई थी इसलिए जिह्वा-रस भोग की उपेक्षा पर [illegible] रखना उसके वश के बाहर था।[2] इधर उसका पति स्वभाव से ही [illegible] था और कृपण भी ऐसा कि जलपान की जलेबियां उसको विष के समान लगती थीं, पान के [illegible] देखकर उसके हृदय में शूल होने लगता।[3] गजाधर की छोटी आमदनी में [illegible] लेना और उस भिन्न प्रकृति के व्यक्ति के साथ निभ जाना सुमन के लिए संभव नहीं हो सका।

अड़ोस-पड़ोस की जिन महिलाओं के साथ सुमन उठती-बैठती थी वे भी सुमन को गृहस्थी चलाना सिखा न पायीं। वे अपने पति की आर्थिक दशा से परिचित नहीं थीं और इस बात की जरूरत भी नहीं समझती थीं कि वे अपने पति की आर्थिक दशा जानें। प्रेमचन्द ने उन महिलाओं के विषय में यह ठीक ही बताया है कि वे अपने पतियों को इन्द्रिय-सुख साधन का यंत्र समझती थीं, पति चाहे जैसे हो अपनी स्त्री को सुन्दर आभूषणों से, उत्तम वस्त्रों से सजा सके उसे स्वादिष्ट पदार्थ खिला सके इसी को वे पति का दायित्व समझती थीं।[4] इधर सुमन थी जो अपनी पड़ोसिनों के बीच अपनी प्रदर्शन—वृत्ति के कारण अपने को रानी दिखाती थी। उसे देखने के लिए खूंटी पर उसकी रेशमी साड़ियां टंगी रहतीं। उसका हृदय और अहंकार [illegible] नहीं पाते थे कि उसकी पड़ोसिनें नये-नये गहने बनवायें, कपड़े खरीदें और [illegible] रोटियों के लाले पड़े रहें।[5] चाहे जो हो वह अपने को सबसे अधिक सम्मानित [illegible] को तैयार नहीं है। उसका पति गजाधर अपनी आय बढ़ाने के लिए भी [illegible] परिश्रम करता है। किन्तु सुमन ने वह शिक्षा ही नहीं पायी थी जिसकी प्रेरणा से वह [illegible] के साथ परिस्थितियों से समझौता कर सके, सीमित आय के भीतर रह सके। [illegible] ऊपर कहा गया है—सुमन प्रकृति से ही [illegible] थी। [illegible] कर रहने के अहंकार का संस्कार उसे मिला था।[6] परिणाम यह होता है कि [illegible] की आर्थिक सीमाओं के प्रति उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं [illegible]। [illegible]

---

१. सेवासदन— पृ० २१
२. वही ,, २२
३. वही ,, २३
४. वही ,, २३-२४
५. सेवासदन— पृ० २३
६. वही ,, ६

उसके सामने अपने फूटे कर्म का रोना रो-रो कर उस मेहनतकश का भी उत्साह ठंडा कर देती।[1] इन सब का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पति-पत्नी के बीच तनाव की स्थिति आयी और धीरे-धीरे बद्धमूल होती गयी।

सुमन अपने मकान के पास ही रहने वाली उस भोली बाई नामक वेश्या को देखती है जिसके आमंत्रण पर नगर के सैकड़ों गण्यमान्य सज्जन उसके घर मौलूद के अवसर पर निःसंकोच पधारते हैं। भोली बाई के विशेष आग्रह पर हिन्दू कुलवधू की सारी गरिमा के साथ सुमन जब उसके घर जाती है तब गजाधर उससे नाराज होता है और आपत्ति करता है। वह उसे समझाता है कि वेश्या भोली बाई के पास धन तो है पर धर्म नहीं और धन से ही कोई बड़ा नहीं हो जाता। आदमी बड़ा होता है धर्म से न धन से।[2] उसके इस कथन से सुमन का अहंभाव इस विचार से तृप्त हो जाता है कि धन की दृष्टि से गरीब होने पर भी वह भोली बाई से ऊँची प्रतिष्ठा की अधिकारिणी है।[3] यह इसलिए कि वह कुलवधू है और भोली बाई शरीर का सौदा करने वाली धर्म भ्रष्ट वेश्या। उसके इस संतोष पर, इस आत्माभिमान पर करारी चोट लगती है जब वह यह देखती है कि भगवान के मन्दिर में शरीर-विक्रय करने वाली उसी भोली बाई को बड़ी प्रतिष्ठा मिलती है।[4] फिर बगीचे में भोली बाई और उसकी जैसी दूसरी धनी-मानी वेश्याओं के लिए सम्मान का मंच सुरक्षित रहता है। लेकिन सती की मर्यादा का निर्वाह करने वाली धर्मधनी सुमन को उस पर दो क्षण भी बैठने नही दिया जाता।[5] सुमन का अहंकार इन घटनाओं से टूट-सा गया। गजाधर ने उसे फिर यह समझाया कि नीच प्रकृति के विषय-वासना वाले मनुष्य ही वेश्या की चिरौरी करते हैं।[6] किन्तु, सुमन को यह अनुभव भी हुआ कि सज्जन और सदाचारी-शील पुरुषों के समाज में भी तन बेचने वाली भोली बाई की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है।[7] पद्मसिंह की महफिल में बैठने वाले लोग सज्जन और समाज के अगुए ही तो थे। भोली बाई के एक-एक हाव-भाव पर उनको लूटते देख कर सुमन के मन में एक सरल स्वाभाविक प्रश्न उठा कि आखिर इस स्त्री में ऐसा कौन-सा जादू है जो उसके आगे

---

१. सेवासदन— पृ० २३
२. वही ,, २८
३. वही ,, २६
४. वही ,,
५. वही ३५
६. वही २६
७. वही ४३

प्रत्येक भूख इच्छा और लालसा का चित्र बना हुआ है।[१] यदि सौन्दर्य की बात थी, तो सुमन उससे अधिक रूपवती है संगीत तो सुमन भी अच्छा गा सकती है। फिर क्या कारण है कि समाज में भोली बाई की तो प्रतिष्ठा है किन्तु सुमन ऐसा प्राणी है [illegible] कि किसी के ध्यान का वह विषय नहीं है। सोचते-सोचते कार्य-कारण का [illegible] करके वह यही समझ पाती है कि भोली बाई और उसमें अन्तर यह है कि जहाँ भोली बाई स्वाधीन है, सुमन के पैरों में बेड़ियाँ हैं।[२] भोली बाई पक्षी के समान [illegible] स्वच्छन्दता से चहक सकती है चहकती भी है वहीं लज्जा और उपहास ने अपने [illegible] को पर्दे के भीतर ठूंस रखा है। उसका मनोविज्ञान यह सोच कर व्याकुल रहता है कि उसके सामने ही ऐसी स्त्रियाँ हैं जो आराम से तकिये लगाये सोती हैं, लौंडियाँ जिनके पैर दबाती हैं और यहाँ एक वह भी है जिसे कोठरी में टूटी खाट पर सोना पड़ता है, रूखी रोटियाँ खाने को मिलती हैं और ऊपर से नित्य पति की घुड़कियाँ सुननी पड़ती हैं।[३] आखिर सुमन यह सब क्यों सहे? कुलवधू की मर्यादा पालने के लिये [illegible] किन्तु इस मर्यादा का ही समाज की दृष्टि में क्या अर्थ है?[४]

वकील पद्मसिंह हिन्दू-समाज के प्रतिष्ठित नेता हैं। उनकी पत्नी सुभद्रा से सुमन को बड़ी आत्मीयता का व्यवहार प्राप्त हुआ है। एक दिन पद्मसिंह के [illegible] रात गये तक रह जाने के मामूली से अपराध में सुमन को उसका पति घर से निकाल देता है।[५] सुमन गजाधर द्वारा लगाये गये चरित्र [illegible] का प्रतिवाद करती है और यह दावा करती है कि वह कुलटा नहीं है और [illegible] गजाधर निन्दा करता है देखता है।[६] लेकिन गजाधर पर [illegible] कोई प्रभाव नहीं होता। वह सुमन का विश्वास नहीं कर सकता। [illegible] स्वतन्त्र सुमन को समाज का संरक्षण नहीं मिलता। समाज भी [illegible] करता है। यह इसलिए कि हिन्दू-धर्म इस विषय में बहुत ही अनुदार है। [illegible] भी गलती हुई कि उसे हिन्दू-समाज ने बहिष्कृत किया। कहते हैं, यदि [illegible] सुमन कहाँ जाये? ऐसे लोगों को उसने यह दिया है [illegible]

१. सेवासदन—पृ० ४०
२. वही पृ० ४१
३. वही ,, ४२
४. वही ,, ४२
५. वही ,, ४६-४७
६. वही ,, ४९

पाल लूंगी ।[१] किन्तु, बाद के उसके अनुभव ने उसे यह बताया कि ऐसा सोचना कैसी खामखयाली था । पद्मसिंह उदारमना समाज सुधारक के घर में भी अपनी जिन्दगी के शेष दिन काट लेने का सौभाग्य सुमन को नहीं मिल सका । समाज में अपनी बदनामी के भय से पद्मसिंह सुमन के प्रति असहिष्णु हो गया । और उसे उसने अपने घर से भगा दिया । सुमन ने ठीक ही कहा है कि यदि पद्मसिंह ने सुमन को दो चार दिन भी अपने घर पड़े रहने दिया होता तो शायद गजाधर इसे बुलाकर वापस ले जाता और फिर लड़-झगड़ कर गजाधर के साथ वह भी जिन्दगी बिता लेती ।[२] उस की यह शिकायत अपनी जगह पर बिल्कुल ठीक है । भलाई की साहसहीनता एक बहुत बड़ा अभिशाप है ही ।

भोली बाई के ऐश्वर्य-भोग को देखकर सुमन के मन में अपनी गरीबी के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न तो होता था किन्तु, वह वेश्या जीवन को पापकुण्ड ही समझती थी ।[३] इससे यह नहीं कहा जा सकता कि अमारत के लोभ ने उसे वेश्या बनाया । हमारा समाज ऐसा विचित्र है कि पति के घर से बहिष्कृत नारी और तो और मेहनत मजदूरी करके भी निश्चिन्तता पूर्वक जी नहीं सकती । अन्त में ऐसी नारी के आगे यही विकल्प रह जाता है कि वह या तो आत्मघात कर ले अथवा जीना चाहे तो शरीर का सौदा करे । सुमन को जीवन का मोह था । इसलिए वह जीना चाहती थी और इसलिए उसे वेश्या बनना पड़ा ।

सुमन ने आगे चलकर गजाधर को बताया है कि वह किन परिस्थितियों में वेश्या-वृत्ति अपनाने के लिए विवश हुई ।

गजाधर से सुमन ने इस विषय में यह कहा है—तुम्हारे दारिद्र्य और इससे अधिक तुम्हारे प्रेम-विहीन व्यवहार ने मुझमें असंतोष का अंकुर जमा दिया और चारों ओर पाप-जीवन की मान-मर्यादा, सुख-विलास देख कर इस अंकुर ने बढ़ते-बढ़ते भट-कटैये के सदृश सारे हृदय को छा लिया । उस समय एक फफोले को फोड़ने के लिए जरासी ठेस भी बहुत थी । तुम्हारी नम्रता, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी सहानुभूति उस फफोले पर फाहे का काम देती पर तुमने उसे मसल दिया ।[४]

यह उद्धरण बहुत ही मुखर है । इससे सुमन की भावना को समझने में बड़ी सहायता मिलती है । ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि अमारत में पली हुई सुमन

---

१. सेवासदन—पृ० ४६
२. वही ,, १०७
३. वही ,,
४. सेवासदन—पृ० २४६

दहेज की कुप्रथा के कारण गले मढ़ दी जाती है दरिद्र दुहाजू गजाधर के [illegible] सुमन अच्छा खाने, अच्छा पहनने के लिए छटपटा कर रह जाती है। [illegible] मिली तो आनन्दोपयोग की, सन्तोष की नहीं इसने जो है उसमें ही [illegible] गुजर करना उसे आता नहीं। प्रकृति से वह प्रदर्शन-प्रिय है और [illegible] गृहस्थी में उसकी यह तृष्णा भी तृप्त नहीं होती। उधर उसने [illegible] मिलती है—अपने अड़ोस-पड़ोस की महिलाओं से जो रोज नये गहने [illegible] बराबर नये गहने गढ़ाती हैं और फिर, इन सबके ऊपर उसका स्वाभिमान, [illegible] मर्यादा-बोध पीड़ित होता है यह देखकर कि समाज में उसकी [illegible] तोड़ने वाली भोली बाई जैसी कामिनी को कुलवधू से अधिक [illegible] है। विद्रोहिणी सुमन के आगे सती के आदर्श की जो [illegible] वह भी बहुत दृढ़ सिद्ध नहीं हुई। इतने पर भी यदि गजाधर ने उसके [illegible] सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार किया होता, अपने घर में उसे सम्मान और [illegible] मिला होता तो अवश्य ही वह वेश्यावृत्ति के नरक-कुंड में जाने से पहले [illegible] सोचती कि वह क्या कर रही है। लेकिन इधर गजाधर [illegible] साकार रूप होकर उसके सामने खड़ा होता है। [illegible] को अपनी अनुगामिनी ही समझ सकता था, सहगामिनी नहीं और [illegible] ऐसी जिसके प्रति जरा भी सहानुभूति और समवेदना [illegible] नहीं।

प्रेमचन्द ने यह भी बताया है कि सुमन [illegible] कर जिन्दा रहना चाहती थी। किन्तु समाज [illegible] 'सेवासदन' के रचनाकाल तक हिन्दू-समाज इतना उदार और [illegible] था कि एक [illegible] औरत को [illegible] सुमन ने कहा ही है—[illegible] आत्म-[illegible] जायेगी।[२]

[illegible]

१. सेवासदन—पृ० ४[illegible]

२. वही पृ० [illegible]

खड़ा किया गया था और उसी वर्ष बम्बई में भारतीय महिलाओं के शिक्षण के लिए प्रो० कर्वे के प्रयत्न से एक विश्वविद्यालय को स्थापना हुई थी। कहना नहीं होगा कि इस उद्योग की सफलता 'सेवासदन' के रचनाकाल तक बहुत प्रत्यक्ष नहीं हो गयी थी। सुमन को यदि शिक्षा बल होता और समाज भी उन्नत और उदार होता तो शायद सुमन के जीवन को कहानी कुछ भिन्न ही हुई होती। वह मेहनत मजदूरी करके जी लेती—वेश्या वृत्ति के नरक-कुंड में गिरने के लिए मजबूर न होती।

'गोदान' की गोविन्दी खन्ना को भी अपने पति से अपमान और उपेक्षा की सीख मिलती है वह भी व्यथित होकर घर छोड़ कर बाहर निकल पड़ती है। लेकिन उसे सुमन की तरह वेश्या बनने की मजबूरी नहीं है और न आत्मघात करने की विवशता ही। गुजारे का प्रश्न उसके सामने भी खड़ा होता है। लेकिन 'गोदान' के रचनाकाल तक ऐसी परिस्थिति में पढ़ी हुई नारी के आगे गुजारे के अनेक उपाय निकल आये थे। 'गोदान की गोविन्दी यह सोच सकती है कि उसका किसी के अधीन रहना अनिवार्य नहीं है, अपने गुजारे भर को वह कमा सकती है। गांधी-आश्रम से लेकर चीजें वह बेच सकती है और इस तरह सम्मानपूर्वक जी सकती है।[1] लेकिन, सुमन का युग भो सुमन को अपने पैरों पर खड़ा होने को सुविधा देने में सक्षम नहीं था।

'सेवासदन' में वेश्या-समस्या के विषय में भी प्रेमचन्द ने दिशा-निर्देश किया है। वे इस समस्या के दो पहलू खड़े कर लेते हैं। एक ओर वेश्यायें हैं जो अपने शरीर का सौदा करती हैं और खुल कर करती हैं। दूसरी ओर उन वेश्याओं की बेटियां हैं जो परिस्थिति के कशाघात के कारण अपनी माँ की तरह बनने के लिए विवश हैं। प्रेमचन्द ने इन दोनों वर्गों के लिए अलग-अलग समाधान ढूंढा है। उनके सामने मुख्य प्रश्न उन बालिकाओं का है जो वेश्या-पुत्री हैं। अब तक वेश्या नहीं हुई हैं। प्रेमचन्द इनके सम्बन्ध में ऐसा कुछ करना चाहते हैं जो सचमुच कारगर हो। इसीलिए वे सेवा-सदन की स्थापना का आन्दोलन करना चाहते हैं। सेवासदन जैसी संस्था में शिक्षा देकर वेश्या-पुत्रियों को चतुर गृहिणी बनाने का उद्योग किया जा सकता है।[2] उन्हें अपनी माताओं से प्रयत्न करके अलग रख सकते हैं और उनको उस कलुषित[3] वातावरण से बाहर ला सकते हैं। सेवासदन से वेश्या पुत्रियों का बड़ा लाभ सिद्ध होने की संभावना है किन्तु एक बड़ा प्रश्न यह भी उठता है कि हिन्दू समाज में उन्हें पत्नी के

१. गोदान—पृ० १९६
२. सेवासदन—पृ० ३३५
३. वही ,,

रूप में ग्रहण करने के लिए कौन तैयार है ?[1] प्रेमचन्द को यहीं मुसलमानों से मुकाबले हिन्दुओं के समाज की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। मुसलमानों का समाज [illegible] है कि एक नहीं पांच-पांच विवाहेच्छुक वेश्याओं से विवाह करने वाले मिल जाते हैं।[2] लेकिन वेश्या के संस्कार से सर्वथा मुक्त वेश्या पुत्रियों के लिए हिन्दू समाज में [illegible] पाता। प्रेमचन्द यह चाहते थे कि वेश्या पुत्रियों को अपनी मां के पथ पर जाने से रोका जाये। ताकि इस कोढ़ से अगली पीढ़ी मुक्त रहे। लेकिन हिन्दू समाज की रूढ़िवादिता इस दिशा में उनके आगे सबसे बड़ी बाधा थी।

कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने अपने आर्य समाजी संस्कार से [illegible] सेवासदन की कल्पना की थी। यदि आर्य समाज का ही प्रभाव सेवासदन की [illegible] के पीछे होता तो प्रेमचन्द आर्य समाजी जोश में इन वेश्या पुत्रियों के विवाह कराने का आन्दोलन भी खड़ा कर सकते थे। किन्तु, 'सेवासदन' उपन्यास में इस तरह के किसी आन्दोलन का संकेत नहीं मिलता। प्रेमचन्द इस उपन्यास में प्रश्न की जटिलता को प्रस्तुत करके ही छोड़ देते हैं। वे ऐसा अनुभव कर रहे थे कि सदियों से बिगड़ा हुआ हिन्दू समाज जल्द सुधरने वाला नहीं है।[3] उसके सुधार के लिए सुधारकों को बड़े धीरज का परिचय देना होगा, समाज के सम्पूर्ण मानस को ही बदलना होगा।

वेश्याओं के नगर में रहने से लोगों पर बुरा असर पड़ता है। [illegible] जीवाओं को नगर से बाहर कर देने का प्रस्ताव भी प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में [illegible] किया है।[4] प्रेमचन्द चाहते थे कि वेश्याओं को सार्वजनिक स्थानों पर [illegible] का अधिकार न हो। 'सेवासदन' का [illegible] वेश्याओं का नगर में [illegible] [illegible] का इरादा नहीं रखता। [illegible] [illegible] में [illegible] रखना [illegible]। [illegible] [illegible] के [illegible] का [illegible]।[5] [illegible] प्रस्ताव [illegible] वेश्या के [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]।[6] [illegible] है, प्रेमचन्द [illegible]

१. सेवासदन—पृ० ३३५
२. ,, ,, ३०६
३. प्रेमचन्द : घर में [illegible]—पृ० १८३
४. सेवासदन—पृ० १९९
५. वही ,, २०८
६. वही ,, २०६

लेकिन उसके लिए हिन्दू-समाज में सुविधा नही थी। भला जिस समाज में सेवासदन में पली वेश्यापुत्री का विवाह होना कठिन हो उसमें वेश्या के विवाह की बात ही कहाँ उठती है।

'गबन' में भी जोहरा के रूप में एक वेश्या उपस्थित की गयी है। इस जोहरा को पुलिस ने मुखविर रमानाथ के मनुहार के लिए नियुक्त किया था।[१] 'गबन' की जालपा की त्याग-वृत्ति से प्रभावित हो जोहरा का हृदय-परिवर्तन होता है और वह जालपा के आंचल में आश्रय लेने के लिए उत्सुक भी होती है।[२] लेकिन प्रेमचन्द के सम्मुख एक बड़ी कठिनाई यह थी कि भले घरों के लोगों के बीच वेश्या जोहरा के लिए वे जगह नहीं बना पाते थे। 'गबन' में ऐसा कोई वनिताश्रम भी नहीं था जहाँ अपने वेश्या जीवन से विद्रोह करने वाली इस जोहरा को भेज कर लेखक उसके विषय में निश्चिन्त हो जाये। 'गबन' के पात्र अन्त में गांव की ओर जाते हैं। लेकिन जोहरा के लिए वहाँ भी गुंजाइश नहीं। गांव इतना उन्मत कहाँ था कि गन्दी वस्ती में रहने वाली जोहरा को गाँव की स्वच्छ हवा में सांस लेने की सुविधा प्राप्त हो सके। विवशता की इसी स्थिति में लेखक उससे छुट्टी पाने के उसकी मौत का सहारा ले लेता है।[३] जोहरा के प्रमाण से हमें यह विदित होता है कि हमारा हिन्दू समाज 'गबन' के रचना-काल तक रूढ़ियों से ग्रस्त रहा है। यही कारण है कि हृदय-परिवर्तन के बाद भी जोहरा के लिए समाज में प्रेमचन्द कोई स्थान नहीं बना पाते।

'गोदान प्रेमचन्द की सभी दृष्टियों से प्रौढ़तम रचना है! यद्यपि 'गोदान' के कथानक में वेश्या–समस्या की प्रस्तुति के लिए कोई अवसर नहीं है तथापि लेखक ने अपनी इस रचना में भी वेश्या–समस्या के संस्पर्श के लिए अवसर निकाल ही लिया है। मिर्जा रोजी देने के उद्देश्य से कुछ वेश्याओं को इकट्ठा कर एक नाटक-मण्डली बनाना चाहते हैं।[४] उनका ख्याल था कि रूप के बाजार में वे ही अभागिनी स्त्रियाँ आती हैं जिन्हें किसी कारणवश अपने घर, अपने समाज में सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता अथवा जिनके आगे जिन्दा रहने के लिए कोई रास्ता नहीं होता।[५] मिर्जा सोचते हैं कि यदि नारी को घर में प्रतिष्ठा मिले और उसे आर्थिक कष्ट न हो तो बहुत ही थोड़ी संख्या में स्त्रियां वेश्या बनें। किन्तु मेहता उनसे भिन्न यह सोचता है

१. गबन— पृ० ३६३
२. वही ,, ३६६
३. वही पृ० ४१८
४. गोदान—पृ० ३२६
५. वही ,, ३३१

कि स्त्री ऐश की भूख मिटाने के लिए वेश्या बनती है ।[1] कहना नहीं होगा कि मेहता किताबी कीड़ा है और वह थीन से आगे बढ़ नहीं पाता । उधर मिर्जा हैं जिन्होंने जीवन का बहुत सा अनुभव वेश्याओं के बीच बैठकर ही प्राप्त किया है ।

प्रश्न है नाटक-मण्डली अथवा किसी वनिताश्रम की स्थापना से वेश्या-समस्या का समाधान हो जायेगा ? मेहता की बुद्धि को यह स्वीकार नहीं होता कि नाटक-मण्डलियों की स्थापना से वेश्या-वृत्ति के पाप का अन्त हो सकेगा ।[2]

फिर समस्या का समाधान क्या है ? 'गोदान' का मेहता इसका भी उत्तर देता है । इस विषय में इन्होंने जो कुछ कहा है उसका आशय यह है कि वेश्यावृत्ति हमारी इस असंतुलित आर्थिक-व्यवस्था का परिणाम है जिसके फलस्वरूप भारतीय नारी पूर्णतः पराधीन है । अस्तु, जब तक इस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक अभिलषित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकता ।[3] डा० रामविलास शर्मा ने भी 'सेवा सदन' की जिसमें प्रेमचन्द ने वेश्या समस्या के विषय में जम कर विचार किया है मूल समस्या की ओर इशारा करते हुए भारतीय नारी की पराधीनता का ही उल्लेख किया है ।[4]

'गोदान' के मेहता ने समस्या का यह जो समाधान उपस्थित किया था प्रेमचन्द की विचार-दृष्टि में 'सेवासदन' की रचना करते समय भी था । 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने कुंवर अनिरुद्ध सिंह से कहलाया है—'जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों वहाँ दालमन्डी क्यों न आबाद हो ? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है ।'[5]

इससे भी स्पष्ट है कि प्रेमचन्द वेश्या समस्या को हमारी आर्थिक व्यवस्था का अभिशाप मानते थे । इस विषय में 'सेवासदन' में भी एक सुन्दर प्रसंग मिल जाता है । सुमन का पति गजाधर स्वामी गजानन्द बन कर विधवाओं और अनाथों का उद्धार-कार्य करता है ।[6] इस गजाधर अर्थात् गजानन्द ने [illegible] सुमन के पतन के लिए उसकी अपनी दरिद्री बहुत कुछ जिम्मेदार थी । [illegible]

१. गोदान—पृ० ३३१
२. वही ,, ३३१
३. वही ,, ३३१
४. प्रेमचन्द और उनका युग—डा० रामविलास शर्मा, पृ० [illegible]
५. सेवासदन—पृ० २५६
६. वही पृ० [illegible]

के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप वह निर्धनों की कन्याओं के उद्धार का व्रत ले लेता है।[1] निष्कर्ष यह है कि गजाधर भी यही अनुभव करता है कि सुमन के पतन के पीछे आर्थिक विपन्नता ही कारण-रूप है।

वेश्याओं की समस्या ने हमारे देश के बड़े-बड़े सुधारकों का ध्यान अपनी ओर खींचा था। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और स्वामी दयानन्द जैसे महामहिम नेताओं की इस विषय में बड़ी चिन्ता थी। किन्तु इस समस्या का कोई कारगर हल वे निकाल न सके थे। प्रेमचन्द ने इस प्रश्न पर विचार करते समय इस तथ्य को भी अपने ध्यान में रखा था। तभी तो उन्होंने यदि एक ओर समस्या की भीषणता के बोझ को हल्का करने के लिए कुछ तात्कालिक उपाय स्थिर किये तो वहीं यह भी सुझाया कि वेश्या-समस्या सामाजिक कोढ़ तो है लेकिन उसके पीछे जो मूल कारण है वह सामाजिक न होकर आर्थिक है।

वे मेहता की तरह यह कह कर छुट्टी नहीं पा सकते थे कि वेश्या वृत्ति अपनाने का कारण मुक्त-भोग की नारी की आकांक्षा है। प्रेमचन्द इतने संवेदनशील थे कि वे यह समझ गये थे कि नारी अपने शरीर का सौदा निश्चय ही अन्तिम अस्त्र के रूप में करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्ग के समस्याओं की प्रस्तुति

प्राचीन भारत के आर्यों ने समाज की व्यवस्था करते हुए चार वर्णों की कल्पना की थी। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण-ज्ञानसाधक क्षत्रिय-राष्ट्र-रक्षक, वैश्य-उत्पादक और शूद्र इतर सेवाकार्य करने वाले वर्ग थे। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था के नियमन का आधार गुण और कर्म थे न कि जन्म। हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था का बड़ा महत्व रहा है।

हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न संस्कार लेकर जब मुसलमान इस दशे में बसने चले आये और उन्होंने राजनीतिक अधिकार प्राप्त किया तब इस देश की प्रचलित समाज व्यवस्था में परिवर्तन का होना सहज सम्भव ही नहीं बल्कि आवश्यक हो गया।

श्री बांके बिहारी मिश्र, ने अपनी पुस्तक दि 'इंडियन मिड्ल क्लासेस' में

१, सेवासदन—पृ० ३३२

अंग्रेजों के इस देश में आने के पहले भारत का जो सामाजिक संगठन था उसका विव-रण प्रस्तुत करते हुये लिखा है—

"Indian Society in pre-British time consisted in the main of four elements; the king and his courtiers, forming the bureaucratic apparatus of the State, the priestly intellectual comprising scholarly and professional categories, the merchant called Vaishya and the agriculturist including both artisans and peasants."[1]

डा० मिश्र ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें परिगणित होने वाले लोग हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं।

अंग्रेजों के राज्य के भारत में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भारतीय राजाओं और उनके सामन्तों का स्थानापन्न होकर विदेशी अंग्रेज आये। डा० मिश्र की सूची में दूसरे स्थान पर जिन पुरोहितों, धर्मगुरुओं और बुद्धि-सम्पन्न लोगों का उल्लेख हुआ है वे पुरानेपन के साथ इस तरह चिपके हुए थे कि वे सभ्यता की दौड़ में पीछे छूट गये। उनका ज्ञान हिन्दू अथवा इस्लाम धर्म-ग्रंथों तक ही सीमित था। पश्चिम से जो नवीन चेतना उमड़ कर देश में आ गयी थी उसे ग्रहण कर सकने में यह वर्ग नितान्त असफल सिद्ध हुआ। व्यावसायिकों अथवा वैश्यों का जो तीसरा वर्ग था वह अंग्रेजों के आने के पहले अत्यन्त जीवन्त था। ब्रिटिश-स्वार्थ-नीति ने भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट-भ्रष्ट करके इस तीसरे वर्ग की भी कमर तोड़ डाली। चौथा वर्ग किसानों का अपनी जगह पर बना रहा और शायद इसलिए बना रहा कि अंग्रेज यहां शासन करने अथवा संपत्ति अर्जित करने आये थे न कि किसानी करने।

इस प्रकार अंग्रेजों के आ जाने के बाद भारत में मूल रूप से दो ही प्रमुख वर्ग थे। एक वर्ग शासक अंग्रेजों का था और दूसरा शासित भारतीयों का।

विदेशी शासक और देशी शासित के बीच मध्यस्थता करने के लिए नये वर्ग का जन्म समय की मांग हुआ। पश्चिमी शिक्षा का भारत में प्रचार वास्तव में एक नये वर्ग की सृष्टि के निमित्त हुआ। इस शिक्षा ने भारत में एक ऐसे वर्ग का जन्म दिया जो शरीर से तो हिन्दुस्तानी था किन्तु अन्य सभी दृष्टियों से अंग्रेज। इस वर्ग के सम्बन्ध में माइकेल एडवर्डस् ने अपनी पुस्तक 'दि लास्ट इयर्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया' में लिखा है :—

"The regenerative process of western education had pro-

---

1. The Indian Middle classes—B. B. Mishra—P, 21.

duced a new class, Indian in blood and colour but English in testes, in opinions, in morals and intellect.'[1]

इस वर्ग के विषय में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अब हम इस युग में आते हैं जब शासक और शासित के बीच बाबुओं का यह मध्यवर्ग कड़ी के रूप में खड़ा हो जाता है। इस वर्ग को जो बाबू संज्ञा प्राप्त हुई है उसका इतिहास भी मनोरंजक है। अंग्रेज शासकों को अपने पढ़े-लिखे भारतीय सहायकों के शरीर से निकलने वाली बू बहुत अखरती थी लेकिन इस बू को उन्हें तात्कालिक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में बर्दाश्त करना पड़ा।

यूरोप में १७वीं शताब्दी में व्यावसायिक उन्नति एवं भिन्न-भिन्न उपनिवेशों की प्राप्ति के परिणाम स्वरूप मध्यवर्ग का जन्म हुआ था। पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ वहा के मध्यवर्ग के बहुत से उपवर्ग हुए। यूरोप में भी, पूंजीवाद के जन्म और विकास के पूर्व, सामन्तवाद था। पूंजीवाद के विकास ने सामन्तों को भी मध्यवर्ग में परिगणित होने के लिए विवश कर दिया। वहाँ मध्यवर्ग को दो प्रमुख अवान्तर शाखाएँ हुई—उच्चमध्यवर्ग और निम्न मध्य वर्ग। उच्च मध्यवर्ग। उन लोगों का वर्ग था जिनका पूंजी और देश की उत्पादन शक्ति पर नियंत्रण था। निम्न मध्यवर्ग उन लोगों का था जो या तो तिजारती थे अथवा वेतनमांगी कर्मचारी। कहना नहीं होगा कि हैसियत के कारण इस निम्न मध्यवर्ग के भी भिन्न-भिन्न अनेकानेक उपवर्ग हुए।

भारत में एक ओर तो विदेशी शासन अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था और दूसरी ओर विदेशी पूंजी अपना आल-जाल फैला रही थी। पूंजी की दृष्टि से समाज मुख्यतः दो वर्गों में बंटता है—एक वर्ग होता है शोषक पूंजीपतियों का और दूसरा उन शोषितों का जिनका पूंजीपति शोषण करते हैं।

यद्यपि भारत और यूरोप दोनों ही जगह मध्यवर्ग के जन्म के लिए प्रेरक परिस्थितियाँ समान थी तथापि भारत में एक विलक्षणता यह थी कि भारत के मध्यवर्ग को एक ओर तो सामन्तवाद से संघर्ष करना पड़ा दूसरी ओर इसी मध्यवर्ग को उस साम्राज्यवाद से भी संघर्ष करना पड़ा जिसकी छत्रछाया में ब्रिटिश-पूंजीवाद अबाध रूप से भारत का शोषण कर रहा था। रजनी पामदत्त जैसे विद्वानों ने यह कहा ही है कि देश को जिस राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण मुक्ति मिली वह मध्यवर्गीय विद्रोह था।

१, दि लास्ट पीयर्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया-माइकेल इडवर्ड्स्—पृ० ६

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से इस भारतीय मध्यवर्ग को मोटे तौर पर हम तीन उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) उच्च मध्यवर्ग—भारत का वह सामन्तवाद जो पूंजीपति द्वारा अपने उच्च पद से अपदस्थ होकर जमींदार हो गया था, इसी वर्ग में मोटी तनख्वाह पाने वाले बड़े हाकिम और वे भारतीय जो ब्रिटिश पूंजीपतियों के साथ मिल कर रोजगार में अपनी पूंजी लगा रहे थे।

(ख) मध्यवर्ग—वेतन भोगी समाज, और रोजगार में लगे दूकानदार—इसी वर्ग में रखे जा सकते हैं।

(ग) निम्न मध्यवर्ग—यह वर्ग उनका है जो या तो देहातों में किसानी करते हैं अथवा शहरों में भिन्न-भिन्न शरीर-श्रम साध्य धंधे।

भारत के मध्यवर्ग का यह लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के बाद यह उचित होगा कि इस वर्ग की सामान्य विशेषताओं और प्रवृत्तियों का आकलन किया जाये।

भारत का मध्यवर्ग वह वर्ग है जिसके पास समाज के सारे संस्कारों की पूंजी और उसकी सारी क्रियाशीलता की कुंजी है। वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान, अतीत, वर्तमान, भविष्य इत्यादि की समस्त त्वराओं और क्षिप्रताओं के सारे दबाव को अत्यधिक तीव्रता से अनुभव करता है और मानसिक रूप में दबाव के सारे वेग का संवहन करता है। सामाजिकता की सम्पूर्ण इकाई का वेजन घून घुन कर इसी को रौंदता है। चूंकि वह मानव मूल्यों के प्रति सर्वाधिक जागरूक है इसीलिए वह न तो यंत्र बन सकता है न तंत्र अपनी इन्हीं सारी विवशताओं के चलते वह इज्जत जुगाते जुगाते उघड़ जाता है और अन्त में बेइज्जत हो जाता है। भारत का मध्यवर्ग बाहर से अपने सर्वाधिक प्रगतिशील सचेत और बुद्धि सम्पन्न घोषित तो करता है लेकिन यह भी एक कटु सत्य है कि वह भीतर से भयंकर रूप से अनुदार एवं दकियानूस है। उसकी इस स्थिति के कारण हैं जो सामान्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक हैं किन्तु विशेषतः हैं—आर्थिक। मध्यवर्ग की दृष्टि अपने से ऊपर के जिस उच्चवर्ग की ओर रहती है उस वर्ग की पहली और अन्तिम चिन्ता है अर्थ। उसकी सारी [illegible] अर्थ-बिन्दु के चारों ओर चक्कर काटती है—यद्यपि यह वर्ग अर्थाभाव में जीता है। फिर भी इस आग के बीच रहने में ही उसे तृप्ति मिलती है। यह पूंजी बटोर [illegible] जाता है, पूंजी की यह [illegible] उसके मानवीय गुणों को समाप्त कर देती है, उसे स्वार्थान्ध बनाती है। लेकिन, उसे इसका होश ही कहाँ है जो वह अपनी शक्ति का [illegible] [illegible] कर सके। पूंजीपति होकर [illegible] [illegible]

जाता है। उसको अभितृप्ति मिलती है—विलासिता में इस प्रकार वह सभी दृष्टियों से अजीर्ण ग्रस्त हो जाता है।

मध्यवर्ग के नीचे जो निम्नवर्ग है उसकी पहली चिन्ता है—पेट। इस वर्ग का संसार सिमट कर उदर का रूप ले लेता है। चारों ओर से इसे घेर कर पूँजीपति गिद्ध की तरह बैठे होते हैं। जठरानल से ग्रस्त यह वर्ग अतृप्त तो है ही अनुदार भी हो जाने के लिए विवश है। यह वर्ग पेट की चिन्ता से इस तरह ग्रस्त है कि उसे न समाज की चिन्ता होती है न राज्य की। यह वर्ग मन्थरावादी होकर शोषण को अन्याय को सहता जाता है।

मध्यवर्ग के ऊपर नीचे के ये दोनों ही वर्ग बुभुक्षित पशु हैं, अन्तर इतना ही है कि एक बैठा-बैठा खूंटे की रक्षा करता हुआ पागुर करता रहता हैं और दूसरा खूंटे के चारों ओर चक्कर काटता हुआ दूर-दूर की हरियाली की सोंधी गंध सूंघता रहता है।

प्रेमचन्द स्वयं इसी मध्यवर्ग से आये थे और उसकी चेतना, आशा आकांक्षा को अभिव्यक्ति देने वाले सशक्त कलाकार थे। उनके पात्र मुख्यतः इसी वर्ग से निकल कर आये हैं। मध्यवर्ग की मनीषा, उसके व्यवहार, दिखावे और उनकी विडम्बना की सबसे सफल अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के जिस उपन्यास में हुई है वह है 'गबन'।

सन् १६१८-१६ में प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ। युद्ध काल में अनेकानेक व्यक्तियों को आजीविका प्राप्त हो गयी थी। युद्ध की समाप्ति के बाद वैसे लोगों की आजीविका बनी न रह सकी। दफ्तरों में छटनी का काम आरम्भ हुआ। देश में उद्योग-धंधों का विकास कुछ इस ढंग का तब तक नहीं हो सका था कि छटनी वालों की वहाँ गुंजाइश हो सके।

शिक्षा-प्रसार के कारण भी बेरोजगारी के इस मर्ज को फैलने का अवसर मिला। अंग्रेजों ने इस दिशा में शिक्षा की जो पद्धति चला रखी थी उसका उद्देश्य किरानियों की बड़ी फौज खड़ा करना भर था। यह शिक्षा शिक्षितों को सबसे पहले जीविका के लिए सरकारी नौकरियों की ओर झुकाता।[1] शिक्षा का यह पद्धति ऐसी निकम्मी है कि यह युवकों में अपने पैतृक व्यवसाय और शरीर श्रम के प्रति वितृष्णा का भाव पैदा करती है। स्पष्ट है जैसे-शिक्षा फैली वैसे ही वैसे बेकारी भी बढ़ी। स्थिति ऐसी हो गयी कि ब्रिटिश सरकार को भी यह डर लगने लगा कि ऐसा न हो कि इन्हीं बेरोजगारों के कन्धे पर चढ़कर समाजवाद भारत में पहुँच जाये। युद्ध के बाद मंहगाई की जो भीषण समस्या संसार में खड़ी हुई भारत भी उससे अप्रभावित

---

१. भारतीय अर्थ शास्त्र-जथार और बेरी—पृ० ५४२

नहीं रह सका। युद्धोपरान्त विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी ने बेरोजगारी की इस समस्या को सचमुच चिन्ता का कारण बना दिया।

सरकार ने सन् १९२४-२८ के बीच भिन्न-भिन्न प्रांतों में आयुक्त समितियों का गठन कर बेरोजगारी की समस्या के सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ किया। ऐसी ही एक खोज समिति प्रेमचन्द के अपने प्रांत में सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में गठित हुई।[१] बेरोजगारी की इस भीषण समस्या के प्रति प्रेमचन्द जैसे युग से संवेदना ग्रहण करने वाले कलाकार का निरपेक्ष रहना सम्भव नहीं था। बेरोजगारी की यह समस्या मुख्यतः मध्यवर्ग की समस्या थी, जो शरीर श्रम का अभ्यासी नहीं था, जिसको करना जिसे अपमान का विषय दीखता है, प्रेमचन्द ने 'गबन' में परिस्थितियों को नितांत प्रतिकूलता में जिंदा रहने की अमिट लालसा रखने वाले मध्यवर्ग का चित्रण किया है—

'गबन' की जालपा सामन्तीवातावरण में पली हुई एक ऐसी लड़की है जो अल्प शिक्षिता तथा सामाजिक ज्ञान से हीन है और उसका पालन पोषण दिखावे की दुनिया में हुआ है। दिखावे की इस दुनियाँ में दिखाने की सबसे बड़ी चीज है—आभूषण। जालपा को छुटपन से ही खेलने के खिलौने जैसे गहने पिता से मिलते रहे हैं।[२] होश सम्भालने के बाद से ही वह यह भी सुनती आयी है कि उसको ब्याह में ससुराल से चन्द्रहार मिलेगा।[३] अस्तु, यह स्वाभाविक ही है कि अपने विवाह में चन्द्रहार की प्राप्ति की आशा वह करे। जालपा का विवाह होता है मध्यवर्गीय दयानाथ के घर जो कचहरी में मुलाजिम है और रिश्वत की कमाई को हराम समझता है।[४] जालपा के पिता को अपनी बेटी की शादी धूमधाम से करते देख कर दयानाथ को भी अपनी हैसियत से बढ़-चढ़ कर खर्च करना पड़ता है।[५] अपनी इज्जत बचाने के लिए दयानाथ कर्ज से लद जाता है। विधि का विधान कुछ ऐसा विचित्र होता है कि फिर भी जालपा को अपने ससुराल वालों से जहाँ दूसरे गहने मिलते हैं, वहाँ वह चन्द्रहार नहीं मिलता जिसकी साध वह बचपन से संजोये हुए थी।[६]

दयानाथ का पुत्र रमानाथ अपनी पत्नी के आगे अपनी हैसियत के विषय में

१, भारतीय अर्थशास्त्र-जथार और बेरी—पृ० ५४०

२. गबन—पृ० ५

३. वही पृ० ७

४. वही पृ० ६

५. वही पृ० १०

६. वही पृ० १२

सदा बढ़ा-चढ़ा कर कहता है।[1] एक शब्द में वह अपनी पत्नी के सम्मुख अपनी अमारत की डींगे मारता है। जाहिर है जालपा घर में रह कर भी घर की परिस्थितियों को जान नहीं पाती। यह इसलिए कि वस्तु-स्थिति से उसके परिचित होने के बाद दयानाथ के घर का मुलम्मा उसके सामने प्रकट हो जाता और यह दयानाथ अथवा रमानाथ के लिए अच्छा नहीं होता। जालपा के विवाह में जो गहने उसे दिये गये हैं वे उधार के हैं जिनकी कीमत दे सकने की शक्ति परिवार के पास नहीं है।[2] रमानाथ को इतना आत्मबल नहीं है कि वह इस सत्य को अपनी पत्नी के सम्मुख रख दे। उसके आगे फिक्र है, अपनी इज्जत को बरकरार रखने की। अस्तु, वह अपनी पत्नी के गहने उड़ा कर ले जाता है और ढिंढोरा पीटता है चोरी का।[3] कैसी बेबसी है हमारे इस मध्यवर्ग की कि पति अपनी पत्नी के गहने का चोर है और वह यह चोरी करता है इज्जत बनाये रखने के लिए। फिर जालपा की खुशी के लिए रमानाथ गहने उधार ही ले आता है।[4] जालपा के जड़ाऊ कंगन को देखकर उसकी सहेली रतन भी वैसा ही कंगन ला देने के लिए छः सौ रुपयों की थैली दे जाती है।[5] जिसे लेकर रमानाथ सर्राफ के पास जाता है। सर्राफ रमानाथ के खाते में रतन के रुपयों को जमा कर लेता है और दूसरा कंगन उधार देने से इंकार करता है।[6] रमानाथ को बहाना पर बहाना करना पड़ता है फिर अपने कार्यालय के रुपये सिर्फ इसलिए लाना पड़ता है कि जालपा अथवा रतन को यह विश्वास रहे कि रतन के रुपये सुरक्षित हैं। जालपा भी दिखाने के लिए ही तो रमानाथ का लाया हुआ रुपया रतन को दे देती है।[7]

ऊपर के विवरण से यह प्रकट है कि झूठ अंडे देने लग जाते हैं। मध्यवर्ग अपनी आन-बान की रक्षा के लिए मुलम्मे का जो एक आलम खड़ा कर रहता है उसकी बुनियाद झूठ और सिर्फ झूठ पर टिकी होती है।

रमानाथ के मन में एक इच्छा जगती है कि वह अपनी पत्नी जालपा को वस्तु-स्थिति से परिचित करा दे। लेकिन, उसकी विवशता है कि उसकी हेठी उसे बोलने

१. गबन—पृ० २२
२. वही ,, १६
३. वही ,, ३३
४. वही ,, ७५
५. वही ,, १११
६. वही ,, ११२
७. वही ,, १२८

नहीं देती। इसी से तो वह पत्र लिखता है।[1] लेकिन, इस पत्र को भी जालपा को दे देने की हिम्मत उसमें नहीं है। किसी तरह जब वह पत्र जालपा के हाथ लग जाता है तो अब रमानाथ उसका सामना नहीं कर पाता और वह घर से भाग खड़ा होता है।[2]

रमानाथ की यह कहानी यही बताती है कि अपनी झूठी प्रशंसा, उच्चता बनाये रखने के लिए रमानाथ को कर्ज लेना पड़ता है गबन करना पड़ता है और इतना सारा दुःख भोगना पड़ता है। रमानाथ मध्यवर्ग की इसी झूठी प्रशंसा, नकलचीपन और आवरण युक्त जीवन का सच्चा टाइप है—छिछला और छुलमुला धन्ना सेठ बन जाने की तीव्र आकांक्षा से आक्रान्त यह मध्यवर्गीय नवयुवक दैव दुर्विपाक से मजदूर, अपराधी, यहाँ तक कि देश द्रोही भी बनने को विवश हो जाता है। उसे झूठी गवाही तक देनी पड़ती है।[3] और झूठ-मूठ का ब्राह्मण बन कर दान का कम्बल उठा लाना पड़ता है।[4]

यदि उसने साहस करके अपनी पत्नी को अपना हाल बता दिया होता तो जैसा कि जालपा ने कहा है—वह गहनों के लिए जिद कर उसे कर्ज लेने के लिए विवश नहीं करती। जालपा कुलवधू थी, कोई वेश्या नहीं, जो रमानाथ को नोच-खसोट कर अपनी साध पूरी करे।[5] लेकिन रामानाथ भी क्या करे? एक तो वह उस मध्यवर्ग का है जिसके ऊपर आवरण का लबादा चढ़ा हुआ है। दूसरे वह उस हिन्दू-समाज का है जिसमें शादी ब्याह के अवसर पर वर और कन्या पक्ष कभी खुल कर मिलते नहीं। उनका सारा सम्बन्ध झूठ और मुलम्मेबाजी पर स्थिर रहता है।

प्रेमचन्द के ध्यान में केन्द्रारम्भ होकर मध्यवर्ग की यही मुलम्मेबाजी बैठी हुई थी। 'गबन' में आभूषण सम्बन्धी जो चर्चा हुई है वह मुख्य नहीं है, प्रानुषंगिक मात्र है, मुख्य तो है मध्यवर्ग की यह मुलम्मे बाजी जिसके कारण जीवन पर्यन्त साथ रहने वाले दम्पत्ति भी एक दूसरे को सरल, सहज, स्वाभाविक रूप में जान नहीं पाते।

मध्यवर्ग की एक बड़ी लाचारी यह है वह गरीब होने पर भी यह नहीं चाहता कि उसे लोग गरीब समझें। तभी तो उसे मुलम्मेबाजी का सहारा लेना पड़ता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मध्यवर्ग ने बीच की स्थिति के कारण अनेकानेक

1. गबन—पृ० १६५
2. वही ,, १६८
3. वही ,, २१०
4. वही ,, २२१-२
5. वही ,, ६१

उपवर्ग बनते हैं। 'गबन' में एक ओर रमानाथ है दूसरी ओर जालपा है और तीसरी ओर रतन है—जिनमें प्रत्येक का आर्थिक परिवेश भिन्न-भिन्न है। रमानाथ को अपने से ऊँची हैसियत वाली जालपा के आगे अपनी श्री सम्पन्नता का जैसा मुलम्मा खड़ा करना पड़ता है वैसा ही तो जालपा को अपने से अधिक सम्पन्न रतन के आगे दिखावा करना पड़ता है।[1]

मध्यवर्गीय विडम्बना और मुलम्मेबाजी का जो रूप गबन में उपस्थित किया गया है वह कटु सत्य तो है ही करुण भी है। अपनी स्वाभाविक स्थिति अर्थात् अपनी हैसियत के भीतर न रह सकने के कारण यह वर्ग क्रमशः टूटता जा रहा है। संसार में पूँजीवाद के बड़े पैमाने पर विकास होने के फलस्वरूप उच्चवर्ग के लोगों की श्री सम्पन्नता बहुत बढ़ गयी है और तदनुसार उसी अनुपात में उस वर्ग की सुख भोग की एषणा भी असीमित हो गयी है। सुख भोग की इन एषणाओं की पूर्ति के लिए नये नये उपकरण रोज निकलते जा रहे हैं। इन नये उपकरणों को उच्चवर्ग के अनुकरण पर मध्यवर्ग भी ग्रहण करना चाहता है और परिणाम स्वरूप दरिद्र से दरिद्रतर होता जा रहा है।

'गबन' का देवीदीन खटिक परिस्थितियों के चलते मध्यवर्ग से फिसल कर निम्नवर्ग तक आ गया है। यह देवीदीन मनुष्य से मनुष्य होने के नाते प्रेम करता है और मनुष्यता का आगे बढ़ाने वाले आदर्शों को अपने जीवन में उतार लाता है। स्पष्ट है देवीदीन मध्य वर्ग को बांधने वाली प्रतिरोधिनी शक्तियों से छूट गया है। साथ ही वह उस निम्नवर्ग तक नहीं पहुँच गया है जिसकी एक ही समस्या है पेट। यही कारण है कि वह अपने दो-दो बेटों को देश की स्वतन्त्रता के लिए अर्पित कर सका है[2] और रमानाथ जैसे अज्ञात कुलशील को इतना प्यार दे सका है।[3] इसके ठीक विपरीत है 'गबन' का वकील इन्द्रभूषण जो मध्यवर्ग का होने पर भी उच्चवर्ग तक उठाने का प्रयासी है। उसे अपने देश समाज, स्वतन्त्रता और मनुष्यता जैसी चीजों से कुछ लेना-देना नहीं है। बुढ़ापे में भी वह विवाह करता है बेटे के लिए और बेटा चाहिए धन की रक्षा करने के लिए।[4] देवीदीन और इन्द्रभूषण का यह चारित्रिक अन्तर वर्ग गत है वैयक्तिक नहीं।

मध्यवर्ग की साहस हीनता का शिकार 'सेवासदन' का दारोगा कृष्णचन्द्र भी

१. गबन— पृ० ६५
२. वही पृ० २१६
३. वही पृ० २२७
४. वही पृ० ६६

हैं। कृष्णचन्द्र साहस हीन इस अर्थ में है कि दहेज प्रथा को कोढ़ समझ कर भी वह उसके विरुद्ध खड़ा नहीं हो पाता उलटे बेटी के व्याह में दहेज देने के लिए घूस लेता है।

'सेवासदन' की सुमन का जीवन भी उसकी मध्यवर्गीय प्रदर्शन प्रियता के कारण ही तो नष्ट हो जाता है।

'प्रतिज्ञा' का प्रो० दाननाथ बुद्धि सम्पन्न प्रोफेसर होकर भी ढुलमुल यकीन है। इसी अर्थ में तो वह मध्यवर्ग का संस्कार होता है।

'निर्मला' का पिता वकील उदयभानु अपनी बेटी के व्याह में अपनी हैसियत से कहीं आगे बढ़ कर खर्च करना चाहता है सिर्फ इसलिए कि वह भी उस मध्यवर्ग का है जो अपनी समृद्धि का झूठा डंका पीटने के लिए लाचार है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रेमचन्द के पात्र मध्यवर्गीय हैं। अस्तु, मध्य-वर्ग की कुंठा से सभी ग्रस्त हैं। ऊपर जिन पात्रों के नाम लिए गये हैं वे इस तथ्य के कतिपय प्रमाण हैं। अवश्य ही ऐसे सभी पात्रों का नामोल्लेख आवश्यक नहीं माना जायेगा।

प्रेमचन्द के पात्र वैयक्तिक न होकर टाइप वर्गगत वैशिष्ट्य वाले होते हैं। मध्य वर्ग ही वह वर्ग होता है जिसकी आत्मा विकृतियों पर रोती है, अन्याय पर प्रतिरोध करने के लिए इसकी ही भुजाएँ फड़कती रहती है। और उत्थान के लिए क्रियाशील होने का उत्साह भी इसी वर्ग को विरासत में मिलता है। यह सब इसलिए होता है कि मध्यवर्ग सबसे अधिक भाव-प्रवण और संवेदन शील होता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध सिंहनाद किया गया है। नारी की हीन दशा, वेश्यावृत्ति, धार्मिक पाखण्ड और [illegible], अछूतों के प्रति सवर्णों का अनाचार ये ऐसे कुछ विषय थे जिनके विरुद्ध प्रेमचन्द के पात्र आन्दोलन करते हैं। 'वरदान' का बाला जी 'सेवासदन' के पद्मसिंह और विट्ठलदास, 'कायाकल्प' का चक्रधर 'प्रतिज्ञा' का अमृत राय, 'कर्मभूमि' का अमरकान्त आदि ऐसे ही पात्र हैं।

प्रेमचन्द ने गबन के अन्त में उपन्यास के पात्रों को ग्रामोन्मुख किया है। यह सम्भवतः प्रस्तुत समस्या का उनका समाधान है। किसानी को हमारे पढ़े-लिखे वर्ग ने हीन-कर्म समझ कर छोड़ दिया है। प्रेमचन्द इस गुण की ओर इंगित करते हैं—और यह बताते हैं कि यदि हमें सरल जीवन की स्वाभाविकता चाहिए तो हमें थोड़े में संतोष करना सीखना होगा। ग्राम-जीवन इसी की ओर इशारा करता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी-जागरण की प्रस्तुति

भारत के पुराचीन इतिहास में नारी को चाहे जो भी सम्मान प्राप्त हुआ हो इसकी १९वीं शताब्दी तक आकर उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। पुरुष-समाज ने उसके स्वत्वों का अपहरण करके सही मानी में उसे पैरों की जूती बना रखा था। पराधीनता की परम्परा में नारी के स्वाभिमान और आत्म गौरव को ऐसा कुंठित कर दिया था कि उसकी स्थिति ऐसी हो गयी थी कि उसे स्वत्व वंचिता, अपमानिता, उपेक्षिता, होने दर्द का अनुभव भी शायद नहीं होता था।

१९वीं शताब्दी में जो वैचारिक क्रांति हुई उसने सम्पूर्ण भारतीय-जन-मानस के आगे नया आयाम प्रस्तुत किया। शिक्षा के प्रचार से एक ओर स्त्री-समाज में जीवन का स्पन्दन हुआ और दूसरी ओर पुरुष-वर्ग को भी यह अनुभव हुआ कि उसने समाज के प्रति अनाचार कर देश और समाज को दुर्दशा की स्थिति तक पहुँचाया है। वैचारिक आन्दोलन ने अन्याय की परम्परा पर आघात किया था और समता की स्थापना पर बल दिया था। ऐसे युग में यह स्वाभाविक ही था कि जिस नारी-समाज पर पुरुषों ने अत्याचार और अन्याय किया था उसकी ओर सुधी-समाज का ध्यान जाये।

भारत की हिन्दू-नारियों के बीच अपनी स्थिति के प्रति असंतोष का भाव तीव्र से तीव्रतर होता गया। नारी-समाज को यह असंतोष निम्नलिखित कारणों से हो रहा था :—

१—हिन्दू समाज की वैवाहिक-संस्था पुरुषों के हाथों का खिलौना हो गयी थी। विवाह सम्बन्धी जो नियम निर्धारित थे वे स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू नहीं थे। उदाहरण के लिए पुरुष अपनी पत्नी के जीवन काल में, चाहे तो, विवाह कर सकता था और फिर भी अपनी पूर्व पत्नी के ऊपर उसका पति होने का अधिकार अक्षुण्ण था। किन्तु, अपने पति के जीवन काल में कोई पत्नी दूसरे पुरुष से विवाह ही नहीं कर सकती थी।

२—अपने पति की अर्जित अथवा उसकी पैत्रिक सम्पत्ति पर पत्नी का कोई कानूनी अधिकार नहीं था।

३—पिता की सम्पत्ति पर पुरुष होने के नाते उसके बेटों का तो अधिकार होता था, किन्तु, उसकी पुत्री का नहीं। और यह इसलिए कि बेटी स्त्री होती है। इस विषय में कानून ऐसा बुरा था कि पुत्री का उस पिता की सम्पत्ति पर भी अधिकार नहीं होता था जिसकी कोई पुरुष सन्तान न हो।

४—समाज में स्त्री और पुरुष को समान प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। उसे राजनीतिक अधिकार से प्रायः वंचित कर दिया गया था। पुरुष-समाज यह मानता था कि नारी का स्थान घर की देहरी के भीतर है अस्तु, उसे पर्दे की रानी बन कर ही रहना चाहिए।

नीचे की पंक्तियों में हमारा उद्देश्य नारी जीवन की इन समस्याओं का उद्घाटन और इनके समाधान के विषय में नारी समाज में होने वाली जागृति का इतिवृत्त प्रस्तुत करना होगा।

हिन्दू-विवाह-संस्था की एक बड़ी त्रुटि यह थी कि विवाह योग्य कन्या और वर के बीच सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से समानता नहीं थी। इसी का परिणाम था कि कन्या के पिता को भी वर के पिता के आगे एक प्रकार की हीनता का अनुभव होता था। घर में बेटी बहुत दिनों तक अविवाहित स्थिति में रखी नहीं जा सकती थी जबकि पुरुष के लिए इस तरह की कोई कठिनाई और बाधा नहीं थी। यही विवशता कन्या के पिता को वर के पिता के आगे विनीत बनाती थी और वर के पिता को, कन्या के पिता की इस निरीहता का पूरा लाभ उठाने का अवसर आपसे आप मिल जाता है। कन्या के पिता की यही मजबूरी उसे दहेज देने के लिए लाचार करती थी। भारत के मध्यवर्ग को अपनी इज्जत जुगाने की जो मजबूरी है उसका भी अनुचित लाभ उठाने का, वर पक्ष को मौका था, इस प्रकार दहेज की समस्या कन्या के विवाह में सबसे बड़ी बाधा बन कर खड़ी थी।

प्रेमचन्द का आदर्शवाद दहेज की इस प्रथा को अनुचित समझता था। दहेज की इस कुप्रथा से समाज की क्या हानि हो रही थी इस विषय में इस शोध प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

हिन्दू घरों में दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी कई समस्याएँ, जिनका दहेज की इस कुप्रथा से सम्बन्ध है, खड़ी हुई। एक तो असफल वैवाहिक जीवन ही है। इस विषय में प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कई स्थान पर विचार किया है। वरदान की विरजन सम्पन्न मां-बाप की संतान है। उसके घर कमलाचरण के ऐसे सम्पन्न घर से जब विवाह का प्रस्ताव आता है तो विरजन के मां-बाप समझते हैं कि वे अपनी बेटी को अपने ही जैसे सम्पन्न घराने में भेज रहे हैं और वे यह सोच कर निश्चिन्त हो जाते हैं कि विरजन और कमलाचरण का दाम्पत्य जीवन सुखी होगा ही। मां-बाप ने यह भी नहीं देखा कि विरजन का कोई अनुराग इस प्रताप चन्द्र के प्रति भी हो सकता है जिसके साथ उसका इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा है।

सेवासदन के सुमन और गजाधर के दाम्पत्य जीवन का असंतुलन का [illegible]

परिणाम सुमन के वेश्या होने में परिलक्षित होता है। सुमन और गजाधर के बीच प्रकृति गत अन्तर तो था ही परिस्थिति का अन्तर भी था।

प्रेमाश्रम के विद्या और ज्ञानशंकर परस्पर विपरीत स्वभाव के हैं। विद्या और ज्ञानशंकर की प्रकृति भिन्नता की ही वलि तो विद्या होती है।

रंगभूमि के राजा महेन्द्र सिंह और उनकी पत्नी इन्दु के बीच भी विचारों की भिन्नता है। उदार विचार वाली इन्दु अपने जानते पूरी चेष्टा करती है कि महेन्द्रसिंह के साथ उसका दाम्पत्य जीवन सफल हो जाये लेकिन प्रकृति की भिन्नता यहाँ भी बाधक होता है। विचार भिन्नता से दाम्पत्य जीवन कैसा नरक हो जाता है इसका सबसे अच्छा निदर्शन प्रतिज्ञा के कमला प्रसाद और सुमित्रा प्रस्तुत करते हैं। कमला प्रसाद पुरुष वर्ग की अहमन्मता के विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए यह मजे में कह सकता है कि सुमित्रा की खुशी और नाखुशी की उसे परवाह नहीं है वह एक सौ व्याह कर सकता है।[1] सुमित्रा के मुंह पर, उसको वैसा ही करारा उत्तर देने के लिए शब्द मंडराते हैं लेकिन, हिन्दू-समाज में नारी का पुरुष के मुकाबले जो हीनता है वह उसे यह कहने नहीं देती। कि मैं भी हजार शादियां कर सकती हूँ।[2] फिर भी सुमित्रा इतना तो कह ही देती है कि वह पैर की जूती नहीं है कि नई थी तो उसे पहना जाये और पुरानी हो गई तो फेंक दिया जाये।[3] वह यह समझने लगी है कि नारी का भी कोई हक होता है जिसकी संरक्षा वह अदालत से करा सकती है। हमारे समाज में कन्या का विवाह करते समय वर पक्ष की श्री सम्पन्नता को जो प्राथमिकता दी जाती है, जिसके कारण और तो और वर के आचरण शील-स्वभाव के देखने की भी जरूरत नहीं समझी जाती, उसी का दुस्परिणाम प्रतिज्ञा की सुमित्रा को भोगना पड़ा है। उसने बड़ी पीड़ा के साथ कहा है—मेरा विवाह तो महल से हुआ है, लाला बदरी प्रसाद की बहु हूँ इससे बड़े सुख की कल्पना कौन कर सकता है।[4] भगवान ने किस लिए मुझे जन्म दिया, समझ में नहीं आता।[5] यदि सुमित्रा को कोई दूसरा आश्रय मिल गया होता तो वह एक क्षण भी कमला प्रसाद के घर में नहीं रहती।[6] सुमित्रा की सी परिस्थिति में पड़ी हुई नारी के लिए और तो और मां-बाप का सहारा भी

---

१. प्रतिज्ञा—पृ० ६७
२. वही ,,
३. वही पृ० ६६
४. ,, ,,
५. वही ,, ३१
६. वही ,, ३२

नहीं होता। वे समझते हैं कि घर में ऐसा चलता ही रहता है—परिस्थितियों के साथ समझौता करना चाहिए।[१]

निर्मला में कल्याणी और उदयभानु का स्वाभिमान इस बात के लिए राजी नहीं है कि वह अपनी पत्नी के इशारे पर नाचे। वह सोचता है कि जब पैसे कमा कर वह लाता है तो इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार भी उसी का है।[२]

कल्याणी का स्वाभिमान अपने को घर का उतना ही अधिकारी मानता है जितना उदयभानु है।[३] लेकिन पुरुष नारी का यह अधिकार मानता कहाँ है? निरादर, अपमान, जली-कटी, खोटी-खरी-घुड़की-झिड़की सब कल्याणी इसलिये सह लेती है कि वह माँ है। वह सोचती है कि उसके घर छोड़ कर जाने पर बच्चे कौड़ी के तीन हो जायेंगे।[४] स्पष्ट है कि नारी पुरुष समाज का अनाचार, अत्याचार और शोषण सिर्फ इसलिए सहती है कि वह कल्याणी है—घर को नष्ट होते नहीं देख सकती।

कर्मभूमि में सुखदा और अमरकान्त तथा नैना और मनिराम का वैवाहिक जीवन भी पूर्ण संतोषप्रद नहीं है। परस्पर प्रकृति विरोध से इनके बीच एक प्रकार का असंतुलन हो गया है। सुखदा को अमरकान्त की चारित्रिक दुर्बलता के प्रति विद्रोह होता है लेकिन, वह जानती है कि वह किसी दूसरे मर्द के साथ भाग नहीं सकती।[५] यदि यह असम्भव किसी कारणवश सम्भव हो भी जाये तो अमरकान्त उसकी गर्दन काट कर ही रहेगा।[६] सुखदा अमरकान्त को सकीना के प्रति आकृष्ट जान कर अमरकान्त के प्रति मन में रोष चाहे जितना ले आये, वह वैसा कुछ नहीं कर सकती जैसा अमरकान्त समान परिस्थिति में सुखदा के प्रति करता। यहीं पुरुष के मुकाबले नारी के अधिकार की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। गांधी जी की आंधी ने सुखदा और अमरकान्त दोनों को ऐसा बहा दिया कि दोनों में एक प्रकार का संतुलन हो गया। सुखदा वैभव विलास की दुनिया से हट कर अमरकान्त के त्याग और तपस्या में भागीदार चली आई।[७] और अमरकान्त भी सुखदा के इस रूप को देखकर प्रसन्न हो गया।[८]

---

१. प्रतिज्ञा—पृ० ३२
२. निर्मला—पृ० ६
३. वही ,,
४. वही पृ० ११
५. कर्मभूमि—पृ० १२७
६. वही ,,
७. वही ,,
८. वही ,,

लेकिन, नैना और मनिराम के दाम्पत्य जीवन के संघर्ष का अन्त किसी प्रकार के समझौते के रूप में नहीं हो सका। नैना भी सुखदा की तरह राष्ट्र यज्ञ में आहुति देने के लिए आयी किन्तु उसका पति मनिराम निहित-स्वार्थ-वर्ग की सीमा में ही आबद्ध रहा। फलतः दोनों में समझौते के स्थान पर संघर्ष ही बढ़ा और इस सङ्घर्ष का अंतिम परिणाम हुआ मनिराम के हाथों नैना का वध।[1]

गोदान की गोविन्दी और चन्द्र प्रकाश खन्ना कर्मभूमि के नैना और मनिराम के प्रतिरूप हैं। खन्ना दम्पत्ति के बीच भी प्रकृति गत वैषम्य है। श्रीमती खन्ना राष्ट्रीय विचारों की गम्भीर महिला है जो खद्दर पहनती है समवेदनशील और भाव प्रवल है।[2] उसका पति खन्ना गरीब असामियों का शिकार करने वाला शोषक है और धन को सर्वोपरि मान कर उसका संचय करने वाला है। पूंजीपति है इस प्रकार श्रीमती खन्ना और उसके पति भिन्न प्रवृत्तियों के पोषक हैं। इनके बीच संघर्ष का रहना सर्वथा स्वाभाविक है। मिस्टर खन्ना प्रकृति से विलासी हैं और गोविन्दी उसे भिन्न यह समझती है कि वह पुरुष का खिलौना नहीं है न उसके भोग की वस्तु है फिर आकर्षक बनने की चेष्टा ही वह क्यों करें। बच्चों का लालन-पालन और गृहस्थी में ही इतने सारे काम हैं कि भोग की ओर ध्यान देने की उसे जरूरत नहीं दीखती।[3] खन्ना दूसरों के प्रति अत्यन्त विनम्र और मधुर है लेकिन घर में वह उसके विपरीत अत्यन्त कटु और उदंड है।[4] वह गोविन्दी का अपमान करता है। गोविन्दी रात की रात रोया करती है और उसका पति दीवान खाने में मुजरा सुनता है अथवा क्लब में शराब पीता है।[4] अपने पति द्वारा दलित औरअपमानिता होकर भी गोविन्दी सक्रिय विद्रोह नहीं करती। मिस्टर खन्ना से पृथक् अपने किसी जीवन की वह कल्पना भी नहीं कर सकती।[5] मिस्टर खन्ना का मिस मालती के प्रति जो आकर्षण है उसे गोविन्दी जानती है लेकिन उसके लिए वह अपने ही भाग्य को कोसती है।[6] पूंजीपति खन्ना और उसकी पत्नी के बीच जो मतभेद बढ़ता जा रहा है उसका कारण है खन्ना की सम्पत्ति।[7]

---

१. कर्मभूमि—पृ० १६७
२. गोदान—पृ० ६०
३. वही पृ० १६१
४. वही पृ० १६२
५. वही पृ० १६२
६. वही पृ० १६२
७. ,, ,, १६१
८. ,, ,, १६२

गोदान में कुंवर दिग्विजय सिंह और राय साहब की बेटी मीनाक्षी का भी एक जोड़ा है जिसका दाम्पत्य जीवन असफल है।[१] साधारण हिन्दू-बालिकाओं की तरह बेजबान मीनाक्षी का विवाह दिग्विजय सिंह जैसे ऐयाश शराबी के साथ हुआ है। मीनाक्षी भीतर ही भीतर कुढ़ती रहती थी।[२] अपने पति के रंग-ढंग उसे पसन्द नहीं पड़ते थे।

मिस्टर खन्ना और गोविन्दी के दाम्पत्य जीवन की समस्या का समाधान तब हो जाता है जब खन्ना की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।[३] धन के नष्ट होने से मिस्टर खन्ना जीवन की सहज स्थिति में आ जाता है। गोविन्दी से उसका संघर्ष इस कारण ही तो था कि यह भोग-विलास को प्राथमिकता देता था और उसके विपरीत गोविन्दी आडम्बरों और पाखण्डों से मुक्त रहने और सहज जीवन स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने का प्रयास करती थी।

किन्तु, यही समझौता दिग्विजय सिंह और मीनाक्षी के बीच नहीं हो सका। मीनाक्षी नये जमाने से प्रभावित है। वह महिलाओं के क्लब में स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में चर्चा सुनती रही है।[४] उस महिला क्लब में प्रायः ऐसी ही स्त्रियाँ जुटती थीं जिनकी अपने पुरुषों से पटती न थी और नयी शिक्षा के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड़ डालना चाहती थी, वहीं वह मिस सुलतान की थीं जो विलायत से बैरिस्टर बनकर आयीं थी और पर्दानशीन महिलाओं को कानूनी सलाह देने का रोजगार करती थीं।[५] मीनाक्षी के सामने गुजारे का प्रश्न नहीं था उसका पिता राय साहब भी सम्पन्न था। वह दिग्विजय सिंह के मुख में कालिख लगा कर उसकी पगड़ी उछाल कर उसके घर से बाहर निकलना चाहती थी। आखिरी बात कचहरी तक जाती है।[६] कचहरी से मीनाक्षी को गुजारे की डिग्री भी मिलती है।[७] लेकिन मीनाक्षी का दर्प मुकदमें की जीत से संतुष्ट नहीं होता। वह अपने अपमान का बदला दिग्विजय सिंह को हंटर जमा कर लेती है।[८]

---

१. गोदान—पृ० ३२७
२. वही ,, ३२७
३. वही पृ० ३२७
४. वही पृ० ३२७
५. वही ,, ३२८
६. वही ,,
७. वही ,,
८. वही ,,

प्रेमचन्द के सामने वैवाहिक जीवन की विफलता की यह जो समस्या है उसका यत् किंचिन समाधान प्रस्तुत करते हैं रुद्रपाल सिंह और सरोज ।

रुद्रपाल सिंह के विवाह के लिए उस सूर्यप्रताप सिंह के यहाँ से संदेश आया था जिसके उसके परिवार की पुश्तैनी दुश्मनी थी ।[१] यह संदेश रुद्रपाल सिंह के पिता राय साहब के लिए आशातीत ही नहीं कल्पनातीत भी था ।[२] इस विवाह से 'रुद्रपाल की प्रतिष्ठा बढ़ती लेकिन, रुद्रपाल का आदर्शवाद इस प्रतिष्ठा को स्वीकार नहीं कर पात ।[३] उसने अपनी सहपाठिनी सरोज को अपने योग्य समझ कर उसके साथ विवाह कर लेता है ।[४]

प्रेमचन्द के अधूरे उपन्यास मंगलसूत्र में भी पुष्पा और सन्तकुमार के वैवाहिक जीवन में असंतुलन है ।[५] मंगलसूत्र की पुष्पा यह मानने को तैयार नहीं है कि नारी पुरुष के घर में निठुली-होकर आश्रय पाती है । उसका दावा है कि परिवार में यदि स्त्री पुरुष की आश्रिता है तो पुरुष भी स्त्री का आश्रित है ।[६] घर को चलाने के लिए स्त्री को भी श्रम करना पड़ता है । उतना ही श्रम यदि किसी दूसरे के घर किया जाये तो कम से कम पेट तो चल ही जायेगा । रहा सम्मान का प्रश्न । तो क्या सम्मान पाने के लिए विवाह करना आवश्यक है ?[७] उसके ही सामने लेडी डाक्टर बटलर है जिसका नगर में इतना सम्मान है ।[८] और वह अविवाहिता है ।[९] उसे सम्मान पाने के लिए किसी पुरुष के खूंटे बंधने की कहाँ जरूरत पड़ती है ।

दुर्भाग्य के चपेट में पड़ी हुई इन विविध नारियों ने गम्भीरता से इस गम्भीर समस्या की ओर ध्यान खींचा । हमारी वैवाहिक संस्था की यह त्रुटि तो है ही कि उसने ऐसी कोई संस्था नहीं बनायी जिसके आगे ऐसी नारियाँ खड़ी होकर अपनी समस्या का समाधान पा सके । इससे ऐसा कुछ करना ही था जिससे नारी को आत्मघात अथवा वेश्यावृत्ति अपनाने की मजबूरी न रहे । प्रेमचन्द के युग ने यह सोचा कि

---

१. गोदान—पृ० ३१८
२. वही ,, ३१९
३. ,, ,,
४. वही ३२२
५. वही ,,
६. मंगल सूत्र—पृ० १२
७. वही ,,
8. Mangla Sutra—p. 12
9. Ibid p. 13

नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता यदि दी जाये तो उसकी कठिनाई बहुत दूर तक हल हो सकती है। अस्तु, इस दिशा में प्रयत्न किये गये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयं स्त्री समाज में जागृति फैल चुकी थी। नारियों की अखिल भारतीय संस्था बन चुकी थी और वह प्रभावकारी ढंग से अपना काम भी कर रही थी। सन् १९२७ में महारानी बड़ोदा की अध्यक्षता में अखिल भारतीय नारी सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ था उसने सरकार का ध्यान नारी-वर्ग की कतिपय विशिष्ट समस्याओं की ओर आकृष्ट किया था।[1] इसी सम्मेलन में सम्मेलन की अध्यक्षा महारानी बड़ोदा ने पर्दा-प्रथा के तोड़ने का आवाहन करते हुए यह कहा था—

"If women are to take their in the ralsing of the toue of social life; if they are to understand the duties and responsibilities for wich their sons must be trained, the purdah must go."[2]

महारानी ने, इस प्रकार यह सुझाया कि भारत का उत्थान तभी हो सकता है जब स्त्रियाँ इस योग्य हों कि अपनी गोद में पलने वाले राष्ट्र-सेवकों को वे उचित शिक्षा दे सकें। कहना नहीं होगा कि माँ की गोद में जो शिक्षा मिलती है उसका प्रभाव अमिट हो जाता है।

महिला सम्मेलन के आन्दोलन तथा राष्ट्रहित के तकाजे ने पुरुष-समाज को प्रेरित किया कि नारी पर होने वाले अत्याचारों की परम्परा का अन्त किया जाये। श्री हरविलास शारदा ने स्त्रियों को पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार देने के सम्बन्ध में बड़ा जोरदार आन्दोलन खड़ा किया। एसेम्बली में उन्होंने समय-समय पर प्रस्ताव रखे। सामाजिक प्रश्नों का समाधान कानून बना कर नहीं किया जा सकता। इसके श्री शारदा के प्रस्तावों का उद्देश्य नारी समाज के प्रति होने वाले प्रथाओं के विरुद्ध

1. This Conference deplores the effect of early marriage on education and urges the Government to pass legislation to make marriage below the age of 16 a pannal offence. It demands that the age of consent be raised to 16."

Quoted by K. K Datta in—

Renaissance, Nationalism and social changes in Modern India—p. 119.

2. Ibid. p. 115.

जनमत तैयार करना भी था। इन उद्योगों का परिणाम यह हुआ कि विधवा के गुजारे का प्रश्न वहुत दूर तक हल हो गया।

पश्चिमी शिक्षा के प्रचार के कारण स्त्रियों के बीच अपने अधिकारों की माँग करने और उन पर दृढ़ता के साथ डटी रहने की प्रवृत्ति वढ़ी।

नारी समाज में होने वाले इस जागरण का परिणाम यह हुआ कि एक प्रवल जनमत नारियों के पक्ष में उठ खड़ा हुआ। जो ब्रिटिश सरकार भारतीय प्रथा की समाज और धर्म संस्था को प्रभावित करने वाले किसी कानून के वनाने में रुचि नहीं रखती थी, उसे भी इस प्रवल जनमत की उपेक्षा करने का साहस नहीं हुआ, परिणाम हुआ कि एसेम्वली में समय-समय पर ऐसे कानून पास हुए जिनके कारण नारी-वर्ग को न्यायोचित अधिकार प्राप्त करने की सुविधा हुई। ऐसे कानूनों में हिन्दू ला ऑफ इन हेरिटेन्स अमेन्डमेन्ट ऐक्ट सन् १६२६ और चाइल्ड मैरेज रिस्ट्रेन्ट ऐक्ट सन् १६२६ में विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। सन् १६२९ के उत्तराधिकार—विषयक कानून की विशेषता इस अर्थ में है कि अव पारिवारिक सम्पत्ति में नतिनी, वहन और वहन की संतान को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।[१] इन्हीं दिनों विवाह की आयु के वढ़ाने के सम्वन्ध में कानून वनाने के लिए भी आन्दोलन खड़ा हुआ था।[२] वाल विवाह निषेध के विषय में सरकार ने इसी आन्दोलन पर कानून वनाया। नारी को अपने परिवार में एक सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त हो और उसे सम्पत्ति में भाग मिले इस विषय में भी आन्दोलन चलता रहा। अन्त में सन् १६३७ में हिन्दू-विमेन्स राइट टु प्रोपर्टी ऐक्ट १८ पास हुआ।[3] इससे ही आगे वढ़कर तो आजादी के वाद हिन्दू कोडविल उपस्थित हुआ। नारी के अधिकार की संरक्षा करने के लिए सन् १६४६ में हिन्दू विमेन्स राइट टु सिपरेट मेन्टिमेन्स ऐन्ड रेसिडेन्स ऐक्ट भी पारित हुआ था[४] हिन्दू वैवाहिक संस्था अन्तर्जातीय विवाद के विपय में उदार नहीं थी। नयी विचार चेतना के फैलने के वाद अन्तर्जातीय

---

1. The bill which was finally put through in 1929, recognised the son's daughter and the daughters, daugter, the sister and the sister's son and accorded and them rheir natural place in the order of inheritance."

A. C: of S, R. in India—143.

2. Ibid.
३. हिन्दू लाव—मूल—(इंन्डेक्स)
४. वही " "

विवाह की कानूनी स्वीकृति की अपेक्षा दृष्टिगत हुई। सन् १९१८ में इस दिशा में श्री विट्ठल भाई पटेल ने केन्द्रिय असेम्बली में इस विषय में भी उद्योग किया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विदेशी सरकार इन नियमों के बनाने में निमित्त होना नहीं चाहती थी और उसे विवादास्पद प्रश्नों से वह अपने आपको बचाना चाहती थी। इधर हिन्दू-पुरुष समाज भी इन नियमों को स्त्रियों के न्यायोचित अधिकारों का स्मरण कर और औचित्य-भावना से प्रेरित होकर एक के बाद दूसरा कानून नहीं बना रहा था। जिनके लिए ये नियम बन रहे थे स्वयं उनमें ऐसी व्यापक चेतना नहीं आ गयी थी कि वे अपने को पुरुष से भिन्न सत्ता मान कर कानून की सुविधाओं का लाभ उठावें। हिन्दू-पुरुष-समाज नारी की इस विवशता को पहचानता था। इसी से इन कानूनों की उसे बहुत चिन्ता नहीं थी। सच्ची बात यह है कि समाज के संस्कार को काम संसद में कानून पास कर नहीं किया जा सकता। कानून के पास होने से जिनका अधिकार छिन गया हो उनको अधिकार भी प्राप्त नहीं हो जाता।

एक प्रश्न उठ सकता है कि समाज और धर्म के क्षेत्र में अपेक्षित सुधार यदि विदेशी शासन के संरक्षण में जब नहीं हो सकता तो हमारे देश में उन सुधारों के लिए यह आन्दोलन ही क्यों खड़ा किया गया। सारी शक्ति लगा कर देश को विदेशी पंजे से मुक्त कर लेना पहला कर्त्तव्य होना चाहिए था समाज और धर्म की समस्याएँ तो बाद की चीजें हैं। इसी संभाव्य भ्रम का निराकरण करने के निमित्त महादेव गोविन्द रानाडे ने सतारा में होने वाले प्रान्तीय सोशल कान्फ्रेन्स के प्रथम अधिवेशन में भाषण करते हुए निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किया था।—

"You can not have a good social system when you find yourself low in the scale of political rights, not can you be fit to exercise political rights and privileges unless your social system is based on reason and jastic. You can not have a good economic system when your Social arrangements are imperfect. If your religious ideas are low and grovelling you can not succeed in social, economic or political spheres. This interdependence is not an accident, but is the law of your nature."[1]

यह उद्धरण यह स्पष्ट कर देता है कि राजनीतिक स्वातंत्र्य आन्दोलन के साथ-साथ समाज और धर्म आदि क्षेत्रों में सुधार के चेतना क्यों फैलायी गयी थी।

भारतीय नारियों में, पश्चिमी शिक्षा के प्रचार के बाद, यह राजनीतिक [illegible]

1. C. S. R. in India—S. Natarayan—p. 68.

के उनका आकर्षण पश्चिम की उस संस्कृति के प्रति होता जिसके अन्तर्गत नारी पुरुष
के मुकाबले बराबर का अधिकार रखती है। इस देश की पढ़ी-लिखी महिलाओं के
बीच स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बड़ा जोरदार आन्दोलन खड़ा हुआ। कभी तलाक
की मांग के समर्थन में महिलाओं के प्रस्ताव पास होते तो कभी उनकी ओर से वोट
की मांग की जाती।

गोदान में प्रेमचन्द ने इस प्रश्नों पर जम कर विचार किया है। गोदान के युग का
नारी-समाज में यह मानने को तैयार नहीं था कि संसार में स्त्रियों का क्षेत्र पुरुषों से बिल-
कुल भिन्न है। इस युग की जागरित नारी चूल्हे-चौके की दुनियाँ से बाहर आकर पुरुषों
के साथ समान अधिकार की माँग करने लगी है। विमेन्स लीग की ओर से डा०
मेहता का भाषण आयोजित हुआ है मेहता का कहना है कि हंस के पास उतनी तेज चोंच
नहीं है, उतने तेज चंगुल नहीं है उतनी तेज आँखें नहीं हैं, उतने तेज पंख नहीं है और
उतनी तेज रक्त नहीं की प्यास नहीं है। उन अस्त्रों का संचय करने में उसे सदियाँ
लग जायेंगी फिर भी वह बाज बन सकेगा या नहीं इसमें संदेह है मगर बाज बने या
न बने वह हंस जो मोती चुगता है।[1] अस्तु, बाज को चिड़ियों का शिकार करते देख
कर हंस को यह शोभा नहीं देगा कि वह मानसरोवर की आनन्दमयी शान्ति को छोड़
कर चिड़ियों का शिकार करने लगे। मेहता कहता है कि स्त्री को शिक्षा चाहिए लेकिन
वह शिक्षा नहीं जिसके कारण पुरुष ने संसार को हिंसा क्षेत्र बना रखा है।[2] मेहता ने
और भी स्पष्ट होकर कहा है कि हमारी बहने पश्चिम का आदर्श ले रही हैं जहाँ नारी
ने अपना पद खो दिया है और स्वाभिनी से गिर कर विलास की वस्तु बन गयी है।
पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक से अधिक विलास
कर सके।[3] मेहता के अनुसार हमारे देश की मताओं का आदर्श कभी विलास नहीं
रहा उन्होंने ने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया।[4] भला ऐसे
भाषण से सरोज जैसी महिलाओं को जो पुरुष के साथ समानाधिकार खोजती थी, कैसे
संतोष होता। इसी से तो उसने उत्तेजित होकर कहा है—हम पुरुषों से सलाह नहीं
माँगतीं। अगर वह अपने बारे में स्वतन्त्र हैं तो स्त्रियाँ भी अपने विषय में स्वन्त्र
है।[5] इस सरोज को वोट चाहिए—पुरुषों के बराबर।[6] इधर मेहता है जो वोट

---

१. गोदान—पृ० १६४
२. वही पृ० १६५
३. वहा ,, १६६
४. ,, ,,
५. ,, ,, १६७
६. ,, ,, १७५

को नये युग का माया जाल मरीचिका कलंक और धोखा समझता है ।[१] वोटों से मानव जाति का उद्धार नहीं होगा दफ्तरों और अदालतों में पुरुषों की तरह और कलम चलाने से नारियों का उद्धार नहीं हो सकता ।[२] सरोज कहती है—युवतियां अब ब्याह को पेशा नहीं बनाना चाहती । वह अब केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी ।[३] लेकिन, मेहता उसके धोखे को प्रत्यक्ष करते हुए कहता है—जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है—उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप ।[४] मेहता के अनुसार सच्चा आनन्द सच्ची शान्ति केवल सेवा प्राप्त में है वह कहता है—सेवा ही वह सिमेंट है जो दम्पति को जीवन पर्यन्त स्नेह और साध्वर्य में जोड़े रख सकता है जिस पर बड़े-बड़े आघातों पर भी कोई असर नहीं होता । जहां सेवा का अभाव है वहीं विवाह विच्छेद है परित्याग है, अविश्वास है ।[५]

गोदान में इस प्रकार एक सरोज है जो नारी-स्वातन्त्र्य आन्दोलन का पक्ष लेती है स्वयं जागरित नारियों का प्रतीक है और दूसरी ओर मेहता है जो हृदय से यह तो चाहता है कि भारत की नारियों का उद्धार हो किन्तु, वह यह नहीं चाहता कि भारतीय नारी—समाज पश्चिम का अन्धानुकरण करे । उसे अशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहों या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देख कर उन पर दया आती है ।[६] वह यह देखकर हैरान हो जाता है कि लालसाओं ने उन्हें कितना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकती । मेहता के अनुसार नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है ।[७]

मेहता प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुष के पद से श्रेष्ठ समझता है ।[८] वह यह नहीं मानता की स्त्री और पुरुष में समान शक्तियां हैं, समान प्रवृत्तियां हैं । उसकी बुद्धि में स्त्री-पुरुष से उतना ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अंधेरे से ।[९] वह इस

१. गोदान—पृ० १७५
२. वही ,, १६५
३. वही ,, १६७
४. वही ,,
५. ,, पृ० १६८
६. वही ,, १६६
७. वही ,,
८. वही ,, १६२
९. वही ,, १६३

लिए कि मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श है, नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है, पुरुष सदियों से उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए जोर मार रहा है—आज तक पहुँच नहीं सका।[1]

मेहता तो यहाँ तक मानता है कि पुरुष में जो नारी के गुण आ जायें तो वह देवता हो जायें लेकिन वहीं यदि नारी में पुरुष के गुण आ जायें तो वह कुलटा हो जाती है।[2]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नये विचारों वाली सरोज अपने इच्छानुसार रुद्रपालसिंह से प्रेम विवाह करती है।

प्रेमचन्द ने सरोज की कहानी को आगे नहीं बढ़ाया है—यह ध्यान देने की बात है। ऐसा लगता है कि वे इस विषय में—ठहरो और प्रतीक्षा करो की नीति का आश्रयण करना चाहते थे। नारी-जीवन की समस्या का समाधान उन्होंने मालती के चरित्र में प्रस्तुत किया है। यह मालती जो समाज की तितली थी मेहता के विचारों से प्रभावित होकर सारग्राहिणी मधुमक्खी बन जाती है। ऐसी मालती का उस गोबिन्दी के साथ प्रकृतिगत सम्बन्ध हो जाता है, हिन्दू-नारी का करुण-मधुर आदर्श है।

ऐसी पढ़ी-लिखी नारियाँ जैसा कि ऊपर कहा गया रसोईघर में बन्द नहीं रह सकतीं।

वे समझती हैं कि देश-माँ के उद्धार का दायित्व उन पर भी है। अस्तु, वे पुरुष की सहयोगिनी बन कर राष्ट्रयज्ञ में आहुति देने उतर पड़ती हैं।

श्रीमती एनीबिसेन्ट ने भी होम-रूल आन्दोलन में आने के लिए नारियों को प्रेरित किया था।[3] राष्ट्र नायक महात्मा जी ने राष्ट्रयज्ञ में भाग लेने के लिए नारियों का आह्वान किया था।[4] इन प्रेरणाओं का फल यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में नारियों ने स्वातंत्र्य आन्दोलन में भाग लेकर जेल की यातना भी झेली। कर्मभूमि की सुखदा एक ऐसा ही उदाहरण है। कर्मभूमि की नैना तो अपनी आहुति ही दे देती है। गोदान के नारी पात्रों का व्यक्तित्व सजग है अपने आस-पास के जीवन के आलोड़न-विलोड़न के प्रति वे सतर्क हैं।

---

१. गोदान—पृ० १६२
२. वही ,, १५०
३. श्रीमती ऐनीबिसेन्ट के सन् १९१७ के अध्यक्ष पद के भाषण से
४. कांग्रेस का इतिहास—भाग १, पृ० ३०६ और ३११

प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामयिक आर्थिक परिस्थितियों की प्रस्तुति

वरदान

प्रेमचन्द का जन्म इतिहास के उस युग में हुआ था जिसमें भारत की आर्थिक व्यवस्था दुर्भिक्षों के कारण विश्रृंखलित हो गयी थी। एक साधारण परिवार में जन्म लेने वाले प्रेमचन्द ने दुर्भिक्षों का जो प्रभाव सामान्य जन-जीवन पर पड़ा था उसका व्यक्तिगत रूप में अनुभव किया था।

सन् १८७६-७८, सन् १८९६-९७ और सन् १८९९-१९०० के अकालों की दुखद स्मृति जब लोगों के मस्तिष्क से हट भी नहीं पायी थी कि सन् १९०२-३ में मध्यप्रदेश, सन् १९०५-६ में उत्तर प्रदेश तथा पंजाब और सन् १९०७-८ में पुनः उत्तर-प्रदेश में अकाल पड़े।[1] इन दुर्भिक्षों के परिणाम स्वरूप हैजा और प्लेग की महामारी ने जनता की कमर तोड़ दी।[2] इन वर्षों में भयानक सूखा पड़ा। भारत का कृषि-उद्योग वर्षा पर कितना निर्भर है यह सर्व विदित है। वर्षा के अभाव में फसल इतनी घट गयी कि लोगों को रोटियों के लाले पड़ गये। जिन खेतों से वर्ष में दो-दो फसल उगाते थे उनसे इतना भी नहीं मिल पाता था कि किसान का प्राण-धारण भी हो सके। महामारियों ने किसान की श्रमक्षमता को भी घटा दिया था।

इन्हीं दिनों सन् १९०७-८ में अमेरिका में वित्तीय-संकट की स्थिति आयी और उसका भी संसार की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा।[3] कहना नहीं होगा कि 'वरदान' की रचना करते समय प्रेमचन्द के सामने अकाल और महामारी का दुर्दान्त रूप मुंह बाये खड़ा था।

---

१. दि इंडस्ट्रियल रिवाल्यूशन ऑफ इंडिया इन रिसेंट टाइम्स पृ० ६४, ६५-६७
—डी० आर० गाडगिल

२. वही पृ० ६५

३. दि इकानामिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया—पृ० ४३६—वेरा आन्स्टे

प्रेमचन्द अपने औपन्यासिक जीवन के आरम्भिक युग में धार्मिक और सामाजिक विकृतियों पर कशाघात करने वाले कलाकार थे। फिर वे उस वर्ग में उत्पन्न हुए थे जो विपन्न किसानों की दुर्दशा का अनुभव कर सकता था। गांव की दुर्दशा और उसकी नानाविध जटिल समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपनी आँखों देखा था। सहज भाव-प्रवण होने के कारण प्रेमचन्द भारत के सबसे अधिक विपन्न किसान-वर्ग की समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते ही।

'वरदान' की रचना किसी राजनीतिक अथवा आर्थिक समस्या को ध्यान में रख कर नहीं की गयी है। फिर भी प्रेमचन्द ने अपनी इस प्रारम्भिक छोटी-सी रचना में भी किसानों की दशा का वर्णन प्रस्तुत करने के लिए अवसर ढूंढ़ निकाला है। अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और महामारी के एक के बाद दूसरे आक्रमण ने किसानों को किस कदर तोड़ दिया है इसका विवरण प्रेमचन्द ने 'वरदान' में विरजन द्वारा अपने पति कमलाचरण के नाम लिखे गये पत्र में प्रस्तुत किया गया है।

शहर की रहने वाली विरजन ने मझगांव में आकर जो दृश्य देखा वह उसके लिए कल्पनातीत था। उसने क्या सुन रखा था और उसे क्या देखने को मिला।[1] नगरवासिनी विरजन देहात में जाकर किसानों की दशा देख भौंचक रह जाती है।— ऐसा बता कर प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि नगरवासी किसानों की दयनीयता को नगर में रहकर समझ भी नहीं सकते। किसानों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान बिलकुल ऊपरी होता है और इससे सर्वथा त्रुटिपूर्ण भी।

विरजन ने मझगांव के किसानों को टूटे-फूटे फूस के झोपड़ों में रहते देखा। उन झोपड़ों के आगे कीचड़ में लिपटी हुई उनकी भैंसे और दुर्बल गायें ऐसा दृश्य उपस्थित करती हैं कि भावुक विरजन का मन चाहता है कि वह कहीं चली जाये।[2]

विरजन के दृष्टि पथ पर जो मानव आकृतियाँ आती हैं वे दरिद्रता के जीवित चित्र हैं, विपत्ति की मूर्त्तियाँ हैं।[3] इन मनुष्यों में ऐसा कोई नजर नहीं आता जो बेफटा वस्त्र पहने हुये हो। रात-दिन पसीना बहा कर ये जमीन की सेवा करते हैं और फिर भी कभी भर पेट रोटी नहीं मिलती।[4]

शरीर श्रम के ऊपर इन किसानों का अपना वश है लेकिन, विधाता पर नहीं। आंखें आकाश की ओर टंगी रहती है। गांव में काशी नाम का एक घर है जिस पर

---

१. वरदान—पृ० ७०
२. वही पृ० ७०
१. वही पृ० ७०
२. वही ,,

देवता उतर आया है। इस देवता से मझगांव के किसान जो जिज्ञासा करते हैं वह इन शब्दों में वरदान में प्रस्तुत है :—"महाराज अब के वर्ष खेती की उपज कैसी होगी? पानी कैसा बरसेगा? बीमारी आयेगी या नहीं?"[1] स्पष्ट है, किसानों की कुल तीन चिन्ताएँ हैं एक फसल कैसी होगी दो वृष्टि कैसी होगी और तीन महामारी का प्रकोप तो नहीं होगा। इससे यह विदित है कि वरदान की रचना करते समय प्रेमचन्द के ध्यान में अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और महामारी की, उस समय की, चिन्ताएँ हैं। 'वरदान' एक प्रारम्भिक रचना है। उसमें समस्याएँ तो उठायी गयी हैं किन्तु, प्रेमचन्द उनके वर्णन, विश्लेषण में प्रौढ़ता नहीं भर सके।

प्रेमचन्द को यह विदित था कि भारतीय किसान की सबसे बड़ी समस्या ऋण की समस्या है। वह यह भी जानते थे कि कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर लौटता नहीं है। लेकिन इस कर्ज की समस्या को जिस रूप में वरदान में प्रस्तुत किया गया है वह मूल समस्या को उभाड़ कर रख नहीं पाता। वरदान की राधा के पिता के ऊपर बीस रुपये का ऋण है जिसके पाटने में वह असमर्थ सिद्ध हुआ है।[2] महाजन इतनी छोटी रकम के लिए दफा १३ (अ) के अन्तर्गत उस गरीब को हवालात में डलवा देता है।[3]

'वरदान' की रचना के समय ऋण सम्बन्धी ऐसा कानून था कि कर्जदार को महाजन नादहिन्दगी की हालत में जेल की सजा दिला सकता था। यह नियम बड़ा अमानुषिक था और इसके विरुद्ध जनमत तैयार हुआ और कांग्रेस ने जब प्रान्तीय शासन-भार ग्रहण किया तब इस कानून को मन्सूख कर दिया गया। प्रेमचन्द का महत्त्व इस विषय में इतना तो है ही कि उन्होंने इस नाजायज कानून की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था।

मझगांव के किसान मुगलियों के आतंक से त्रस्त दिखाये गये हैं।[4] विरजन ने अपने पत्र में बताया है कि मुगलिये जाड़े में कपड़े उधार देते थे और चैत में दाम वसूल करते थे। उधार देने के समय वे बड़े उदार होते थे किन्तु वसूली के समय बड़े [illegible]-दार। किसी की परेशानी उनकी परेशानी नहीं बनती थी। गाली-गलौज और मार-

---

१. वरदान—पृ० ७४
२. वही पृ० ७७
३. ,, पृ० ७८
४. ,, पृ० ८४

पीट पर भी उतर आते थे।[1] गाँव में इनके अन्याय के विरुद्ध आवाज उठ चुकी थी। राधा ने तो प्रतिरोध में एक मुगलिये को लाठी से मारा भी।[2]

एक ओर किसानों का शोषण करने वाले गिद्ध बन कर उसके आसपास मंडराते हैं और दूसरी ओर विधाता है जो वाम बना हुआ है। विरजन ने अपने पत्र में लिखा है कि लहलहाती फसल पर आलू जैसे बड़े-बड़े ओले ऐसे गिरे जैसे बन्दूक की गोली हो।[3] विधाता की इस अकृपा से खेती का सत्यानाश हो गया। इससे पता यह चलता है कि ऋतु का अनिश्चय भारत के किसान की सबसे बड़ी दयनीयता है।

किसानों की ऐसी दशा हो गयी है कि यदि उनमें थोड़ी सी चेतना आ जाये तो विद्रोह हो जाये। वरदान की रचना सन् १६०५ से १६१२ के बीच हुई। यह वही समय है जब रूस में किसानों ने जारशाही के अनाचार के विरुद्ध विद्रोह किया था। श्री वी० एस० वेसक्रवनी के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि सन् १६०५ से १६०८ के तीन वर्षों में भारत में जन-आन्दोलन के लिए ऐसी अनुकूल भूमिका खड़ी हो गयी थी कि रूसी क्रांति के अमर नेता लेनिन ने इशारा किया था कि भारत के मजदूर भी सचेत हो उठे हैं और उनकी लड़ाई भी संघ-बद्ध-राजनीतिक लड़ाई का रूप ले रही है।[4] लेकिन भारत में वह अपेक्षित चेतना नहीं आ सकी। उसके लिए अनुकूल अवसर तब नहीं था। यह सही है कि प्रेमचन्द ने वरदान में भारतीय किसानों की विपन्नता का चित्र हल्के-फुल्के हाथों से ही खींचा है तथापि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि प्रेमचन्द के इस उपन्यास में अनावृष्टि, अकाल और महामारी के उस युग की समस्याएँ प्रतिफलित हैं।

प्रेमाश्रम

प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' में भारतीय किसानों की नानाविध समस्याएँ उमड़ कर खड़ी हुई है। इसकी उपन्यास में पहली बार किसानों का कष्ट-कथा का अत्यन्त सशक्त वर्णन हुआ है। इसमें भिन्न स्वार्थों जैसे शासक, शासित, किसान-जमींदार आदि के संघर्ष का—बड़ा ही जीवन्त चित्र खींचा गया है। लेखक के ध्यान में हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन का असंतुलन खोकर बैठ गया है जिसके कारण हमारा

---

१. वरदान—पृ० ८४
२. ,, पृ० ८४
३. ,, पृ० ८१
४. प्रेमचन्द और गोर्की—पृ० ८१

समाज पर्चे-पर्चे में बंट कर निष्प्राण हो गया है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का यह असंतुलन जिस वर्ग को सबसे अधिक असहाय बनाये हुए है वह है किसान वर्ग।

भारतीय किसानों की समस्याओं की सबसे बड़ी समस्या है उनकी आर्थिक विपन्नता की, इस विपन्नता के कारण वे कृषि-कार्य को भी उचित ढंग से सम्पन्न नहीं कर पाते।[1] अपनी इस गरीबी के कारण वे महजनों से कर्ज लेने के लिए विवश हैं। जमीन से अच्छी फसल उपजाने के लिए नयी किस्म के बीज चाहिए, पुराने काठ के हलों की जगह लोहे के हल चाहिए, सिंचाई का प्रबन्ध निश्चित रूप से होना चाहिए और फिर जमीन की उर्वरा शक्ति को बदलने के लिए खाद चाहिए। इन सब के लिए एक ही चीज की जरूरत है और वह है रुपया जिसका भारत के किसान के पास नितान्त अभाव है।

सन् १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध के समय उद्योग और इस वाणिज्य की की स्थिति में अव्यवस्था फैली। इस अव्यवस्था का परिणाम देश की अर्थ-व्यवस्था पर इस रूप में पड़ा कि लोगों ने बैंक से अपनी पूंजी निकालने के लिए जोर किया। ऐसा लगता है कि सरकार की मुद्रा-नीति के सम्बन्ध में जनता की आस्था डोल गयी थी जिसके परिणाम स्वरूप नोट को भुना कर सोना बना लेने की गरमागर्मी उन दिनों चली।[2] सरकार ने करीब ८७ लाख पौंड के स्टर्लिंग ड्राफ्ट बाजार में बेचकर बैंक की साख पर होने वाले इस आघात के संकट को झेल लिया। सन् १९१६ से लेकर १९१९ के बीच भारत का निर्यात बहुत बढ़ गया था। आयात-व्यापार में, इस अवधि में विशेष रूप से कमी हुई। व्यापार की इस स्थित के कारण रुपये की मांग बढ़ गयी और उसके कारण सरकार को चांदी खरीदने की जरूरत हुई। सरकार के बहुत बड़े परिमाण में चांदी खरीद लेने से दुनिया के बाजार में चांदी की कमी हो गयी। परिणामस्वरूप सन् १९१५ में जो चांदी की दर २५ पैंस प्रति स्टैण्डर्ड औंस थी तो वह बढ़ कर अगस्त १९१७ में ५५ पै० हो गयी।[3] इसी अवधि में सोने के अनुपात में स्टर्लिंग का भाव भी घटा। चांदी का भाव दिनानुदिन बढ़ता जा रहा था। इसका परिणाम भारत सरकार की अर्थ-व्यवस्था पर अवांछनीय रूप में पड़ा। सरकार को अमेरिका से उसके पिटमैन ऐक्ट के अन्तर्गत २० करोड़ औंस चांदी खरीदनी पड़ी।[4] स्थिति ऐसी विकट हो गयी कि खुले बाजार में आसानी से चांदी का मिलना कठिन हो गया।

---

१. दि इन्डस्ट्रियल इवाल्यूशन इन इन्डिया—पृ० १०३ डी० आर० गाडगिल
२. दि माडर्न इकानामिक हिस्ट्री आॅफ इंडिया पृ० २९३ थार्नर-दास(?)
३. वही ,, २९४
४. वही ,,

इन सबका परिणाम भुगतना पड़ा भारत के किसानों को। इन्हें मालगुजारी रुपये में चुकानी पड़ती थी, महाजन अपने ऋण का भुगतान रुपये के रूप में लेता था। फल यह हुआ कि चीजों की कीमत रुपये के अनुपात में बहुत ही घट गयी।

भारतीय किसान को ऋण के लिए अपने उस महाजन पर निर्भर रहना पड़ता था जो १२ से २४ प्रतिशत की दर से सूद लिया करता था।[1] सूद की इस कड़ी दर के कारण किसान ऋण के बोझ से पिसता चला जा रहा था। श्री गाडगिल ने भारतीय किसान की इस करुण-कथा के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

भारत में अंग्रेज शासक भारतीय किसानों की स्थिति सुधारने की चिन्ता से अपने को प्रायः मुक्त किये हुए थे। तभी तो उन्होंने किसानों की ऐसी कोई संस्था दी थी जो किसानों को कम दर पर और सुविधा से परने वाला ऋण दे सके। तकावी ऋण का जो सिलसिला चलाया गया था वह तो तब चला था जब ऋण के महासमुद्र में भारतीय किसान संकट निमग्न हो गया था। श्री गाडगिल ने ठीक ही कहा है कि जब तक किसानों की शोषक महजनों से रक्षा नहीं की जाती तब तक कृषि-उद्योग में किसी प्रगतिशील सुधार के लिए अवसर ही नहीं है।[2]

डा० एम० आरोकियास्वामी जैसे अर्थशास्त्रियों ने यह बताया है कि अंग्रेजों ने भारत में जब तक राज्य व्यवस्था कायम की तब तक लूट खसोट के दिन बीत गये। इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों में अपनी जमीन के प्रति एक प्रकार के आश्वासन-भाव का उदय हुआ। वे उसे सम्पत्ति रूप में समझने लगे। जमीन अब क्रय-विक्रय की नकद वस्त्र हो गयी।[3]

महाजन अब जमीन के प्रमाण पर किसान को बेहिचक रुपये देने लगा। आवश्यकताओं के दबाव में पड़ा हुआ किसान ऋण लेते समय यही नहीं समझ पाता कि सूद की दर बहुत अधिक है और वह यह भी नहीं अनुमान कर पाता था कि मँहगे सिक्के उसके ऋण बोझ को बहुत अधिक बढ़ाने वाले हैं। किसान अपनी धरती माँ के भरोसे ऋण लेता चला जाता था। इधर अर्थ-व्यवस्था की अव्यवस्था के कारण प्रथम महायुद्धोत्तर काल में अन्न की कीमत रुपये के अनुपात में बहुत घट गयी।

सन् १९१८-१९ में दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण फसल मारी गयी। इस प्रकार किसान सब तरह से बेसहारा हो गया। अगले वर्ष कुछ अच्छी फसल हुई भी तो इंफ्लुयन्जा और प्लेग के रोग संक्रामक रूप से फैले और बहुत से लोगों की मृत्यु हुई।

---

१. दि आई० ई० ऑफ इंडिया—पृ० १०३—डी० आर० गाडगिल

२. वही पृ० १०४

३. दि माडर्न इकानामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ० १९९ आरोकियास्वामी

मवेशियों की भी बीमारी चली और पशु-धन की भी बड़ी हानि हुई। श्री गाडगिल ने बताया है कि इन रोगों के कारण यह था कि किसानों को पौष्टिक आहार नहीं मिल पाता था, कपड़ों की कीमत इतनी बढ़ गयी थी कि खरीद नहीं सकते थे।[1] स्थिति यह थी की इन महामारियों के कारण किसान इतने कमजोर हो गये थे कि वे ठीक से खेती भी नहीं कर सकते थे। पैसे पास में थे नहीं और जिस शरीर बल का भरोसा कर वे कुछ कर सकते थे वह भी बहुत कुछ क्षीण हो गया था। प्रेमाश्रम में यह चित्र ज्यों का त्यों उतर आया है।[2] दैविक और दैहिक प्रकोपों से पीड़ित किसान अपने महाजनों के आगे मुहताज थे।

अंग्रेजों के आने के पहले भी किसान महाजनों से कर्ज लिया करता था लेकिन उस जमाने में महाजन के लिए मनमाने ढङ्ग से शोषण करने की गुंजायश नहीं थी। आज की पंचायत, तब एक शक्तिशाली संस्था थी जो महाजनों को मनमाने ढङ्ग से सूद लेने से रोकती थी। उस जमाने में महाजन कर्ज में किसान को अपनी जमीन से बेदखल नहीं करा सकता था।[3] इस प्रकार महाजन न तो सूद की मनमानी रकम ले सकता था और न किसान की जमीन पर उसका अधिकार हुआ करता था। किसान के लिए ये बातें बड़े महत्व की थी। अंग्रेजों के आने के बाद पंचायत संस्था शक्तिहीन होकर नष्ट हो गयी। और महाजन परम स्वतन्त्र हो गया।

जमींदारी और महाजन ये दोनों ही किसान का शोषण करते है। जमींदार लगान के लिए हर समय लाठी लिए खड़ा रहता है और चाहता है कि लगान की रकम उसे साल ब साल मिलती रहे। लेकिन महाजन किसान के साथ तब तक सख्ती नहीं करता जब तक उसकी सूद की रकम मूलधन के साथ मिल कर इतना न बढ़ जाये कि वह किसान की जमीन की कीमत हो जाये। स्पष्ट है जमींदार किसान बनाये रखना चाहता है और महाजन उसकी जमीन पर [illegible] दूर दूर से उसे देखता रहता है। इन्हीं महाजनों के कारण किसान से मजदूर होते जाते हैं।

प्रेमाश्रम के किसानों की समस्या दूसरे प्रकार की है। इन किसानों का शोषण जमींदार के हाथों हो रहा है। ज्ञान शंकर के पिता का वार्षिक श्राद्ध है। इस अवसर पर उनके असामियों को बाजार भाव से कहीं कम भाव में घी देना है।[4]

---

1. दि इंडस्ट्रियल इवोल्यूशन ऑफ इंडिया पृ० २२५-२६ डी० आर० गाडगिल
2. वही ,, २२६
3. प्रेमाश्रम—पृ० ४६
4. भारतीय अर्थशास्त्र—पृ० २८६—जैन और बेरी
5. प्रेमाश्रम—पृ० ११

जिस किसान के घर भैंस नहीं है उस पर भी यह तकाजा है। जमींदार को घी चाहिये उसे इस बात की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। असामी के पास दूध देने वाली भैंस है या नहीं।[1]

जमींदारी की प्रथा के अनुसार किसानों से इस तरह हली हुकूमत पर बेगार लेने की परिपाटी बहुत दिनों से प्रचलित थी। लेकिन उस पुराने जमाने में जमींदार भी अपने असामी को अपनी पूत-प्रजा समझता था। उनकी मुसीबतों के प्रति सहानुभूति रखता था। मनोहर ने अपने पुराने मालिक अर्थात् स्वयं ज्ञान शंकर के पिता का स्मरण करते हुए कहा है—"तब साल दो साल की देन बाकी पड़ जाती थी मुदा मालिक कभी कुर्की बेदखली नहीं करते थे। जब कोई काम काज पड़ता था तब हमको न्यौता मिलता था। लड़कियों के व्याह के लिए उनके यहां से लकड़ीचारा" और २५ रुपया बंधा हुआ था।—जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे तो रैयत भी उसी हँसी खुशी उनकी बेगार करती थी।"[2]

लेकिन ज्ञानशंकर में वह उदारता कहाँ है नये जमाने का जमींदार है जिसका अपनी जमींदारी से लगान वसूलने—भर का सम्बन्ध है। वह अपनी तिजोरी भरने के लिए किसानों का शोषण करता है। उसी नीयत से वह असामियों पर इजाफा लगाता है इजाफा लगान का अधिकार उसे तभी हो सकता था जब वह जमीन की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए अपनी ओर से कुछ करता।[3] लेकिन वह है जो अपने इस दायित्व को सर्वथा भूल बैठा है और किसानों से इजाफा लगान की माँग करता है।

ज्ञानशंकर के तजुर्बे ने उसे बताया है कि जमींदारी करने के लिए बड़ी सख्ती की जरूरत है।[4] गर्मी में झुलसती हुई धू। और जाड़े में बर्फ का सा ठण्डा पानी बस इसी लटके से ज्ञानशंकर जैसे जमींदार मालगुजारी वसूल किया करते थे।[5] जमींदार ने किसानों का ऐसा शोषण किया है कि किसान को खेती करने में कुछ लाभ नजर नहीं आता, और तो और मजदूरी भी नहीं पड़ती। कादिर ने अपने ही घर की कठिनाई का स्मरण करके यह कहा है कि घर में छोटे-बड़े मिलकर १० जन हैं। पांच-पांच रुपये प्रति व्यक्ति भी कमाये तो साल में ६००) रुपये घर में आते। खा-पीकर ५०) रुपये बच ही रहते। इधर खेती है जिसमें दिन-रात लगे रहने पर भी

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ११
२. वही ,,
३. वही ,, १४२
४. वही ,, २०१
५. ,, ,, ,,

किसी को भर पेट दाना नहीं मिलता। यह एक बड़े खतरे की बात है कि किसान मजदूर होने के लिए विवश होता जा रहा है।[1]

इस ज्ञानशंकर को वह पश्चिमी शिक्षा मिली थी जिसका मूल तत्व है स्वार्थ। इससे दया, विनय, सौजन्य, कुछ भी नहीं रह गया है। वह केवल अपनी इच्छाओं का अपनी इन्द्रियों का दास हो गया है।[2]

ज्ञानशंकर की संबन्धिनी गायत्री की जमींदारी में भी आन्दोलन के कारण हल-चल मचती है और असामियों से लगान वसूल करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।[3] लगान की वसूली न होने से गायत्री को बीस-पचीस हजार का नुकसान हो जायेगा। इस मुसीबत के समय गायत्री की सहायता ज्ञानशंकर के किये ही हो सकती है। ऐसे गायत्री उदार विचारों की है। दुर्भिक्ष ग्रस्त अपने असामियों की दीन दशा के निरीक्षण के लिए वह उनके बीच भी जाती है। वह यह देख कर दुखी होती है कि सर्वत्र लूट मची हुई है। कारिंदे असामियों को नोच कर खा रहे हैं।[4] प्रजा के कष्ट से उसे भी कष्ट होता है। लेकिन वह करे तो क्या करे।[5] गायत्री किसानों के नाम मात्र सूद पर उधार देने का हुक्म देती है, अपने बँटवारों से अष्टांश पर किसानों को अनाज देने पर भी निश्चय करती है लेकिन उसके कारिन्दे हैं जो उसकी चलने नहीं देते।[6]

यही गायत्री आगे चल कर इतना कुछ बदल जाती है कि देख कर आश्चर्य होता है। उसके निमन्त्रण पर ज्ञानशंकर उसकी जमींदारी सम्भालने आ जाता है। उसके प्रवन्ध में व्यय की कमी और आय में वृद्धि होती है।[7] आय इजाफा लगान से ही बढ़ी है। प्रजा के बीच हाहाकार मच जाता है लेकिन अब की बार गायत्री की ममता फूटती नहीं है इसलिए कि शेर के मुंह को खून का स्वाद मिल चुका था। गायत्री का यह रूप परिवर्तन हमें निराशा करने वाला है। लेकिन, दोष उसका नहीं है और न ज्ञानशंकर का ही है। दोषी वह वृत्ति है जो हजार-हजार को बर्बाद कर एक अपने को आबाद करना चाहे।

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ५१
२. वही ,, २१०
३. वही पृ० ७५
४. वही ,, २१
५. ,, ,, १३१
६. वही ,,
७. वही पृ० १६६

हमारे देश का एक दुर्भाग्य यह भी रहा है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज देश के बहुसंख्यक वर्ग किसान की मुसीबतों को सही मानी में समझ भी नहीं पाता। अर्थ-शास्त्र वेत्ताओं ने भारतीय कृषकों की विपन्नता के लिए उत्तरदायी माना है उसकी फजूल खर्ची को, उसके आलस्य को, उसकी अशिक्षा अर्थात् कृषि विज्ञान से, उसकी अन-भिज्ञता को। बड़ी आसानी से यह कह दिया जाता है कि भारतीय किसान सुख श्राद्ध में हैसियत के ऊपर खर्च करता है और कर्ज में पड़ता है। यह भी कहा जाता है कि वह साल में आठ महीने आलसी की तरह समय बर्बाद करता है। वह इतना जड़ होता है कि विज्ञान के नये करिश्मों को अपने खेत के इर्द-गिर्द भी फटकने नहीं देता। नये वैज्ञानिक ज्ञान और साधनों के प्रति निरपेक्ष रहने के कारण वह जमीन से उतना लाभ नहीं उठा पाता जितना बड़ी आसानी से उसे मिल सकता है।

प्रेमचन्द विद्वानों के इस कागजी ज्ञान का अवलम्ब ग्रहण न कर सके। उन्होंने ने किसानों को अत्यन्त निकट से देखा था। प्रेमशंकर के माध्यम से इन सारे आक्षेपों का प्रतिवाद करते हुए कहा है—परिश्रमी तो इनसे अधिक कोई संसार में न होगा मितव्ययीता में आत्मसंयम में गृह-प्रबन्ध में वे निपुण हैं, उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है।[1]

किसानों के बीच आपसी लूट है स्वार्थपरता है और उनके कारण परस्पर संघर्ष है विदेशी शासन यही चाहता हूँ कि किसान आपस में फूटे रहे, उनके बीच सद्भाव न हो। यह इस लिए कि किसानों की एक सरकार के लिए घातक सिद्ध होगा।[2] फिर भी यह तो उनकी दुर्व्यवस्था का ऊपरी कारण हुआ। प्रेमचन्द यदि इतना ही कहकर रह जाते तो हम उनकी ओर से यह दावा नहीं कर सकते थे कि उन्होंने किसान जीवन की और कृषि के मुख्य समस्याओं को पहचाना था।

'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर बताता है कि किसान की मुख्य समस्या है भूमि का क्रमशः अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और दूसरी ओर उसके लगान की रकम की बेहिसाब बढ़ोती।[3] सरकार की मनोवृत्ति का बदलना न प्रेमशंकर के वश में है। और न किसानों के वश में। लेकिन, भूमि का खडंश विभक्त होना तो रोका जा सकता है। इस लिए वह चाहता है कि सुधी-समाज इस प्रश्न को अपने हाथों में ले।[4]

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० १६६
२. वही पृ० १६६
३. वही पृ० २००
४. " "

प्रेमशंकर जानता है कि कानून बन

होता इसलिए इस विषय में प्रबल जन-म

प्रेमशंकर ने गांव के किसानों

वह वहां रह कर रचनात्मक कार्य कर

के सहारे वह प्रयोग और परीक्षण

मुश्किल से ५-७ मन उपज होती थी

उसने गांव में एक ही बगीचा लगा र

आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

किया है। भूमि के ८ वें भाग में कपा

स्वयं सूत कात लेते हैं और गांव का ही

प्रेमचन्द ने आत्म निर्भर गांव का सपना

शहरों में रहने वाले बड़े-से-बड़े

सुधारने में असमर्थ सिद्ध होंगे। ऐसा

को उन्होंने किसानों के बीच में बैठाया

'प्रेमाश्रम' की रचना करते सम

आदर्शवाद उनका संबल था। वे सोचते

उनके बीच में माया [illegible]ंकर जैसा जमींदा

समझते थे कि जमींदार का पार्टी भाग

भारतीय अर्थ-शास्त्र के रचयिता श्री ज

पुस्तक 'प्रिन्सिपुल्स ऑफ रूरल इकोनामि

बीमारी तथा अकाल के बाद यदि सबसे

के लिए हो सकती है तो वह जमींदारों

यदि किसान के [illegible] रहें तो उसके सुध

से और देश-दशा के सुधारने में निमित्त

जहां से यह [illegible] से अधिक [illegible]

ने से ऐसी समस्याओं का समाधान नहीं

त तैयार करने की जरूरत है।[1]

के साथ एकमेव होकर रहना शुरू किया है।

रहा है।[2] कृषि, विज्ञान विषयक अपने ज्ञान

के बाद खेत में बीज डालता है। जिन खेतों में

उनमें १५-२० मन तक का औसत पड़ता है।[3]

रखा है। जिससे गांव वालों की फल-विषयक

योजना बद्ध खेती का सिलसिला उसने प्रारम्भ

स की खेती की जाती है। गांव के ये लोग

कोरी उसके कपड़े बुन देता है।[4] इस प्रकार

प्रेमाश्रम में देखा है।

अर्थ-शास्त्र भी भारतीय किसानों की दशा

प्रेमचन्द समझते थे। इसी से प्रेमशंकर

है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रेमचन्द का

थे कि जमींदारों का हृदय परिवर्तन होगा और

र निकल कर आयेगा।[5] उस युग में लोग ऐसा

का होना किसानों के लिए सबसे दुखद बात है।

वार और बेरी ने श्री टी० एन० कार्वर की

ल्स' के प्रमाण पर यह लिखा गया है कि दुख,

अधिक हानिकारक कोई बात गांव निवासियों

का अपनी जमींदारी में न रहना है।[6] जमींदार

दर्द को समझे। गांव के विकास में योगदान

बन सके। लेकिन, यह भी रहता है शहर में

से [illegible] मात्र एक [illegible] ही हो सकता

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० २००

२. „ पृ० १९९

३. „ „ १९८

४. „ „ १९९

५. „ „ २०४

६. भारतीय अर्थशास्त्र पृ० २४१ जथार और बेरी

है। इसी से प्रेमचन्द चाहते है कि जमींदार अपने असामियों के बीच रहकर उनका उपकारक नेता बन जाये । इसी कल्पना के साथ उन्होंने मायाशंकर की 'प्रेमाश्रम' में अवतारणा की है। प्रथम महायुद्ध के समय भारत का उद्योग धंधा बढ़ गया था। शासन की नीति भारतीय उद्योग-धंधों के विकास में सहायक तो नहीं थी लेकिन, युद्ध के समय यह स्वाभाविक ही था कि कच्चे माल पैदा करने वाला भारत उद्योग का क्षेत्र हो जाये।

'प्रेमाश्रम' के राय साहब कमलाकान्त के यहाँ सेठ जगतराम और मिस्टर मनचूर जी की पूंजी से खड़ी होने वाली कम्पनी का प्रतिनिधि उनके हाथों उस कम्पनी का शेयर बेचने की इच्छा से आया है।[1] लेकिन, राय साहब को साझेदारी खरीदने में आपत्ति है। वह यह नहीं समझता कि कम्पनी डूब जाएगी और उसकी पूंजी मारी जाएगी।

वह सिद्धान्त के आग्रह पर कम्पनी खोलने का विरोधी है। वह समझता है कि कई हजार कुलियों को रोजी मिल जायेगी लेकिन इतनी बड़ी संख्या में किसान का मजदूर बनना उसे दुर्भाग्य का विषय दीखता है।[2] वह रंगभूमि के सूरदास की तरह यह सोचता है कि अपने बाल बच्चों को छोड़कर कम्पनी की छावनियों में रहने वाले मजदूर अपना आचरण भ्रष्ट करेंगे।[3] राय साहब यह मानता है कि किसान कुली बनकर कभी अपने भाग्यविधाता को धन्यवाद नहीं दे सकता, उसी प्रकार जैसे कोई आदमी व्यापार का स्वतन्त्र सुख भोगने—के बाद नौकरी की पराधीनता को पसन्द नहीं कर सकता।

हमारे देश में यूरोप की नकल में औद्योगिक विकास की चर्चा शुरू हुई थी। राय साहब यह सोचता है कि इस विषय में यूरोप वालों का अनुकरण करने वाले हमारे जातीय जीवन के सदगुणों का सर्वनाश कर रहे हैं।[4] ऐसा वह इसलिए सोचता है कि यूरोप में जिस समय औद्योगीकरण हुआ था उस समय उसकी जैसी परिस्थिति थी वैसी परिस्थिति हमारे यहाँ नहीं है। राय साहब कहता ही है—यूरोप में इंडस्ट्रीयलज्म की जो उन्नति हुई उसके विशेष कारण थे। वहाँ के किसानों की दशा उस समय गुलामों से भी गयी गुजरी थी। वह जमींदार के बन्दी होते थे। इस कठिन कारावास को देखते हुए धन पतियों की कैद गनीमत थी। हमारे किसानों की आर्थिक दशा

---

१. प्रेमाश्रम—पृ० ८५
२. ,, पृ० ८६
३. ,, ,,
४. ,, ,,

चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो, पर वह किसी के गुलाम नहीं हैं। अगर कोई उन पर अत्याचार करे तो वह अदालतों से उससे मुक्त हो सकते हैं। नीति की दृष्टि में किसान और जमींदार दोनों बराबर हैं।[1]

कमला कान्त जानता है कि इस देश के किसानों पर अत्याचार किया जाता है।[2]

वह स्वयं जमींदार है और किसी अर्थ में अत्याचारी भी है।[3] लेकिन वह यह भी जानता है कि निरीक्षर जनता के बीच शिक्षा प्रचार होते ही जमींदारों के अत्याचार का अन्त हो जायेगा।[4] राय साहब को यह भी मालूम है कि किसान सारे अत्याचार इसलिए सहता है कि वह गरीब है। उसकी गरीबी को दूर करने के लिए उसके जीवन निर्वाह के अर्थ अन्य साधनों कर अवतरण होना ही चाहिए। इसलिए वह चाहता है कि किसानों के बीच घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाय। और कारण ? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द इस उपन्यास में भारी उद्योग धंधों के मुकाबले कुटीर-आन्दोलन के अधिक आग्रही हैं। सम्भव है यह उन पर गांधी जी का भाव हो।

एक प्रश्न उठाया गया है कि क्या हमारा गृह-उद्योग विदेशी वस्तुओं के साथ सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकती है।[5] राय साहब का आत्म-विश्वास यह मानता है कि ऐसा होगा। यह इसलिए कि यूरोप वाले दूसरे देशों से कच्चा माल लेकर वहाँ जहाँ से ढोकर ले जाते हैं, मजदूरों को कड़ी मजदूरी देते हैं और इन सब के ऊपर हिस्सेदारों को खूब नफा चाहिये। अस्तु, युरोप के माल का उत्पादन-व्यय बहुत बढ़ जाता है और तदनुसार उनकी कीमत भी,[6] हमारा घरेलू शिल्प इन समस्त बाधाओं से मुक्त होगा और इसलिए कोई कारण नहीं कि वह लाभप्रद नहीं हो अथवा विदेशी तिजारत के साथ प्रतिद्वन्द्वि में उसका पलड़ा भारी न रहे।[7]

राय साहब को यह देखकर हैरानी होती है कि हमारे देश के पूँजीपति कुटीर उद्योग से डरते हैं। वे शायद यह सोचते हैं कि इस उद्योग के विकास से उनका सारा

१. प्रेमाश्रम—पृ० ८६
२. ,, पृ० ८७
३. ,, ,, ८२
४. ,, पृ० ८७
५. ,, ,,
६. ,, ,,
७. ,, पृ० ८७

होगा।[1] वे अपना ही हानि लाभ देखने के अभ्यासी हैं इसलिए अपने वृत्त के बाहर जाना उनके वश में नहीं है।

प्रेमाश्रम का लेखक इस प्रकार कुटीर आन्दोलन का ही समर्थन है। लेकिन देश में भारी उद्योग धंधों का विकास आने वाले जमाने में होगा इसके आसार नजर आने लगे हैं। राय साहब के न चाहने पर भी तो सेठ जगतराम और मिस्टर मनसूर जी की कम्पनी खुलेगी ही। इसका कारण यह है कि युद्ध के जमाने में हमारे देश के पैसे वालों ने यह देख लिया था कि व्यापार में सतगुन लक्ष्मी बसती है। इस देश से कच्चा माल ले जाकर लंदन नन्दन वन रहा है। तब यहाँ के देशवासी भी इस मैदान में क्यों न उतरे। लड़ाई के जमाने में इस देश के व्यवसायिकों ने अच्छे पैसे कमाये थे। उन पैसों को उन्हें कहीं लगाना ही था। प्रेमाश्रम के बाद की रचना रंगभूमि में भारतीय उद्योग पति के रूप में जॉन सेवक खड़ा हो ही जाता है।

रंगभूमि

प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन एक ओर संसार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र सिद्ध हुआ तो दूसरी ओर उसको अपने व्यावसायिक विकास के लिए भी खुला मैदान मिल गया। प्रथम महासमर में ब्रिटेन की सहायता में भारत भी आ गया था और उसके सिपाही रणक्षेत्रों में जान की बाजी लगाये हुए थे। किन्तु, महासमर काल में भारत के उद्योग-धन्धों पर कोई विशेष हानिकर प्रभाव, युद्ध के कारण पड़ा, ऐसा नहीं दीखता। बल्कि सत्य तो यह है कि महासमर काल में यातायात की असुविधाओं और बाधाओं के कारण उन विदेशों को हानि ही हुई जो भारत के साथ व्यापार करते थे। इस काल में भारत के उद्योग-धन्धों की जो वृद्धि हुई उसका पता इस बात से चल सकता है कि सन् १९१८-२१ के बीच की अवधि में अंग्रेजों के नियन्त्रण में भारत में चलने वाले ४१ जूट मिलों ने जिनमें ६ लाख पौंड की पूंजी लगी हुई थी १९ लाख पौंड अपने सुरक्षित कोष में रखने के बाद प्रायः २३ लाख पौंड का मुनाफा उठाया।[2] इसी समय बम्बई के सूती मिलों ने शेयर

1: प्रेमाश्रम—पृ० ८८

2 Our Economic Problem—P. A. Wadia & K. T. Merchant P. 422

होल्डरों को १२० प्रतिशत की दर से मुनाफा दिया।[1] स्पष्ट है कि इन घटनाओं से यह सिद्ध हुआ कि भारत में उद्योग-धन्धों के लिए बड़ी सम्भावनाएं हैं।

युद्ध-काल में भारत के रोजगारियों ने भी ऐसा ही अनुभव किया था। किन्तु, उन्होंने सरकार के अंग्रेजों के प्रति अनुचित पक्षपात के कारण उन्हें उद्योग-धन्धे कायम करने और देश का औद्योगिक विकास करने के काम में बड़ी बाधाएँ दीख रहीं थी। लेकिन युद्ध के समय भारतीय व्यावसायियों ने जो मुनाफा कमाया था वह उन्हें इन बाधाओं से लड़ने के लिए भी प्रेरित कर रहा था। सन् १९२०-२१ में होने वाले असहयोग आन्दोलन को भारत के पूंजीपतियों ने बड़ी आशा की दृष्टि से देखा। युद्ध काल में उन्होंने विदेशी सरकार की भारतीय उद्योग-धन्धों के प्रति सहानुभूति शून्यता को देखा था और समझा था कि यदि अपनी सरकार होती, अपनी अर्थ-नीति होती तो देश का उद्योग-धन्धा आगे बढ़ सकता। फिर भी उन्होंने हिम्मत करके देश के औद्योगिक विकास का कार्य आगे बढ़ाने का काम किया। श्री वाडिया और मर्चेन्ट का इस विषय में यह कथन है :—

"There can be no doubt that in spite of the difficulties and obstacles which India had to face, there was a considerable progress in industrial development during the enterwar period."[1]

भारत के उद्योगपतियों ने जब यह देखा कि ब्रिटेन के पूंजीपति भारत के उद्योग-धन्धों से इतना लाभ उठा रहे हैं तो उनका ललचाना स्वाभाविक था।[3]

रंगभूमि में प्रेमचन्द ने भारतीय उद्योग में [illegible] का विवरण प्रस्तुत किया है। ईसाई जॉन सेवक के पास [illegible] पूंजी है, मौके से लाभ उठा लेने की चतुर संगठन-क्षमता है और [illegible] कच्चे माल का [illegible] होने की पूर्ण आशा है। [illegible] जिसके कारण [illegible] भाव से [illegible] है। [illegible] की पूंजी, श्रम और संगठन-क्षमता [illegible]

1. Our Economic Problem—P. A. Wadia & K. T. Merchant [illegible]

२. [illegible]—[illegible]

३. रंगभूमि—[illegible]

नहीं है जिस पर फैक्टरी की इमारत खड़ी हो सके।[1] उद्योगपति जॉनसेवक जानता है कि यह दिक्कत कोई बड़ी दिक्कत नहीं है। यह इसलिए की जिस मौके के जमीन[2] पर फैक्टरी बनने को है वह एक अन्धे भिखारी सूरदास की है[3] और जॉनसेवक मुंह माँगा दाम देने को तैयार है। लेकिन, सूरदास की भावना एक किसान की भावना है जो जमीन को बाप दादों की निशानी समझता है।[4] फिर उस जमीन से मुहल्लेवालों का बड़ा उपकार होता है, उनके मवेशी उसी जमीन पर चरते हैं। जो वह जमीन न रहे तो ढोरों के लिए कोई ठिकाना न रह जायेगा।[5] सूरदास पर जॉनसेवक के भिन्न-भिन्न प्रलोभनों का कोई असर नहीं होता है। सूरदास जॉनसेवक की तरह केवल अपने लिए नहीं जीता। इसलिए जबतक मुहल्ले वालों से वह पूछ न ले जमीन के विषय में कोई फैसला नहीं कर सकता। स्पष्ट है सूरदास से फैक्टरी के लिए जमीन लेना सहज नहीं है। लेकिन पूंजीपति जॉनसेवक भी कच्ची गोलियाँ खेलने वाला नहीं है। उसका संस्कार उसे यह मंत्र देता है कि दुनियां में ऐसा कौन-सा काम है जिसे रुपये से पूरा न किया जा सके। उसने बड़ी शान से कहा ही है :—रुपये के सत्रह आने दीजिए, और आसमान से तारे मंगवा लीजिए।[6]

जॉनसेवक जानता है कि भारत के किसानों के आगे नकद पैसे का क्या आकर्षण होता है। किसान का किसी विशेष फसल के प्रति मोह नहीं होता। वह, वही फसल उगाता है जिससे उसका लाभ होता है। और लाभ कूता जाता है नकद पैसों के रूप में।[7] इसलिए जॉनसेवक इस बात के लिए पूर्ण आश्वस्त है कि उसकी सिगरेट फैक्टरी के लिए तम्बाकू का कच्चा माल मिलने में तनिक कठिनाई नहीं होगी।[8] अपनी इस फैक्टरी के खोलते समय उसे शेयर बेचना है, साझेदारों को अपनी ओर आकृष्ट करना है। इसके लिए भगवान ने उसे पर्याप्त बुद्धि दी है और साथ ही व्यवहार कुशलता भी।[9] परिचित ताल्लुकेदारों, रईसों और म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन आदि का

---

१. रंगभूमि—पृ० १३
२. वही पृ० ८६
३. वही पृ० १३
४. ,, पृ० १६
५. ,, पृ० १६
६. ,, पृ० १३
७. ,, पृ० १३
८. ,, पृ० १३
९. ,, पृ० ५६-५७

सहयोग और विश्वास वह सहज ही प्राप्त कर लेता है।[1] इन सबके ऊपर उसे सरकार का भरोसा है। कुछ तो इसलिए भी कि वह ईसाई है और फिर उद्योगपति है। सरकार उद्योगपतियों और सूरदास जैसे साधारण व्यक्ति के बीच के संघर्ष में निश्चय ही जॉनसेवक जैसे पूँजीपति की ओर होता। जॉनसेवक जानता है कि यह युग व्यापार राज्य का युग है। स्वयं यूरोप में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजी-पतियों के इशारे पर बनते बिगड़ते हैं। अवश्य ही भारत सरकार ऐसी निर्बुद्धि नहीं है कि वह पूँजीपति जॉनसेवक के हितों के विरुद्ध आचरण करे।[2]

एक प्रश्न रंगभूमि के पाठक के मन में यह उठता है कि देश के औद्योगिक विकास के लिए स्वदेशी पूँजी लेकर जॉनसेवक खड़ा होता है तो सूरदास की ओर से उसके प्रयत्न में सहायता देने के बजाय यह विरोध क्यों हुआ? क्या यह समझा जाए कि प्रेमचन्द देश के औद्योगिक विकास के विरोधी थे? क्या ऐसा तो नहीं है कि प्रेमचन्द कल-कारखानों का होना किसी कारणवश देश-हित के विरुद्ध समझते थे? रंगभूमि का सूरदास ही एक ऐसा पात्र है जो जॉनसेवक के प्रतिरोध में खड़ा होता है। यह सूरदास नायकराम के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहता है—सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायेगी रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन, जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का परचार भी बढ़ जायेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़ मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ, बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी।[3]

सूरदास के इस कथन से स्पष्ट है कि वह देश के औद्योगिक-विकास का विरोधी नहीं है। वह डरता है कि जॉनसेवक की फैक्टरी के खुलने से ग्रामीण-जीवन क्रम दूषित हो जायेगा।

सूरदास को अपनी जमीन का मोह अवश्य है। यह इसलिए कि वह जमीन

---

१. रंगभूमि—पृ० ५६

२. गवर्नमेंट कोई इतनी निर्बुद्धि नहीं है कि वह व्यवसायियों की मर्जी [illegible] कान बन्द कर ले। यह व्यापार-राज्य का युग है। यूरोप में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य पूँजीपतियों के इशारे पर बनते-बिगड़ते हैं। किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं है कि उनकी इच्छा का विरोध करे। पृ० २६८

३. रंगभूमि—पृ० ६०

उसके बाप-दादों की निशानी है।[1] इस जमीन से उसका व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता। फिर भी यह संतोष तो उसे है ही कि अन्धा होने से यदि वह किसी का और कुछ उपकार नहीं कर पाता तो इतना तो होता ही है कि उसको जमीन से मुहल्ले वालों के बेजबान पशुओं का थोड़ा फायदा है।[2] यदि किसी ने उसकी जमीन कुंआ बनवाने अथवा मन्दिर वा धर्मशाला-निर्माण के लिए माँगी होती तो वह राजी-खुशी जमीन दे देता।[3] उसका संस्कार कुंआ, मन्दिर अथवा धर्मशाला बनाने को ही जन-हित का काम समझता है। उसकी आपत्ति सिर्फ इसलिए है कि जॉनसेवक उसकी जमीन पर पुतली घर बनाना चाहता है।[4]

प्रेमचन्द को औद्योगिक विकास से विरोध नहीं था। लेकिन, जो औद्योगिक विकास गाँव की तबाही का कारण हो उसका समर्थन करते प्रेमचन्द से बनता नहीं है। पहले यह कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द यह मानते थे कि मध्यम वर्ग की बहुतेरी समस्याओं का समाधान तभी होगा जब हम ग्रामोन्मुख हों। प्रेमचन्द की गाँव के प्रति बड़ी आस्था-भावना थी। जॉनसेवक जैसे पूँजीपति अपने लाभ के लिए गाँव को नष्ट कर रहे थे। प्रेमचन्द यह सह नहीं पाये।

रंगभूमि के सूरदास की जमीन पर जब फैक्टरी खड़ी हो जाती है और जॉनसेवक का काम चल पड़ता है तब गाँव वालों के ऊपर एक के बाद दूसरी मुसीबत आती है। फैक्टरी के मजदूरों के लिए रहने का मकान चाहिये और उसके लिए गरीबों के झोपड़ों को उजड़ जाना होगा। सूरदास की जान अपने झोपड़े की रक्षा में चली जाती है।[5] यह मुसीबत अकेले सूरदास पर नहीं आती। अपना-अपना रोजगार करने वाले बजरंगी, जगधर और ठाकुरदीन जैसे दूसरे लोग भी पुतलीघर के बनने के बाद बेरोजगार और बेघर हो जाते हैं।[6] ठाकुरदीन की तो ओर भी मुसीबत है। वह उस जाति का नहीं है जिसमें शरीर-श्रम करने की परिपाटी हो।[7] यह बेचारा कहाँ जाय, क्या करे ? जगधर का बेटा पुतलीघर के खुलने के बाद दो पैसे कमा तो रहा है लेकिन उसका रहन-सहन खराब हो गया है। वह रोज जुआ खेलता है। कहा जाता है किसी

१. रगभूमि—पृ० ८७
२. ,, ,, ९६
३. ,, ,, ८८
४. ,, ,, ८८
५. ,, पृ० ५६५
६. ,, ,, ५५६
७. ,, ,, ,,

औरत से उनकी आशनाई भी हो गयी है और इसी कारण इनके प्रतिद्वन्द्वियों की नजर पर वह चढ़ गया है और आज उनकी जान खतरे में है।[१] बजरंगी का बेटा घीसू, जो अखाड़े का पट्ठा निकलता, आवारा हो गया है, नशाखोर हो बैठा है और [illegible] की तरह अपने को बरबाद कर रहा है।[२]

पुतलीघर खुलने से एक के बदले चार पैसे की आमदनी होती तो जरूर है लेकिन, "ऐसा सोना किस काम का जिससे कान फटे।"[३] पुतलीघर के विस्तार के लिए जब गाँव वालों का घर-बार छीन लिया जाता है तो उन्हें गाँव से शहर की ओर भागने की लाचारी हो जाती है। ये लोग नागरिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं। इनकी शिकायत है—शहर में पानी तक तो अच्छा नहीं मिलता। यहाँ कुएँ का पानी पियो, धरम जाये और कुछ स्वाद भी न मिले।[४] गाँव के ये भोले-भाले लोग शहरी ग्वालों की तरह दूध में पानी नहीं मिला सकते। क्योंकि ऐसा करना पाप समझते हैं। बजरंगी कहता ही है—जब करम उमर-भर नहीं किया, तो अब क्या करेंगा।[५] लेकिन शहर में बिना [illegible] किये गुजारा भी तो नहीं हो सकता। मकान का इतना किराया लगता है, जमीन लेने के लिए घूस देना पड़ता है। जमीन भी मिली तो इतनी नहीं मिलती है कि मवेशियों को भी [illegible] रखा जाय।[६] इस प्रकार ये गाँव वाले पुतलीघर के मारे तबाह हो जाते हैं। ठाकुरदीन ने सच समझा कि सूरदास पागल नहीं था, वह जानता था कि यह पुतलीघर गाँव वालों को [illegible] देगा।[७] [illegible] ने, ठाकुरदीन के शब्दों में—मिस्टर जॉनसेवक ने [illegible] के खातिर सूरदास का गला घोंट दिया और तबाही को न्योता दिया।[८]

इस विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक सभ्यता के [illegible] थे। वह सोचते थे कि मिलों के खुलने से [illegible]। इससे पूँजीवादी शोषण बढ़ेगा—[illegible] परम्परा को प्रेमचन्द का समर्थन [illegible] नहीं मिला—इसलिए [illegible] शोषण और अन्याय के विरुद्ध आगे जिन्दगी बढ़ाने का [illegible] करते थे।

१. रंगभूमि—पृ० २९८
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, २३५
४. ,, ,, ४२०
५. ,, ,, २९६
६. ,, ,, ,,
७. ,, ,, २९०
८. ,, ,, ,,

कर्मभूमि

विश्व के आर्थिक इतिहास में सन् १९२९ का अपना एक अलग ही इतिहास है। इस वर्ष एक भयंकर मंदी ने संसार के वणिज व्यापार के क्षेत्र में घोर संकट की स्थिति पैदा कर दी। भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के जुए में बंधा हुआ था। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र-अर्थ नीति नहीं हो सकती थी। पहले ही यह बताया जा चुका है कि जिस तरह अंग्रेजों ने अपने राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी हितों की पूर्त्ति के लिए भारत का आर्थिक शोषण किया। भारत में उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था। दुनिआं के बाजार में अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण वह किसी तैयार माल का रोजगार कर सकने की स्थिति में नहीं था। वह दुनियां के व्यापारियों को कच्चे माल मुहैया करता था। ये कच्चे माल भी वहीं होते थे जिनकी अंग्रेजों को व्यावसायिक दृष्टि से आवश्यकता होती थी। भारत के किसान अपनी जमीन पर वे फसलें उगाते थे जिनकी अंग्रेजों को जरूरत पड़ती थी और जिनसे उन्हें नकद पैसे मिल जाया करते थे। ऐसी फसलों में तम्बाकू, पटसन, कपास आदि मुख्य हैं।

सन् १९२७ के करेंसी ऐक्ट के परिणामस्वरूप रुपये का भारतीय सिक्का अंग्रेजों के सिक्के स्टरलिंग के साथ बंध गया था।[1] सितम्बर सन् १९३१ में ब्रिटिश सरकार ने इंगलैन्ड में सिक्के के स्वर्ण मान को स्थगित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण से असंबद्ध होने के कारण स्टरलिंग तथा उसके पुछल्ले के रूप में भारतीय रुपये का मान सोने के अनुपात में घट गया।[2]

सन् १९२९ की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का परिणाम भारत में यह हुआ कि किसानों की फसल का मूल्य बहुत ही घट गया। किसान को अपना कच्चा माल बाहर भेजने में उतना भी पैसा नहीं निकलता था जितना फसल के उगाने में उसे लगा देना पड़ता था। और फिर भारत के कच्चे माल के खरीदारों की सरकार ने आयात कर का बोझ भी बढ़ा दिया था।

सन् १९३० के सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन के कारण भारत के विदेशी व्यापार को कठिन स्थिति का सामना करना पड़ा। विलायती माल के बहिष्कार आन्दोलन ने ब्रिटिश के व्यावसायिकों को जैसे सकते में डाल दिया। डा० आरोकिया स्वामी ने असहयोग आन्दोलन के परिणामों का उल्लेख करते हुए बताया है कि उक्त आन्दोलन के कारण उद्योग धंधों में लायी गयी पूंजी के वापस कर लेने की प्रवृत्ति, बहुत बड़े

---

१. दि माडर्न इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया आरोकिया स्वामी पृ० २९८

२. वही ,, पृ० २९८-९

परिमाण में, बढ़ी। एक तरह से अंग्रेजों के वाणिज्य-व्यवसाय को लकवा ही मार गया।[1]

ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश हितों का संरक्षण करने के उद्देश्य से भारतीय सिक्के रुपये और ब्रिटिश सिक्के स्टर्लिंग के परस्पर मान को भी संशोधित किया। दूसरी ओर सरकार ने लगातार 'ट्रेजरी बिल' जारी किये और करेंसी का संकोचन किया।[2]

सरकार ने सोने के अनुपात में स्टर्लिंग और परिणामतः रुपये के मूल्य को बढ़ाने के अनेकानेक रास्ते निकाले। एक ऐसा भी समय आया जब वह सफल भी हुई। लेकिन, इन प्रयत्नों का परिणाम भारत में शुभ नहीं हुआ। सोने के अनुपात में रुपये के मूल्य में वृद्धि होने के कारण लोगों में अपने पास के सोने को निकाल कर रुपये में भुना लेने की प्रवृत्ति बढ़ी। भारत में सोना सुख का शृंगार और विपत्ति का आधार माना गया है। सुखी लोगों ने घर से सोने निकाल कर रुपये जेब में रख लिए और अब इन रुपयों को उन्हें कहीं लगा देना था। जो गरीब थे उनके घर में जो थोड़ा बहुत सोना था वह खाने दानी के लिए निकल गया। जब और अधिक आर्थिक दबाव इस विपन्न वर्ग पर पड़ा तो उसे खेत बेचने अथवा रेहन रखने के लिए विवश होना पड़ा। बस धनियों के रुपयों के सौदे की समस्या हल हो गयी। ये धन अपने रुपयों से गरीब किसानों की जमीन खरीद सकते थे।

देश में किसानों का एक नया ही वर्ग पैदा हुआ। यह वर्ग किसान सिर्फ इस लिए कहलाता था कि उसके पास जमीन थी। लेकिन सच्चे अर्थ में वह किसान था नहीं। यह इसलिए कि उसके हाथ में इतनी जमीन आ गयी थी कि वह स्वयं खेती कर ही नहीं सकता था। सन् १९२९ की आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप थोड़े से लोगों के हाथों में बेहिसाब जमीन सिमट कर चली आयी। नतीजा यह था कि कल का किसान अपनी जमीन खोकर खेतिहर मजदूर होने लगा।

अपने परिवेश के प्रत्येक स्पन्दन पर नजर रखने वाले प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में इस आर्थिक मंदी का चित्र प्रस्तुत किया है।

सन् १९२९ की आर्थिक मंदी के सम्बन्ध में उसी वर्ष कांग्रेस की महासमिति की बम्बई वाली बैठक में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था जिसमें यह कहा गया था कि इस मंदी के दुष्प्रभाव से बचने का रास्ता यह है कि भारत की [illegible], [illegible] एवं अर्थ व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया जाये और भारत जन-साधारण की

1. दि सा० इ० रि० भाग ३० पृ० ५५८
2. ,, ,, ,, पृ० ५५९ [illegible]

अवस्था के सुधार में और उसके दुख दारिद्रय को दूर करने का योजना वद्ध कार्य-क्रम चलाया जाये।[1] स्पष्ट है, कांग्रेस, देश के आर्थिक ढांचे को कुछ इस रूप में खड़ा करना चाहती थी जिसके अन्तर्गत भारत की सर्वसाधारण जनता के प्रति न्याय हो पाता। कहना नहीं होगा कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस इस आलोच्य माल में जनता के अधिकाधिक निकट आने का उपक्रम कर रही थी। कांग्रेस ने अपने जिस समाजवाद का उच्चार किया उसकी दिशा में उसके कदम पड़ने लग गये थे।

कांग्रेस ने यह जो कदम उठाया उसका कारण सम्भवतः यह था कि भारत की गरीव जनता का शोषण अकेले अंग्रेज नहीं कर रहे थे उनकी छाया में जमींदारों बड़े किसानों और महाजनों की एक विशाल वाहिनी थी जो जोंक की तरह किसानों से चिपक गयी थी।

कर्मभूमि में महंत जी की जमींदारी के किसानों की स्थिति कुछ ऐसी संकटापन्न हो गयी थी कि वे साल में तीन सौ साठ दिन आधे पेट खाकर रहते थे, जाड़े में पुआल में घुस कर रातें काटते थे।[2] प्रेमचन्द ने उन किसानों के सम्वन्ध में यह ठीक ही कहा है कि वे वेवशी में जीते थे और वेवशी में मरते थे।[3] प्रश्न है अन्नदाताओं की यह दशा क्यों हो गयी है? इसी का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने वताया है—"इस साल अनायास जिन्सों का भाव गिर गया। इतना गिर गया जितना चालीस साल पहले था—आठ सेर का गेहूँ डेढ़ रुपये मन में भी मंहगा है। तीस रुपये मन का कपास दस रुपये में जाता है सोलह रुपये मन का सन चार रुपये में।"[4]

किसानों ने अपनी उपज का एक एक दाना वेच दिया, भूसे का भी एक तिनका न रखा फिर भी हालत यह है कि चौथाई लगान से ज्यादा अदा करने की स्थिति उनकी नहीं है।[5]

हमारे देश में अंग्रेजों की अमलदारी में भूमि कर रुपये में वसूला जाता था। आर्थिक मंदी ने रुपये को वहुत महंगा कर दिया। और उसके अनुपात में गल्ला प्रायः मूल्यहीन हो गया। फसल और रुपये में उस कर कीमत का अनुपात अस्त-व्यस्त हो गया। किसानों की दुर्वस्था का यह प्रधान कारण था। इधर जमींदार है जो लगान पर इजाफा लगाता है।[6] उसके कारिन्दे हैं जो दस्तूरी खोजते हैं।[7]

---

१. कांग्रेस का इतिहास १ पृ० २७४
२. कर्मभूमि पृ० २८६-७
३. ,, पृ० २८७
४. ,, ,,
५. कर्मभूमि—पृ० २८७
६. वही ,,
७. वही ,,

पिछले कई वर्षों से भारत के किसानों का ऋण भार सुरसा के मुंह की तरह बढ़ता गया था। बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी के अनुमान के अनुसार भारतीय कृषकों पर सन् १६२६ में प्रायः ८८१ करोड़ रुपयों का ऋण भार था।[१] उस वर्ष फसल से जो आमदनी हुई थी वह अनुमानतः १०१८ करोड़ रुपयों की थी।[२] स्पष्ट है कि ऋण भार को अदा करने के बाद किसानों के पास कुल १३७ करोड़ रुपये बचते थे। परिवार के भरण पोषण लगान की अदायगी और कर्ज की रकम की चुकती इन सबके लिए १०१८ करोड़ रुपयों की यह राशि मरुभूमि में एक बूंद से अधिक नहीं थी। फसल की कीमत ऐसी घट गयी थी कि महंत के किसानों की सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँची थी।[३]

ये किसान लगान नहीं दे पाते और फलस्वरूप अपनी जमीन से बेदखल हो जाते हैं। कानून इस बेदखली का समर्थन करता था या नहीं यह प्रश्न भी उन किसानों के ध्यान में नहीं आता था यह इसलिए कि वे मूर्ख थे न कायदा जानते थे न कानून।[४] भला जो दाने-दाने का मुहताज हो उसको बोलने का साहस भी क्या हो सकता है। भाग्य को रोकर भूखे नंगे रहकर कुत्तों की मौत मर कर वे जमीन जोतते थे और जमीन उनको खाने के लिए दो दाने भी नहीं दे पाती थी।[५]

प्रश्न है फिर वे खेती ही क्यों करते थे ? यही भारत के किसानों की प्रकृतिगत एक दुर्बलता को दिखाने का प्रेमचन्द को एक और अवसर मिल जाता है, भारत का किसान घी दूध नहीं मांगता, मलाई नहीं चाहता खाली आधा सेर मोटा अनाज चाहता है[६] ताकि वह अपनी सूखी ठठरी में प्राण-पखेरू को रोक कर रख सके। किसान होना उसके लिये लाभ का विषय नहीं मरजाद का विषय है। अपने इस मरजाद को निवाहने में वह मिट जाता है लेकिन चिन्ता नहीं करता। कर्ज लेकर हल के बैल खरीदता है इसलिए कि अपनी खेती की आमदनी से तो वह यह नहीं कर सकता। इधर वह मानता है कि वह आदमी ही क्या जो किसान नहीं हो और वह किसान भी क्या जिसके दरवाजे पर दो चार बैल नहीं हो। इस प्रकार दो चार बैल बांध कर अपने को धन्य समझने वाला भारत का किसान कृषि कर्म को 'मरजाद' के लिए अंगी-

१. दि इकानामिक डेवलपमेन्ट आफ इंडिया पृ० ४८८, वेरा आन्स्टे।
२. वही „ „
३. कर्मभूमि—पृ० २७८
४. वही „ २८६
५. वही „ २७८
६. वही „ „

कार करता है।[1] जमीन के प्रति उसके मन में एक विरल व्यामोह होता है। जमीन बाप दादों की निशानी जो ठहरी।[2] 'कर्मभूमि' की सलोनी बाप-दादों की इस निशानी को नहीं छोड़ सकती भले ही खेत पर उसे प्राण दे देने पड़े।[3] सलोनी जानती है कि धरती की फसल उपजाने की शक्ति की भी एक सीमा है। किसानों के आगे यह प्रमुख समस्या नहीं है कि उनको जमीन से वाजिब फसल नहीं आ रही है। समस्या यह है कि धरती सोना नहीं उगल सकती और जब तक धरती सोना न उगले तब तक न तो किसान जमींदार को लगान दे सकता है न उसके कारिन्दों को दस्तूरी, न वे अपने महाजन को संतुष्ट कर सकता है और न पेट की रोटी और तन ढाकने का कपड़ा ही पा सकता है।[4] मुन्नी ने बताया है कि किसान जमा करने के लिए, भोग-विलास के लिए पैसे जुगाकर रखने की साध नहीं पालता। वह इतने से ही संतुष्ट हो जायेगा कि साल भर उसे खाने पहनने को छोड़ दिया जाये। और गृहस्थी का जो खर्च पड़ता है उतना भर उसे दे दिया जाये। इनसे जो बचे जो चाहे ले जाये।[5] लेकिन आर्थिक शोषण के कारण किसान का यह भाग्य कहाँ है कि यह सब हो सके। सरकारी अधिकारी मि० सलीम जब किसानों की आर्थिक-दशा की जाँच करना आरम्भ करता है, उसे अनुभव होता है कि कालेज में उसने अर्थ-शास्त्र विषय में जो कुछ पढ़ा था और उसके प्रमाण पर उसने किसानों की हालत का जो अन्दाज किया था वह सब अधूरा है। व्यर्थ है।[6] किसानों की हालत ऐसी गयी गुजरी है कि वे रोटियों के मुहताज और तन ढंकने के लिए चीथड़ों पर निर्भर तो हैं ही बीमारी में एक पैसे की दवा का भी बन्दोबस्त नहीं कर सकते।[7] सलीम सोचता है कि जिन घरों में दिये भी न जलते हों और जिनके ५-६ वर्ष की उम्र के बच्चे उस छुटपनसे ही मेहनत-मजदूरी करते हों उनसे लगान का तकाजा करना किसी रक्तहीन देह से खून चूसने का अनाचार है।[8] किन्तु, न तो जमींदार न कारिन्दे न महाजन और न सरकार उनकी इस दीन दशा के प्रति थोड़ा भी द्रवित होते

१. कर्मभूमि पृ० २८७
२. वही ,, २९८
३. ,, ,,
४. वही ,, २८९ और ३३४
५. वही पृ० ३३४
६. वही पृ० ३५९
७. ,, ,, ३६०
८. वही ,,

हैं। इससे भूमि-पुत्र लगान न देने और ऋण की रकम का कुछ हिसाब न लगा सकने के कारण अपने पुरखों की निशानी, अपनी धरती माँ, से वेदखल होता जा रहा है। वह अपनी ही जमीन पर किसी बड़े काश्तकार का मजदूर होने के लिए अथवा अपने स्नेह-सम्बन्धियों से वियुक्त होकर शहर में मजदूर होने के लिये निरुपाय विवश हो जाता है।

'कर्मभूमि' में इस सर्वहारा वर्ग ने अमरकान्त और सलीम के नेतृत्व में विद्रोह किया है। सरकार किसानों के प्रश्न पर किस निष्ठा के साथ सोचती थी यह इससे ही प्रत्यक्ष है कि उसने कमिटी का जाल खड़ा कर उनकी समस्या को खटाई में डाल दिया।[1]

किसानों की समस्या को लेकर सन् १९२९ के बाद उत्तर प्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक तथा अन्य स्थानों पर किसान-आन्दोलन खड़े हुए।[2] इन आन्दोलनों के प्रति कांग्रेस की सहानुभूति थी यह इसलिए कि कांग्रेस सत्याग्रह आन्दोलन के इस काल में संगठन की दृष्टि से शोषितों और पीड़ितों की संस्था के रूप में अवतरित हो रही थी। किन्तु, यह अवश्य नहीं है कि सभी किसान-आन्दोलन कांग्रेस के चलाये ही चले।[3] एक बड़ी बात इस युग तक आकर यह हो गयी कि किसानों का एक सुनिश्चित वर्ग उठ कर खड़ा हुआ जिसकी निजी समस्याएँ थीं और उनका हल होना ही चाहिए था। कांग्रेस तो संस्था से अधिक राष्ट्रीय मुक्ति अन्दोलन का एक विशाल रंगमंच थी जिस पर परस्पर भिन्न स्वार्थों के लोग राष्ट्रीय-मुक्ति के एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकत्रित होते थे। कर्मभूमि में अमरकान्त और सलीम एक सी मनस्थिति लेकर किसान आन्दोलन नहीं चलाते।

देश में किसानों के हितों के संरक्षण के लिए किसी स्वन्तत्र संस्था की स्थापना होनी चाहिए यह प्रश्न भी लोगों के सामने खड़ा हुआ। कर्मभूमि के किसान आन्दोलन का जो कुछ महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकलता है उसके अनेक कारणों में एक तो यही है कि उसके समर्थन के लिए कोई बड़ी संस्था नहीं है। योग्य नेतृत्व के अभाव में ऐसे आन्दोलन किसानों का लाभ तो कर नहीं पाते हानि ही पहुँचाते हैं।

इसी भावना ने आगे चल कर अखिल-भारतीय-किसान-कांग्रेस जैसी संस्था का जन्म दिया जिसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में सन् १९३५ में हुआ।[4] यह संस्था

---

१. कर्मभूमि—पृ० ४०४
२. सो० बै० ई० ने०—पृ० १६७ देसाई
३. सो० बै० ई० ने० पृ० १६७ देसाई
४. वही पृ० १६८

अखिल-भारतीय-स्तर पर किसानों की प्रतिनिधि संस्था हुई और इसे कांग्रेस के श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे समाजवादी विचारों के सदस्यों का सहयोग प्राप्त हुआ।

गोदान

सन् १९२९ में संसार में जो आर्थिक मंदी आयी थी उसका प्रभाव सन् १९३६ तक संसार की अर्थ-व्यवस्था के ऊपर पड़ता रहा।[1]

प्रेमचन्द के कर्मभूमि उपन्यास में जिस आर्थिक मंदी का चित्र उमड़ कर आया है। उस चित्र को स्पष्ट करने की चेष्टा पहले की जा चुकी है। गोदान की रचना का पृष्ठाधार भी वही विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी है।

जिसे पारिभाषिक शब्दों में औपन्यासिक संघर्ष कहत हैं वह गोदान में एकदम नहीं है। उस अर्थ में गोदान संघर्षहीन उपन्यास है। किन्तु, इस संघर्षहीन उपन्यास में जीवन-संघर्ष ही प्रस्तुत किया गया है। होरी बेलारी गांव का एक किसान मात्र नहीं है वह सम्पूर्ण कृषक-वर्ग का प्रतीक है। यह होरी नानाविध शोषण के आवर्त्त-जाल में फंसा हुआ है और उसके निकलने के लिये हाथ-पांव पटक रहा है। उसकी दशा उस छोटी सी मछली जैसी है जो किसी बड़े स्थिर तालाब की तह में बड़ी मछलियों के जबड़ों के बीच से भाग कर निकल जाना चाहती है। तीन ऐसे शब्द हैं जो होरी के संदर्भ में गोदान में बार-बार आते हैं। वे हैं—मरजाद, बिरादरी और चिरौरी। गोदान के जिस समाज के बीच होरी रहता है वह विकृत, गलित और दुर्गन्धयुक्त है। लेकिन, होरी उसी समाज की रक्षा में अपनी कुल-मर्यादा के शव की रक्षा में अपनी जान तक दे डालता है। गोदान में ग्रामीण और नागरिक जीवन की दो कथाएँ आती हैं। तदनुसार गोदान के पात्रों के दो वर्ग हैं—ग्रामीण और नागरिक। ग्रामीण पात्रों में शोषक और शोषित के दो वर्ग हैं—दुलारी सहुआइन, दातादीन पंडित, झिंगुरी सिंह, नोखेराम और लाला पटेश्वरी गांव में शोषण का व्यापार चलाते हैं। जिनका शोषण होता है वे हैं—होरी जैसे किसान, ग्वाले और चमार।

नागरिक पात्रों में हैं—प्रोफेसर, वकील, मिल-मालिक, सम्पादक, रईस और डाक्टर। इन दोनों वर्गों के बीच राय साहब अमरपाल सिंह सेतु का काम करता है। गोदान की यह दोनों कथाएँ परस्पर असम्बद्ध हैं अथवा सम्बद्ध इस विषय में विद्वानों

१. दि माडर्न इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया—पृ० ८० आरोकिया स्वामी

के बीच मतभेद रहा है। जैनेन्द्र ने कहा है कि ग्रामीण और नागरिक जीवन दोनों एक नहीं हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने बताया है कि शहर के फ्लेटनुमा मकानों में जैसे दो परिवार एक दूसरे के हर्ष-विषाद से सर्वथा निरपेक्ष होकर रहते हैं वैसी ही गोदान के इन दोनों कथानकों की दशा है।

दूसरी ओर स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा जैसे आलोचकों का मत है कि ये दोनों ही कथाएँ परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं।[1] प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए इस प्रश्न के ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझी जायेगी। हमारे लिए यही पर्याप्त है कि प्रेमचन्द ने ग्रामीण और नागरिक दोनों ही प्रकार के लोक-जीवन को अपने सामने रख कर यह दिखलाया है कि समयुगीन परिस्थितियों का प्रति-फलन लोक-समाज में किस रूप में हुआ था। प्रस्तुत परिच्छेद में हम यह देखेंगे कि नये आर्थिक परिवेश में हमारी पुरानी दुनिया किस तरह टूटती जा रही थी और एक नया संसार उठ कर खड़ा हो रहा था।

प्रेमाश्रम की रचना करते समय प्रेमचन्द ने यह आशा लगायी थी कि जमींदार समय के लिपि चिह्न को समय रहते पहचान लेंगे। वे उनके आगे माया शंकर का आदर्श रखते हैं और उनसे प्रस्ताव करते हैं कि वे किसानों की रक्षा करें और इस उत्तरदायित्व-वहन के बदले में लगान पावें। किन्तु, जमीन तो उसकी ही होती है जो उसकी सेवा करता है। उसके अलावा अगर किसी दूसरे की वह हो सकती है तो वह एक परमात्मा ही है जिसने उसका सर्जन किया है। जमींदार का जमीन पर कोई अधिकार प्रेमचन्द स्वीकार नहीं कर पाते। लेकिन, जिस मुह को लहू का स्वाद मिल जाता है वह मुंह के ऊपर जाबी लगा कर रहे अथवा घास-पात खाये यह होता नहीं है। इसी से प्रेमचन्द जमींदारों से निराश हो जाते हैं।

किसानों के दैन्य के सम्बन्ध में देश का शासक वर्ग बेपरवाह है। हमने पहले यह बताया ही है कि सरकार को जमींदारों के द्वारा निश्चित तिथि और स्थान पर भूमि-कर की निश्चित राशि प्राप्त हो जाती थी। उसका काम बेखटके चलता था फिर वह किसानों की विपन्नता के विषय में चिन्ता कर अपनी देह क्यों गलाये? किसानों की ओर से जब आन्दोलनों का जोर बढ़ता है तो सरकार जांच-कमिटी बना कर मामले को टालना जानती ही है। कर्मभूमि में सरकार की इस नीति की प्रस्तुति प्रेमचन्द ने की है।

प्रथम महायुद्ध-काल और युद्धोत्तर-काल में भारत के व्यावसायिकों को पूंजी खड़ी कर धनी बनने का अवसर मिला था। देशी उद्योग-धंधे के नाम पर वाणिज्य-

---

१. आलोचना—इतिहास विशेषांक—

व्यापार के क्षेत्र में ब्रिटिश पूँजीपतियों के मुकाबले खड़े होकर और अधिक पैसा बनाने की चाह देश के इन धनियों के हृदय में उत्पन्न हो चुकी थी। कुटीर-आन्दोलन से उन को संतोष नहीं हो सकता था। रंगभूमि के जान सेवक के रूप में इस प्रवृत्ति को प्रेमचन्द ने पहचाना है।

प्रेमचन्द ने यह देखा था कि दुनिया में महाजनों ने राज्य खड़ा कर लिया है। मनुष्य-समाज दो भागों में बँट गया—बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का दूसरा अपेक्षाकृत वहुत ही छोटा है लेकिन, वह अपनी शक्ति और प्रभाव से दूसरों को अपने नाथ में नाथे हुए हैं। बड़े वर्ग के जीवन की चरितार्थता इसी में है कि वह समाज के थोड़े से लोगों के लिये पसीना वहाये खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से चल दे।[1] स्पष्ट है, प्रेमचन्द संसार में दो ही वर्गों की कल्पना इस क्रम में करते थे—शोषक और शोषित।

प्रेमचन्द को इस वात का दुख है कि शासक वर्ग के विचार और सिद्धांत-शासित वर्ग के भीतर भी समा गये हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि हर आदमी अपनी थैली गरम करने की चिन्ता में दुबला होता जा रहा है। हर आदमी अपने को समाज से अलग निकाल कर शोषण कर रहा है।[2] इस प्रकार जो मुसीबत में पड़े हुए हैं, लुट रहे हैं और शायद मिट भी रहे हैं वे भी मौक देख कर किसी दूसरे गरीब के खून का एक कतरा चूस लेते हैं। पूँजीवाद का यह व्यापक प्रसार सचमुच एक बड़ा खतरा है।

प्रेमचन्द देख रहे थे कि अंग्रेज सरकार के पांव लड़खड़ा उठे हैं। शायद एक जवर्दस्त धक्का लगेगा और यह राज्य लड़खड़ा कर गिर पड़ेगा। अंग्रेजों के साम्राज्य-वाद के नाश के साथ-साथ ब्रिटिश-पूँजीवाद भी भारत से विदा हो जायेगा। जमींदारों का कुख्यात वर्ग भी अपने आका के भूलुंठित होते ही नष्ट हो जायेगा। यह वर्ग प्रायः नष्ट हो चुका है गोदान का राय साहब अमरपाल सिंह इस विषय में कहता ही है—वस, हमारी दशा उन वच्चों की सी है जिन्हें चम्मच से दूध पिला कर पाला जाता है, वाहर से मोटे अन्दर से दुर्वल सत्वहीन और मुंहताज। मुफ्तखोरी ने इस वर्ग को ऐसा अपंग वना दिया है कि उसे अपने पुरुषार्थ पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं रह गया है।[3] यह राय साहव तो कभी-कभी यह भी सोचता है कि अगर सरकार उसके

---

१. महाजनी सभ्यता—प्रेमचन्द-हंस (शांति संस्कृति अंक, वर्ष २२ अंक ६-७ पृ० ६)
२. महाजनी सभ्यता प्रेमचन्द—हंस (शान्ति संस्कृति अंक, वर्ष २२ अंक ६-७ पृ० ६)
३. गोदान—पृ० १६

इलाके छीन कर उसे अपनी रोजी के लिए मेहनत करना सिखा दे तो उस पर यह महान उपकार हो।[1] राय साहब के इस कथन में सचाई हो या न हो इतना तो ठीक है कि उसने यह सही ही समझा है कि देश में ऐसे लक्षण प्रकट हुए हैं जिनसे मालूम होता है कि जमींदारों की हस्ती अब मिट जाने वाली है। राय साहब यह भी जानता है कि सरकार भी अब उसकी रक्षा बहुत दिन नहीं कर सकेगी।[2] अस्तु, प्रेमचन्द के विचार से जमींदार अब खतरे का कारण या तो रह नहीं गया है अथवा यह वर्ग विनाशोन्मुख है, शक्तिहीन है। इसलिए इसकी बहुत चिन्ता अब करनी नहीं है।

असली खतरा तो अब पूँजीवाद से है। देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ भारतीय उद्योगपतियों ने अपना सम्बन्ध जोड़ा था। स्वदेशी आन्दोलन से इस वर्ग का हित-साधन हो ही रहा था। मुसीबत यह थी कि शोषकों के इस वर्ग के शरीर पर आवरण-स्वरूप थी राष्ट्रीयता की राम-नामा चादर।

महाजनोंकीयह नयी सभ्यता पुराने आदर्शों पुरानी मान्यताओं को एक-एक कर नष्ट करती जा रही थी। इस युग तक आकर पैसा ही भगवान हो गया था। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है चाहे दिल का वह कितना ही काला क्यों न हो? सबसे दुखद बात तो यह हो गयी थी कि इस सभ्यता ने आदमी के दिलो-दिमाग पर कब्जा जमा लिया था और आदमी अपनी आदमीयत को खो कर, दया, माया, ममता से रहित हो कर इस सभ्यता के प्रतीक चिह्न मशीन की तरह ही जड़-यांत्रिक हो गया। इस सभ्यता ने सेवा के भाव को ही समाप्त कर दिया है। उसके बदले में खड़ा हुआ है व्यवसाय और फिर व्यवसाय में दोस्ती, मरौवत, इंसानियत आदि के लिए जगह नहीं रहती। प्रेमचन्द ने इस व्यवसाय-कृति को सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु बताया है। वे लिखते हैं—मियाँ-बीवी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरू-शिष्य में बिजनेस। सारे मानवी, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है, तो बिजनेस का।[3]

गोदान में प्रेमचन्द ने इसी महाजनी सभ्यता के खतरे के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रेमाश्रम में ही रायसाहब कमलानन्द के माध्यम से भारी उद्योग-धंधों के प्रति प्रेमचन्द के विचार हमें मिल चुके हैं। गोदान में औद्योगिक विकास के साथ महाजनी सभ्यता ने अपना जो आल-जाल फैलाया है उसके दुष्परिणामों की ओर भी प्रेमचन्द ने संकेत किया है।

---

१. गोदान—पृ० १६

२. वही ,,

३. महाजनी सभ्यता—हंस (शान्ति संस्कृति अंक, वर्ष २२, अंक ६-७ पृ० ६)

गोदान में जिस ग्रामीण जीवन का चित्रण हुआ है उसकी समस्याएँ वे ही हैं जो प्रेमाश्रम अथवा कर्मभूमि में वर्णित किसान वर्ग की समस्याएँ हैं।

पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ व्यक्ति-चेतना को इतना कुछ महत्व मिल जाता है कि संयुक्त परिवार की संस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है। देहातों में पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु, वहाँ भी अलग्योझे की समस्या खड़ी हो गयी है। बात यह है कि भूमि पर आश्रितों का संख्या-भार बढ़ता जा रहा था और शोषकों के शोषण के कारण दोनों जून रोटी का भी हिसाब नहीं रह गया था अर्थात जीवन-संघर्ष बढ़ गया था। ऐसी स्थिति में स्नेह-सौहार्द्र के भाव को टूटना ही था। इस स्थिति में कुल दो पीढ़ियों में इतना अन्तर आ गया कि उसे समझ पाना भी कठिन हो गया। होरी के भाई और शोभा होरी के सम्मिलित कुटुम्ब से अलग हो कर रहते हैं। हीरा ने द्वेषवश होरी की गाय को माहुर खिला कर मार दिया है। लेकिन जब पुलिस का दरोगा हीरा की अनुपस्थिति में हीरा के घर की तलाशी लेना चाहता है तो होरी की सांस तले-ऊपर होने लगी।[१] वह निश्चय करता है कि उसके जीते-जी उसके भाई के घर तलाशी न होने पायेगी।[२] इस प्रकार होरी कुल-मर्यादा के निर्वाह के लिए अर्थ-दण्ड भी सह लेता है और जब धनिया आपत्ति करती है, विरोध करती है तो वह उसको बेरहमी के साथ पीटता भी है।[3] होरी जैसा धर्मभीरु व्यक्ति अपने कुल की इस मरजाद की रक्षा के लिए अपने बेटे के सिर पर हाथ रखकर झूठी कसम तक खा जाता है।[४] उसी के बेटा गोबर की प्रवृत्ति ऐसी बदल गयी है कि वह निस्संकोच अपनी माँ से कहता है—तुम भी चाहती हो और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा करज चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ। मेरी जिन्दगी जैसे तुम्हारा देना भरने ही के लिए हो। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।[५] स्पष्ट है हमारे समाज के नाते-रिश्ते टूट रहे हैं और इसके लिए उत्तरदायी है वह महाजनी सभ्यता जो व्यक्ति को समाज से अलग हट कर अपने में केन्द्रित कर देती है।

आर्थिक मंदी और अकाल ने भारतीय किसानों को कर्ज़ पर निर्भर बना दिया है। जीवन यापन विषयक इतनी कठिनाइयां उत्पन्न हो गयी थीं कि किसान कर्जखोर बनने के लिए विवश था। संयुक्त परिवार के नष्ट होने से संयुक्त सम्पत्ति पर भी प्रभाव

---

१. गोदान पृ० ११५
२. वही ,, ,,
३. ,, ,, ,,
४. ,, पृ० ११३
५. ,, पृ० २२८

पड़ा और अलग्योझे ने किसानों के खेतों को टुकड़े-टुकड़े में बांट दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि फसल उगाने का खर्च बढ़ गया और जमीन की उर्वरा शक्ति घट गयी। किसान अपनी फसल के दाने-दाने देकर भी न तो मालिक को सन्तुष्ट कर पाता था न महाजन को। मालिक को किसान की दिक्कतों से कोई वास्ता नहीं रह गया था। जमींदारी की संस्था का मानवीय गुण भी लुप्त होने लगा था। इतिहास के उदार सामन्तों का स्थान जिन लोगों ने ग्रहण किया था उनमें उदारता नहीं रह गयी थी। वे अपने असामी को पूत-प्रजा नहीं समझ रहे थे। गनीमत है कि जमींदार एक है और वह प्रायः गलित नख दन्त हो गया है। यह इससे प्रमाणित है कि राय साहब को धनुष-यज्ञ का खर्च किसानों से वसूलते समय होरी की चिरौरी करनी पड़ती है। उसके आगे अपनी मुसीबतों का ब्योरा प्रस्तुत कर उसकी सहानुभूति अपनी ओर खींचने की कोशिश करनी पड़ती है।[1]

होरी का शोषण जिस वर्ग से मुख्यतया हो रहा है वह है महाजनों का वर्ग। महाजनों के भिन्न रूप हैं और उनकी संख्या भी बड़ी है। गांव में लाला पटेश्वरी पं० दातादीन झिंगुरी सिंह और नोखेराम जैसे थोड़े से पैसे वाले लोग हैं जो एक के बाद दूसरा षड्यंत्र रचते हैं। कभी किसी किसान को मुकदमे में फंसा देता है[2], कभी कोई झगड़ा-फसाद खड़ा करते हैं और कभी किसी मर्यादा का अतिक्रमण होने पर दण्ड-विधान करने वाले पंच बन जाते हैं।[3] इनका एक ही उद्देश्य है—कृषकों को वे कर्ज लेने के लिए बाध्य कर और कड़ी दर पर उन्हें कर्ज दें। गांव की प्रचलित अर्थव्यवस्था इसी धुरी के चारों ओर चक्कर मारती है किसी न किसी प्रकार खेत वाले छोटे किसानों को कर्ज लेने के लिए मजबूर कर दिया जाये और फिर कर्ज की अदायगी में उन्हें किसान से भूमि-हीन मजदूर बना दिया जाये। पीड़ा की बात तो यह है कि ऐसा किसान सबसे पहले अपनी ही बपौती जमीन पर मजदूर बनता है। होरी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।[4]

दरिद्रता और बेबसी पिता के वात्सल्य को भी क्षत्-विक्षत् करती जा रही है। तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद होरी परास्त होता है। और ऐसा परास्त होता है मानो उसे नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो भी आता है उसके मुंह पर थूक जाता है। यह स्थिति उसके जीवन में तब आती है जब वह

---

१. गोदान पृ० १७-१८

२. गोदान पृ० १२६

३. गोदान पृ० १२९

४. वही पृ० २०६

अपनी लाड़ली बेटी रूपा का विवाह बूढ़े विधुर के साथ बदले में सौ-सौ के दो नोट लेकर कर देता है।[1] कुल दो सौ रुपये पिता के वात्सल्य को मार देते हैं और मर-जाद वाले किसान के आत्म-सम्मान को भी नष्ट कर देते हैं।

गोदान में इस प्रकार मुमूर्षु होकर किसान गिर पड़ता है और शोषक महाजन उसे घेर कर बैठ जाते हैं।

गोदान में नागरिक जीवन की जो कथा आयी है उसके पात्र होरी की तरह विपन्न नहीं हैं · इससे जीवन-यापन विषयक इनकी कोई समस्या नहीं है। बुद्धिजीवी मेहता अकेली जान पर आठ सौ रुपये महीना खर्च करता है।[2] फिर इन पात्रों को समाज का कोई भय भी नहीं है। नगर में व्यक्तिवाद का प्राधान्य है। महाजनी सभ्यता ने पैसे के नाते इन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर रखा है। हाँ, एक बात है कि इनके नाते में हार्दिकता नहीं है, स्नेह नहीं है। ये एक दूसरे के लिए मरना नहीं जानते। इनके पारिवारिक जीवन की जो स्थिति है वह खन्ना-दम्पति के प्रमाण पर स्पष्ट है।[3]

शहर के ये लोग पैसे को भगवान समझते हैं। मालती के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने ठीक ही कहा है कि वह हँसती है इसलिए कि उसे इसके लिए दाम मिलते हैं।[4] मालती नगर में तितली बन कर फुदकने के लिए इसलिए विवश है कि उसे अपने परि-वार का भरण-पोषण एक निश्चित स्तर पर करना है। खन्ना है जो हवा से पैसा बना लेने का अभ्यासी है। एक रुपये की देहाती जड़ी-बूटी खरीद कर वह मोटी रकम बनाने का प्रबन्ध कर लेता है।[5]

सम्पादक ओंकारनाथ को जमींदार राय साहब रिश्वत देता है और उम्मीद करता है कि ओंकारनाथ उसके मामले में अपना मुँह बन्द रखे।[6]

जमींदार राय साहब और पूँजीपति खन्ना के इर्द-गिर्द कई व्यक्ति चक्कर काटते हैं। उनमें कुछ ऐसे हैं जो अपनी गरज लेकर आये हैं और दूसरे वे हैं जो इनकी संगति के सुख के आकांक्षी हैं। तंखा और मिर्जा इन दोनों वर्गों के क्रमशः उदाहरण हैं। यही वह नया समाज है जो गाँव में घुस-पैठ कर गाँव की सात्विकता को विनष्ट

---

१. गोदान—पृ० ३५८
२. ,, ,, ५८
३. ,, ,, १६१
४. ,, ,, १५६
५. ,, ,, ६४-६५
६. ,, ,, १७५

कर रहा है। जीवन भर ऋण का बोझ ढोकर मरने वाले होरी का एक दुर्भाग्य यह भी है कि उसका बेटा गोबर शहर में रहकर उधार-बट्टा करता है।[1]

प्रेमाश्रम के कमलाकान्त को अथवा रंगभूमि के सूरदास को महाजनी सभ्यता के इस बढ़ते हुए वेग के विरुद्ध जाने के लिए जिन कारणों ने प्रेरित किया वे गोदान में स्पष्ट हो जाते हैं। खन्ना ने किसानों की ऊख तौलने के लिए जिन लोगों को नियुक्त कर रखा है उनके पास नकली बाट हैं।[2] इस प्रकार किसानों को अपने कच्चे माल की वाजिब से कम कीमत मिलती है और उनका शोषण होता है।

बेलारी के किसान मि० खन्ना के दलालों के बहकावे में आकर अपनी जमीन की खड़ी ऊख बेच देते हैं।[3] दाम कम मिल रहा है लेकिन उनको उसकी बहुत परवाह नहीं है इसलिए कि मिल से दाम नकद मिल रहे हैं किसानों में किसी को बैल लेना है, किसी को महाजन से गला छुड़ाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि गुड़ के भाव मिल की चीनी मिलेगी तो गुड़ लेगा ही कौन ?[4] किसान अपने जिस फायदे का ख्याल कर मिल को अपनी ऊख दे देते हैं वह फायदा उन्हें महाजनों के कारण मिल कहाँ पाता है ?[5] गाँव के प्रायः सभी किसान झिंगुरी सिंह के रिनियां हैं[6] और यह झिंगुरी सिंह बड़ा चालबाज है। होरी अपने साथियों को समझाते हुए कहता है हम जाल में फँसे हुए हैं। जितना फड़फड़ाओगे, उतना ही और जकड़ते जाओगे।[7]

औद्योगिक विकास के साथ-साथ कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का एक निश्चित वर्ग बनता जा रहा था। शोषक पूंजीपतियों और शोषित मजदूरों का वर्ग-संघर्ष भी खड़ा होने लग गया था। सरकार जब उद्योगपतियों के हित के विरुद्ध कोई कदम उठाती तो उद्योगपति अपना घाटा मजदूरों की मजूरी में कटौती कर पूरा करते। इस प्रकार संघर्ष का वातावरण खड़ा हो जाता था। गोदान में भी खन्ना की मिल में मजदूरों के वेतन घटाने के कारण हड़ताल होती है।[8]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हमारी आर्थिक व्यवस्था के नये मोड़ से

---

१. गोदान—पृ० २०३
२. ,, ,, २६५
३. ,, ,, १८४
४. ,, ,, १८४
५. ,, ,, १८५
६. ,, ,, १८५
७. ,, ,, १८५
८. ,, ,, २६१

सम्पूर्ण समाज-वर्ग-व्यवस्था को ही उलट-पुलट दिया था। पूँजीवादी सभ्यता का असर हमारे देश पर अच्छा नहीं पड़ रहा था। हमारी वे विशेषताएँ जिनके कारण दूसरों का ध्यान हमारी ओर खिंच कर आता है एक-एक कर इस पूँजीवादी सभ्यता के बवंडर में उड़ने लगीं।

जिस समय देश में एका की जरूरत थी उस समय वर्ग-संघर्ष के कारण विभाजन की प्रवृत्ति को ही बल मिला। इस सभ्यता की सबसे बड़ी बुराई यह है कि वह भारत के गाँवों को बर्बाद कर रही है। यदि अंग्रेज सरकार भारत को भौतिक, नैतिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से नष्ट कर रही थी तो महाजनी सभ्यता ने भी हमारी सभी प्रकार की अच्छाइयों को दूर भगाना आरम्भ किया।





निष्कर्ष और समापन



मौलिक और अनूदित सामाजिक, रोमांस-प्रधान, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों की विशाल राशि की पृष्ठभूमि में सेवासदन का प्रकाशन, कुछ-कुछ वैसा ही था जैसे कि बाजे-गाजे के बीच विवाह-मंडप में पाणिग्रहण के लिए प्रस्तुत बने-ठने दुलहे का रेशमी पीतांबर हटा कर किसी ने उसकी छाती पर के कोढ़ के चकत्ते पर उंगली रख दी हो। सेवासदन से हिन्दी उपन्यास-साहित्य में ही नहीं, भारतीय उपन्यास साहित्य में सामूहिक और सामाजिक चेतना की, और सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण की एक नयी परम्परा स्थापित होती है, यहाँ से हिन्दी उपन्यास आधुनिक अर्थवत्ता प्राप्त कर लेता है।

प्रेमचन्द ने जिस समय अपना साहित्यिक कार्य आरम्भ किया, उस समय हिन्दी साहित्य में परम्परागत रूढ़ियों, मुर्दा रीति-रिवाजों और सामाजिक संस्कारों के प्रति विरोध का, मुक्त और सुखद वातावरण में साँस लेने की आकांक्षा का तथा व्यक्तिगत सम्मान और राष्ट्रीय गौरव की तीव्र भावना का थोड़ा बहुत आभास तो मिलने लगा था, पर आग्रह के साथ जीवन की वास्तविकताओं के निकट आने तथा आज की अंधकारपूर्ण अवस्था से मुक्त होकर एक नये समाज के लिए कटिबद्ध होने की अडिग आकांक्षा—यानी, कष्ट एवं यातनाएँ भोगने वाले संसार की छटपटाती सजग आत्मा की ही अभिव्यक्ति—उस रूप में उभर कर नहीं आयी थी, जिस रूप में कि यह सेवा-सदन में उभरी। पहले ये तत्व वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं से ही उद्भूत क्रमहीन और अन्विति-शून्य थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में व्यवस्था के प्रति सिर्फ व्यक्ति ही अपनी छिटपुट प्रतिक्रिया नहीं करता, बल्कि पूरा समाज ही अपनी अनवरत-अप्रतिहत तथा क्रमशः सघनतर प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति, प्रेमचन्द में बहुत कुछ मौन है, वह प्रतीक बनकर आने लगता है। यहाँ प्रतिक्रिया का धरातल पूरी की पूरी व्यवस्था है। उनके यहाँ विचित्र घटनाएँ नहीं होतीं, असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन-कथा होते हैं जिनमें हम नायक और नायिकाओं को भिन्न-भिन्न, पर रोज आने वाली परिस्थितियों में, सुख और दुःख, द्वेष और मैत्री, निन्दा-

प्रशंसा, त्याग-स्वार्थ के बीच से गुजरते हुए देखते हैं—उसी तरह जैसे हम स्वयं उन्हीं अवस्थाओं, आंतरिक और वाह्य स्थितियों और क्राइसिसों में होकर गुजर रहे हों। वह उछल-कूद, वह तोड़-मरोड़, गर्जन-तर्जन, कृत्रिम गुलकारी, बाजार में बिकने वाली सजावट, नवीनता पैदा करने का वह सचेष्ट प्रयत्न नहीं है जो अकसर विलास और मनोरंजन की वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कथाकार किया करते हैं। उनकी कथाओं का उद्देश्य मनोरहस्य और वाह्य सामाजिक और आर्थिक संघर्षों के अतल में वहने वाले स्रोतों को समझाना है—देश के राष्ट्रीय जीवन में रिसने वाली वेदना के ज्ञात-अज्ञात फफोलों को आश्वस्त चितवन से दिखलाते हुए पीड़ित, शोषित और दलित भारतीय मानव के विद्रोही आत्म-गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखना है। कथा और पात्र का यह सांस्कृतिक और जन-जीवन की कर्मभूमि पर स्थित साहित्यिक साधारणीकरण, हिन्दी को ही नहीं, समस्त भारतीय कथा साहित्य को प्रेमचन्द की अप्रतिम देन है।

वर्नर्ड शा ने शाश्वत साहित्य के प्रेमपरक रूप पर कशाघात करते हुए जब यह घोषणा की थी कि—

"The man who writes about himself and his own time is the only man who writes about all people and about all time."

तो निश्चयात्मक रूप से यही सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि सच्चा साहित्यकार समय का सपूत ही हुआ करता है। और समय-देवता के अनन्त हाथ और पैर हैं—वह अनन्त काल से, अनन्त प्रणालियों से, अनन्त रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त करता है और हमारे लिए उसके समस्त क्रिया-कलापों का प्रतिफल है हमारा जीवन, हमारा समाज, हमारी वास्तविकताएँ। प्रेमचन्द का उपन्यास-साहित्य एक वाक्य में समय-देवता के इसी महानृत्य से व्युत्पन्न हमारे सामाजिक संघर्ष का साहित्य है, वह सम-सामयिक भारतीय जीवन के विविध चित्रों का क्रमबद्ध नियोजित अलबम है। उभड़ती हुई पूँजीवादी सभ्यता, उसका नगर-जीवन पर प्रलंब प्रभाव तथा ग्रामीण जीवन पर तिर्यक् प्रभाव—प्रेमचन्द का यही कथा-क्षेत्र है। उनका आविर्भाव-काल भारतीय जीवन की जटिलता का काल है, असंगतियों का युग है, जिसका उन्होंने पूर्ण लाभ उठाया है। इसीलिए हम उनकी प्रतिभा को आदर्श से यथार्थ की ओर सतत गतिशील पाते हैं। सेवासदन में वे जिस आस्था को लेकर आये थे, गोदान तक आते-आते उनके निजी जीवन और साहित्य के संदर्भ में हम उसे शत-शत खंडों में चूर्ण होते हुए पाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर लगता है कि सेवासदन, निर्मला और प्रतिज्ञा उपन्यासों के पात्र शुद्ध रूप में मध्य वर्गीय हैं, इनका कथांचल एकान्तिक रूप से नगर है, इनकी समस्यायें एकोन्मुख और केन्द्रित हैं। इन

उपन्यासों में प्रेमचन्द एक-एक कर उन दुखती रगों को टटोलते नजर आते हैं, जिनका अनुगमन कर वे मर्म के उस व्रण तक पहुँच जायें जिसके चलते यह सारा समाज और जीवन ऐंठ-ऐंठ कर, सिकुड़-सिकुड़ कर छटपटा रहा है।

गबन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि और रंगभूमि में समस्याएँ वृहत्तर फलक पर उपस्थित की गयी हैं। जैसे प्रेमचन्द की अभिनव-पूँजी विस्तार पा रही हो। अब पारिवारिक असंगतियों के साथ व्यवस्था की असंगतियाँ अधिक स्पष्ट होकर उभड़ने लगती हैं। पुलिस का षड्यन्त्र, भारत का राजनीतिक परिवेश, स्वतन्त्रता की आकांक्षा, परतन्त्रता की कसमसाहट आदि ऐसे तत्व हैं जो गबन में स्पष्ट होकर कर्मभूमि तक स्पष्टतर होते चले जाते हैं। प्रेमाश्रम और कर्मभूमि में वे नगर के साथ गाँव की ओर भी ध्यान देते हैं, और तब राजतन्त्र एवं अर्थतन्त्र की व्यापक विभीषिका तथा उसके प्रति विद्रोह का स्वर तीव्रता से उभड़ता है। रंगभूमि में यह पहचान बड़े गहरे रूप में प्रकट होती है और जॉन सेवक जैसे व्यक्ति के आचरणों से प्रेमचन्द के मन में निराशा की एक पतली पर बड़ी गहरी रेखा का उदय हो जाता है।

गोदान में किसान-जमींदार, मालिक-मजदूर, नवीन-पुरातन आदि समय-देवता के महानृत्य के न जाने कितने सम-विषम पगचापों को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के नीचे देशी पूँजीवाद का विकास और शोषण प्रक्रिया एवं लगान वसूली तक ही अपने आपको सीमित कर देने वाली तथा समाज की मूल उत्पादन-शक्ति पर ही कुंडली मार कर बैठी रहने वाली जमींदारी प्रथा आदि के चलते सलामी, बेगार, लगान, टैक्स और ऋण भरने के बाद जनता के पास कानी कौड़ी भी नहीं बचती। गाँव की अर्थनीति में जमींदार के साथ महाजन, महाजन के साथ व्यापारी, व्यापारी के साथ पटवारी, पटवारी के साथ पुरोहित; नगर की अर्थनीति में जमींदार के साथ सरकार, सरकार के साथ मिल-मालिक, मिल-मालिक के साथ पुलिस—चक्र में चक्र—एक ऐसा भयंकर चक्रव्यूह जिससे त्राण पाना असंभव है। गोदान इसी चक्रव्यूह में पिसती रहने वाली जनता की अवस्थाओं, संस्कारों और परिणामों की मर्मस्पर्शी गाथा है। प्रेमचन्द की भावना एक क्षण के लिए भी समय-देवता से विमुख नहीं हुई, एक पल के लिए भी समाज-निरपेक्ष नहीं हुई। समाज के सारे आन्दोलन और हलचलों, असंगतियों और विरोधों का प्रतिबिम्ब उनके उपन्यासों में अत्यन्त शांत, संयत और आत्म-प्रच्छन्न रूप में पड़ा है। सामाजिक परिस्थितियों में उलझे हुए मानव के धार्मिक, आर्थिक और नैतिक विचार कैसे बनते-बिगड़ते हैं, यह प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है और नाच उठता है हमारी आँखों के सामने वह भीषण महाभारत जो लगभग चार दशाब्दियों

तक इस राष्ट्र के पोर-पोर को कसता-ऐंठता रहा था और जो कुछ नहीं, समय देवता के महानृत्य की एक तल्ख थाप भर था।

प्रेमचन्द बड़ी सचाई के साथ समझा रहे थे कि सामयिक सत्य के द्वारा ही—उसके दुराव से नहीं—सामाजिक सत्य की शाश्वत उपलब्धि होती है।

उपन्यास की परिभाषा देते हुए प्रसिद्ध आलोचक Ralfh Fox ने लिखा है :—
" The novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life, the finest art to attempt to take the whole man and give him impression." नदी है, नदी में प्रवाह है, प्रवाह में अंतर्विरोध है, अंतर्विरोध में आवर्त है, आवर्त में आवर्त है। आवर्त के साथ नाच रहा है एक तिनका—घूम-घूम कर, ऊब-डूब कर और तब या तो लहर का कोई जबर्दस्त थपेड़ा उसे धक्का मार कर आवर्त की कुंडली से मुक्त कर देता है, नहीं तो वह डूब जाता है, उसी का अविभाज्य अंग बन जाता है। जिस प्रकार तिनके के इस क्रिया-कलाप और परिणति से ही हम आवर्त के वेग, वेग के विघूर्णन की गति और गति की शक्ति से अवगत होते हैं, उसी प्रकार उपन्यासों में हम पात्रों के क्रिया-कलाप और परिणति से चलकर मूल की उस समय-शक्ति तक पहुँच जाते हैं जो अनन्त महासत्ता का स्पन्दन है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैंने प्रेमचन्द के उपन्यासों की कथाओं और पात्रों की गति-परिणति के पीछे के उन्हीं स्पन्दनों को स्पष्ट करने का एक विनीत प्रयास भर किया है। मेरा निष्कर्ष है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों के सभी पात्र तथा कथावस्तु लेखक द्वारा आकलित किसी न किसी रूप में समसामयिक राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आदि विशिष्ट परिस्थितियों के ही प्रतिफल हैं। उनके माध्यम से प्रेमचन्द ने यह सिद्ध किया है कि जिस समय को वे जी रहे थे, उसे वे अपनी समझ के अनुसार पूरी सजगता, भावप्रवणता और ईमानदारी के साथ जी रहे थे। प्रेमचन्द का प्रयोगधर्मी कलाकार समय के प्रति सतत सचेष्ट और जागरूक रहा था और यही कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तक के काल के लिए उनका उपन्यास-साहित्य भारतीय जीवन का सबसे बड़ा और सबसे प्रामाणिक कोश है।

आकर साहित्य

ENGLISH BOOKS

1. A Sketch of the history of India—Henry Dodwell, 1925.
2. A Century of social reforms in India—S. Natrajan, 1959.
3. British Paramounty and Indian Renaissance—R. C. Mazumdar, Vol, X, 1963; Vol-IX. 1963.
4. Class Struggle—J. B. Kriplani, 1958.
5. Congress Presidential Address.
6. Contribution to Economic History—Ed. Tapan Roy Choudhary, 1960.
7. Declaration of American President.—Woodrow Wilson.
8. Evolution of Agrarian Relation in India—Bhowani Sen, 1962.
9. History of the Indian Association—J. C. Bagal, 1963.
10. History of freedom movement in India—R. C. Mazumdar.
11. Glimpses of Bengal in the 19th Century—R. C. Mazumdar, 1960.
12. India To-day—R. P. Dutta, 1947.
13. India through the Ages—Dr. Jadunath Sarkar, 1928.
14. Modern religious movement in India–J. N. Farquhar. 1929.
15. Nineteenth Century Bengal—Pradeb Sinha, 1965.
16. Our Economic Problem—Wadia and Merchant. 1956.
17. Premchand—Madan Gopal. 1944.
18. Raja Rammohan Roy and progressive movement in India—(1775-1835)-1941.
19. Renaissance of Hinduism—D. S. Sharma.

20. Recent Political thought—P. W. Cokor.
21. Renaissance, Nationalism and Social Changes in Modern India—K. K. Dutta, 1965.
22. Rise and Growth of Indian Liberalism—M. A. Buch.
23. Social background of Indian Nationalism—A. R. Desai.
24. Selections from the Indian Journals—Vol. II (1965)
25. Studies in the Bengal Renaissance—Atul Chandra Gupta, 1958.
26. The position of women in Hindu Civilisation—Dr. A. S. Altekar, 1956.
27. The Story of Integration of the Indian States—V. P. Menon, 1956.
28. The Modern Economic History of India—M. Arokia swami & T. M. Royappa, 1957.
29. The Social Renaissance in India—K. C. Vyasa, 1957.
30. The Story of Indian Civilisation—C. E. M. Joad. 1936.
31. Tha Novel and the People—Ralf Fox, 1956.
32. The Economic Development of India—Vera Anstey, 1946.
33. The Depressed Classes : Their Economic and Social Condition.—Mohinder Singh, 1947.
34. The Speeches and writings of Gopal Krishna Gokhle—Vol. I Eco. Edition—R. P. Pattawardhan & D. V. Ambekar.
35. The Arya Samaz—Lala Lazpat Ray, 1932.
36. The Last Years of British India—Michel Edwards, 1963.
37. The Indian National Movement—Nimai Sadhan Bose. 1965.
38. The Indian Struggle—Subhash Chandra Bose.
39. The Spirit of Indian Nationalizm—B. C. Pal.
40. The Indian Industrial Revolution—D. R. Gadgil.
41. Thd Indian Middle Classes (Their Growth in Modern times)—B. B. Mishra. 1930.
42. The History of Freedom Movement—R. C. Mazumdar, 1963.
43. Women in the working force in India—D. R. Gadgil. 1964.

हिन्दी

१. अछूत कौन और कैसे ? :—डा० भीमराव अम्बेडकर (अनुवाद : आनन्द कौसल्यायन) : १९४९

२. आधुनिक कथा साहित्य तथा मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय : १९५६

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० श्रीकृष्णलाल : १९५२

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : (१७५७-१८५७) : १९५२

५. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : (१८५०-१९००) : १९४८

६. आर्य समाज का इतिहास : भाग १—इन्द्र विद्यावाचस्पति : १९५४

७. आर्य समाज का इतिहास : भाग २—इन्द्र विद्यावाचस्पति : १९५४

८. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना—डा० शैलकुमारी : १९५१

९. कलाकार प्रेमचन्द—डा० रामरतन भटनागर : १९५१

१०. कलम का सिपाही—श्री अमृतराय : १९६२

११. कलम का मजदूर—मदन गोपाल : १९६५

१२. कांग्रेस का इतिहास : भाग १—डा० पट्टाभि सीतारमैया : १९४८

१३. कांग्रेस का इतिहास : भाग २—डा० पट्टाभि सीतारमैया : १९४८

१४. कांग्रेस का इतिहास : भाग ३—डा० पट्टाभि सीतारमैया : १९४८

१५. गांधी विचार दोहन—किशोरी लाल घ० मशरूवाला (अनुवाद : श्री आनन्दवर्धन) : १९५१

१६. छांदोग्य उपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर

१७. नया साहित्य नया प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी : १९५५

१८. नारी और समाज—चिरंजी लाल पाराशर : १९६१

१९. प्रेमचन्द और उनका युग—डा० रामविलास शर्मा : १९५५

२०. प्रेमचन्द एक विवेचन—डा० इन्द्रनाथ मदान :

२१. प्रेमचन्द एक अध्ययन—प्रो० रामरतन भटनागर :

२२. प्रेमचन्द चिन्तन और कला—डा० इन्द्रनाथ मदान :

२३. प्रेमचन्द और गोर्की—सं० शचीरानी गुर्टू : १९५५

२४. प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व—हंसराज रहबर : १९५१

२५. प्रेमचन्द कृतियाँ और कला—सम्पादक प्रेमनारायण टंडन : १९४९

२६. प्रेमचन्द और गांधीवाद—रामदीन गुप्त : १९६१

२७. प्रेमचन्द घर में—शिवरानी देवी : १९५६
२८. प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन—नन्ददुलारे वाजपेयी : १९५२
२९. प्रेमचन्द के नारी पात्र—ओम अवस्थी : १९६२
३०. प्रेमचन्द का नारी चित्रण—डा० गीतालाल : १९६५
३१. प्रेमचन्द—डा० त्रिलोकी नाथ दीक्षित : १९५२
३२. प्रेमचन्द की सम स्मृति (चयन)—अमृत राय : १९६९
३३. विश्व इतिहास की झलक—जवाहर लाल नेहरू : १९६२
३४. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन—परमात्मा शरण : १९६१
३५. भारतीय अर्थशास्त्र—जथार और वेरी : [illegible]
३६. भारत दुर्दशा : भारतेन्दु : [illegible]
३७. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश—श्री स्वामी सत्यानन्दजी महाराज : १९६४

प्रेमचन्द साहित्य

३८. वरदान
३९. सेवासदन
४०. प्रेमाश्रम
४१. रंगभूमि
४२. कायाकल्प
४३. निर्मला
४४. प्रतिज्ञा
४५. गबन
४६. कर्मभूमि
४७. गोदान
४८. मंगलसूत्र
४९. मंगलाचरण
५०. कुछ विचार
५१. साहित्य का उद्देश्य
५२. विविध प्रसंग : भाग १, भाग २, भाग ३
५३. चिट्ठी पत्री : भाग १, भाग २

पत्र-पत्रिकाएँ

५४. हंस—प्रेमचन्द स्मृति अंक।

५५. आलोचना—इतिहास विशेषांक।

५६. आलोचना—उपन्यास विशेषांक।

५७. चाँद—महिला विशेषांक।

५८. चाँद—माड़वारी विशेषांक।

५९. कल्याण—नारी अंक।

६०. सुधा।

६१. माधुरी।

६२. सरस्वती।

६३. वीणा।

६४. साहित्य।

६५. आज-कल—प्रेमचन्द अंक।

६६. लक्ष्मी।

———